प्रकाशक—
आगरा बुक स्टोर,
रावतपाड़ा, आगरा।

प्रथम संस्करण १९५६

मूल्य तीन रुपये

मुद्रक—
गुलाबचन्द अग्रवाल, बी० कॉम०,
अग्रवाल प्रेस, आगरा।

विषय-सूची

अध्याय १

सन् १९१९ के अधिनियम को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ

मांटेग्यु की घोषणा

सन् १९१९ के भारत-शासन अधिनियम को जन्म देने वाली परिस्थितियों में भारत-मंत्री श्री मांटेग्यु द्वारा ब्रिटिश लोक सभा के समक्ष की गई २० अगस्त सन् १९१७ की घोषणा का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने कहा, 'सम्राट् की सरकार की नीति, जिससे भारत सरकार भी पूर्णतः सहमत है, यह है कि भारतीयों को प्रशासन के प्रत्येक विभाग में अधिक से अधिक मान्यता दी जाये और ब्रिटिश साम्राज्य के एक अंग के रूप में देश में स्वशासित संस्थाएँ विकसित की जायँ ताकि उत्तरदायी शासन की क्रमशः स्थापना हो सके। इस नीति की प्रगति धीरे-धीरे होगी। ब्रिटिश संसद भारत सरकार की इस बात का निश्चय करेगी कि कब और कितना आगे बढ़ना आवश्यक है।' उन्होंने यह भी घोषणा की कि स्वयं वाइसराय और भारत-शासन के कर्मचारियों से सलाह लेने तथा देश की प्रतिनिधि-संस्थाओं एवं अन्य प्रमुख व्यक्तियों से भेंट करने के लिये, शीघ्र ही भारत आयेंगे। इस घोषणा से स्पष्ट हो गया कि भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना की नीति को धीरे-धीरे कार्यरूप दिया जायेगा और भारत सरकार तथा ब्रिटिश संसद इसका निश्चय करेंगी।[1]

घोषणा के कारण

इस घोषणा के अनेक कारण थे। विशेषकर, भारत की राजनैतिक परिस्थितियों ने भारत-मंत्री को ब्रिटिश सरकार की नीति प्रकट करने के लिये विवश कर दिया था। होम रूल आन्दोलन की प्रगति दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही थी और उसके कारण भारत की ब्रिटिश सरकार को एक विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था। हिन्दुओं और मुसलमानों ने सन् १९१६ में समझौता कर लिया था। क्रान्तिकारियों एवं आतंकवादियों की कार्यवाहियाँ विशेषकर बंगाल, पंजाब और महाराष्ट्र में तेजी से बढ़ रहीं थीं। अगस्त सन्

---

1 Report of the Indian Statutory Commission Vol I

१९१४ में ही बंगाल के एक आतंकवादी दल ने कलकत्ता में अनेक पिस्तौलें और अन्य अस्त्र-शस्त्र छीन लिये थे। ब्रिटिश सरकार को यह भी पता लग गया कि बंगाल के आतंकवादियों को जर्मनी के गुप्त दूतों के सम्पर्क के कारण प्रोत्साहन मिल रहा है।[1] यद्यपि ये क्रान्तिकारी अपने उद्देश्यों में अधिक सफल नहीं हो रहे थे क्योंकि सरकार ने उनकी योजनाओं का पता लगाकर अनेक नेताओं तथा अनेक कार्य कर्ताओं को बन्दी बना लिया था, तथापि उनका भयकर प्रभाव पूर्णत प्रकट होगया था। उन्होंने ब्रिटिश सरकार को यह जता दिया था कि भारत में वैधानिक सुधार आवश्यक हैं।

इन घटनाओं के साथ-साथ प्रथम महायुद्ध ने भारतीयों में आत्म सम्मान की एक नई भावना उत्पन्न कर दी थी। योरुप के युद्ध क्षेत्रों में भारतीय सैनिकों को पश्चिमी सैनिकों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ने का जो मौका मिला इससे उन्हें अपनी वीरता का परिचय मिल गया और उन्हें अपने देश के गौरव का आभास होने लगा। इसके अतिरिक्त युद्ध में मित्र-राष्ट्रों ने यह घोषणा की थी कि वे राष्ट्रों की आत्मीय-सत्ता की स्थापना के अधिकार के लिये लड़ रहे हैं। इससे भारतीयों में यह विश्वास उत्पन्न हो गया था कि अंग्रेज स्वय स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये युद्ध में भाग लेने के कारण भारत को उससे वंचित न रक्खेंगे। उन्हें पूर्ण आशा थी कि युद्ध की समाप्ति पर उन्हें स्वतन्त्रता का पुरस्कार मिलेगा। इसी समय रूस की क्रान्ति (सन् १९१७) से भारतीयों की राजनैतिक चेतना और भी बढ़ गई क्योंकि यह स्पष्ट रूप में निरकुशतावाद की हार थी। देश के इस वातावरण का ब्रिटिश सरकार पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

इसके अतिरिक्त सन् १९०९ के मार्ले-मिन्टो सुधारों के प्रति असन्तोष ने भी वैधानिक प्रगति की ओर एक नया कदम उठाना आवश्यक बना दिया। इन सुधारों ने देश में किसी नई नीति का सूत्रपात नहीं किया था। इनके द्वारा पिछली वैधानिक परिस्थिति में परिवर्तन अवश्य हो गया था परन्तु वह परिवर्तन ऐसा नहीं था जिससे भारतीयों को सन्तोष हो सके। स्वय लार्ड मार्ले ने यह स्वीकार किया था कि इस अधिनियम की धाराएँ भारतीयों को प्रतिनिधि सत्तात्मक राज्य की स्थापना की ओर ले जाने वाली नहीं हैं।[2] परन्तु फिर भी भारत के कुल उत्साही राजनीतिज्ञों ने उसको प्रगतिशील मान कर अपना अत्यधिक आशावादी होने का परिचय दिया। गोखले की सम्मति में सन् १९०९ का भारत-शासन-अधिनियम ब्रिटिश नौकरशाही के स्वरूप में रूपभेद करने के लिये अवश्य प्रभावी था। उनको आशा थी कि इसके कार्यकरण में

1 Report on Indian Constitutional Reforms.
2 Ibid

वित (Finance) पर भारत-सरकार के नियन्त्रण में कौंसिलों के तर्क-वितर्कों को अधिक महत्वपूर्ण स्थान मिल जायगा और किसी प्रान्त में ऐसे नियम नहीं बन सकेंगे जिनको वहाँ की कौंसिलों के गैर सरकारी सदस्यों का बहुमत न प्राप्त हो अथवा जो निर्वाचित व्यक्तियों के प्रभाव से युक्त हों। किन्तु कुछ ही दिनों बाद इन आशावादी राजनीतिज्ञों का भ्रम दूर हो गया और उन्होंने अनुभव किया कि उनकी आशाएँ कितनी निराधार थीं। कहने का तात्पर्य यह है कि मार्ले मिन्टो सुधार गोखले जैसे उदारवादी नेता को भी सतुष्ट न कर सके। इसके भी कई कारण थे। प्रथम यह कि वाइसराय की व्यवस्थापिका सभा (Imperial Legislative Council) में सरकारी सदस्यों का बहुमत रखा गया था जिसके कारण किसी विषय पर बहस में निर्णय उन्हीं के हाथों में रहता था। अन्य व्यवस्थापिका सभाओं में भी, गैर-सरकारी सदस्यों की अपेक्षतम अधिक संख्या में अनुपस्थिति उनके महत्व को और भी कम कर देती थी। सरकारी सदस्य एक-मत होकर कार्य करते थे और केन्द्रीय सरकार के पक्ष में अपनी राय देते थे। गैर-सरकारी सदस्यों में एकमत नहीं था। इसलिये उनका प्रभाव अधिक नहीं था। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी सदस्यता बेकार थी। वे ऐसे विधेयकों में रूपभेद करा लेते थे जो अंग्रेजी सरकार के दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण नहीं होते थे अथवा जिनका सम्बन्ध देश की रक्षा, सेना इत्यादि से नहीं होता था। इसके अतिरिक्त, इन सुधारों से न तो प्रान्तीय प्रशासन में केन्द्रीय सरकार का हस्तक्षेप कम हुआ और न उच्च सरकारी पदों पर भारतीयों की नियुक्ति की संख्या बढ़ाई गई। केन्द्रीय सरकार यथापूर्व ब्रिटिश संसद के लिये उत्तरदायी थी। अतः वह प्रान्तीय प्रशासन से अपना आधिपत्य हटाना नहीं चाहती थी। इस अधिनियम ने निर्वाचन की पद्धति के लिये भी ठीक व्यवस्था नहीं की। विभिन्न जातियों के लिये पृथक् प्रतिनिधित्व और सीटों के आरक्षण का आयोजन किया गया। व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों के निर्वाचन के लिये प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व का आधार नहीं रखा गया। स्थानीय संस्थाओं के गैर-सरकारी सदस्य प्रान्तीय कौंसिलों के लिये सदस्य चुनते थे और इस प्रकार चुने हुए सदस्य वाइसराय की व्यवस्थापिका सभा के लिये सदस्य चुनते थे। स्पष्ट है कि इस विधि से केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा के सदस्यों का निर्वाचन दोहरी-अप्रत्यक्ष-निर्वाचन-पद्धति से होता था।[1]

सारांश यह है कि सन् १६०६ के अधिनियम की धाराएँ भारतीयों को

---

1. G. N. Singh ; Landmarks in Indian Constitutional and National Development

सतुष्ट करने के लिये अपर्याप्त थीं युद्ध की चिन्ताजनक परिस्थिति के कारण उनको प्रसन्न रखना भी आवश्यक था। इसी आवश्यकता ने माटेग्यु को उपर्युक्त घोषणा के लिये प्रेरित किया। परन्तु केवल राजनैतिक परिस्थिति को ही इस घोषणा का कारण समझना उचित नहीं है। माटेग्यु महोदय की भारतीय समस्याओं के प्रति सहानुभूति भी उतनी ही महत्वपूर्ण थी।

माटेग्यु और भारत

भारत-मन्त्री नियुक्त होने से पूर्व माटेग्यु, लार्ड मार्ले तथा क्रयु (Crewe) के अधीन, ससदीय भारत उप-मन्त्री (Parliamentary Under-Secretary for India) के पद पर कार्य कर चुके थे। इस पद के कार्य-काल में उन्हें भारतीय समस्याओं के प्रति कुछ रुचि उत्पन्न हो गई थी और उन्होंने उस समय की अनेक समस्याओं को सुलझाने का प्रयास भी किया था। सन् १९१२ में उन्होंने भारत की यात्रा की और भारतीयों को अपने व्यक्तित्व से अत्यत प्रभावित किया। इन्होंने भारत सरकार से सिफारिश की कि भारतीयों को उच्च सैनिक पदों पर नियुक्त किया जाये। एनीबेसेंट तथा उनके दो साथी अरन्डेल और वाडिया को बन्दीगृह से उन्हीं के आदेश से मुक्त किया गया था।[1] मैसोपोटामियाँ रिपोर्ट पर ब्रिटिश लोक-सभा के समक्ष भाषण देते हुए उन्होंने प्रकट किया कि भारत सरकार आधुनिक काल की परिस्थितियों के लिये अयोग्य है और उसमें सुधार की सभावना नहीं है।[2] श्री चेम्बरलेन के पद-त्याग के पश्चात् माटेग्यु भारत-मंत्री नियुक्त हुए। भारतीयों को उनके सद्स्वभाव पर विश्वास था। उनको आशा थी कि भारत के प्रति उनका व्यवहार अन्य पूर्व-गामी अधिकारियों के समान नहीं होगा।

२० अगस्त सन् १९१७ की घोषणा में उन्होंने ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना के उद्देश्य को प्रकट कर भारतीयों की आशा को और भी बढ़ा दिया। यह घोषणा अंग्रेजों की पिछली नीति के विपरीत थी, क्योंकि इससे पहिले तो वे भारत के प्रति अपनी नीति घोषित ही नहीं करते थे। इस कारण लोगों ने यह समझा कि इसको इसके सही-अर्थों में ही प्रयुक्त किया जायेगा। भारतीयों पर इसका जो प्रभाव पड़ा वह श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के शब्दों से स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने लिखा है कि इस घोषणा का प्रभाव लोगों पर विभिन्न प्रकार से पड़ा।

---

1 C. Y Chintamani Indian Politics Since The Mutiny

2 Indian Review . August, 1917

उन लोगों में, जिन्होंने अँग्रेजों में अपना विश्वास अभी पूर्ण रूप से नहीं खोया था, इस घोषणा से सुधार की आशा उदय हुई। अस्थिर विचारों वाले व्यक्तियों में इससे केवल संदेह उत्पन्न हुआ और अंग्रेजों में विश्वास न रखने वाले लोगों में इससे उनके अविश्वास की मात्रा और भी बढ़ गई।[1]

भारतीयों पर इस घोषणा का चाहे जो प्रभाव पड़ा हो माण्टेग्यु इसको कार्य रूप देने के विचार से भारतीय नेताओं और भारत-शासन के कर्मचारियों के परामर्श से सुधार की नई योजना बनाने के लिये, भारत आये। उनके साथ सर विलियम ड्यूक, भूपेन्द्रनाथ वसु, और चार्ल्स रौबर्ट भी थे।[2] ६ नवम्बर सन् १९१७ को ये महानुभाव बम्बई पहुँचे और उसी दिन सीधे दिल्ली चले गये।[3] यहाँ आकर उन्होंने अपना कार्य आरम्भ कर दिया और इस सम्बन्ध में वे वाइसराय और गवर्नरों से मिले। भारतीयों में इन लोगों की यात्रा से बड़ा उत्साह उत्पन्न हो गया था, क्योंकि जब से ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत के शासन का उत्तरदायित्व सम्राट् को सौंप दिया था, उस समय से उनका कोई मंत्री पहिले कभी यहाँ नहीं आया था। अतः उनसे मिलने के लिये प्रतिनिधि-मंडल देहली पहुंचे और उनके लिये मान-पत्र भेजे गये।[4] लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी तथा एनी बेसेन्ट ने इन लोगों से अलग-अलग भेंट की: होम-रूल-लीग ने भी एक मान-पत्र भेंट किया जिसमें देश की स्वतन्त्रता पर विशेष जोर दिया गया। लीग तथा कांग्रेस के प्रमुख सदस्यों को अपने विचार स्वतन्त्रता-पूर्वक प्रकट करने का अवकाश दिया गया। देश के अन्य प्रतिनिधियों को भी यह अवसर प्राप्त हुआ कि वे वाइसराय तथा भारत-मंत्री के सम्मुख अपने विचार प्रकट कर सकें।[5] इस प्रकार लगभग ६ मास तक ये सदस्य भारत के लिये सुधार की योजना बनाने के लिये परिश्रम करते रहे।[7]

---

1. S. N. Banerjea : A Nation in Making
2. The Cambridge History of India Vol VI
3. The Indian Review . Nov , 1917
4. The Hindustan Review . Dec , 1917
5. Mrs Annie Besant's Address in the Calcutta Congress of 1917, from Congress Presidential Addresses, 2nd Series (1911-34), G A Natesan & Co. Publication.
6. Author's own book—The Muslim League, its History, Activities & Achievements.
7. C. Y. Chintamani . Indian Politics Since The Mutiny.

इन सदस्यों को पेश किये गये मान-पत्रों में मुस्लिम-लीग और कांग्रेस द्वारा दिया गया स्मृति-पत्र अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह दोनों का एक सम्मिलित प्रयत्न था। इस सम्बन्ध में यह बता देना आवश्यक है कि पहिले ही लार्ड चेम्सफोर्ड के शासन द्वारा भारत में सुधार करने का निश्चय ज्ञात होने पर व्यवस्थापिका सभा के १६ सदस्यों ने एक योजना तैयार करके प्रकाशित की थी।[1] इसी योजना के आधार पर कांग्रेस तथा लीग ने पृथक् प्रतिनिधित्व, प्रत्यक्ष निर्वाचन आदि की माँगों सहित एक सम्मिलित योजना प्रस्तुत की। परन्तु वैधानिक दृष्टिकोण से इस योजना में अनेक दोष थे। उदाहरणार्थ, यह प्रस्तावित किया गया था कि प्रान्तीय कार्य कारिणी में एक गवर्नर की व्यवस्था की जाये। उसकी सहायता के लिये एक कौंसिल नियुक्त की जाये जिसके आधे सदस्य व्यवस्थापिका सभा द्वारा चुने जायें और बाकी आधे भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य हों।[2] इसमें सदेह नहीं कि यदि इस योजना को कार्य रूप दिया जाता तो इससे अवश्य ही राजनैतिक अवरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती क्योंकि इसमे सरकार के साथ ऐसे व्यक्तियों को सयुक्त करने का आयोजन था जो भारत-मत्री तथा व्यवस्थापिक सभा दोनों के लिये उत्तरदायी होते और इस कारण उनमें एकमत होकर कार्य करने की स्थिति की सभावना नहीं थी।[3]

कांग्रेस और लीग का ये मान-पत्र २६ नवम्बर सन् १६१७ को प्रस्तुत किया गया। अन्य बातों के अतिरिक्त, इसमें भारतीयों की ओर से अगस्त सन् १६१७ की घोषणा के प्रति कृतज्ञता प्रकट की गई। यह निर्दिष्ट किया गया कि भारत की पराधीनता की स्थिति द्वारा उसके स्वाभिमान की भावना को बहुत ठेस पहुँचती है। अत यह प्रार्थना की गई कि भारत के अन्य उपनिवेशों के साथ समान स्तर प्रदान किया जाये। बीकानेर के महाराज, सर जेम्स मैस्टन, और सत्येन्द्र प्रसाद सिन्हा को राजकीय-युद्ध सम्मेलन (Imperial War Conference) तथा युद्ध-मन्त्रिमडल (War Cabinet) में सम्मिलित कर लेने पर सतोष प्रकट किया गया। उनके कार्य की सराहना की गई परन्तु इस बात पर खेद प्रदर्शित किया गया कि भारत के सुधार की योजना पर विचार करने वाले वे व्यक्ति भारतीय जनता द्वारा निर्वाचित

---

1 Memorandum Submitted to the Indian Statutory Commission by the Government of India, Volume IV.

2 Report on Indian Constitutional Reforms

3. Ibid.

नहीं थे। अतः वे भारतीयों की भावना को पूर्णतः स्पष्ट नहीं करते थे। भारतीयों की इच्छा थी कि प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने गये व्यक्तियों को यह कार्य सौंपा जाय परन्तु यदि यह माँग स्वीकृत न हो तो कम से कम अप्रत्यक्ष निर्वाचन की अनुमति अवश्य दे दी जाये।[1]

मान्ट-फोर्ड योजना—

मान पत्रों एवं प्रतिनिधि-मंडलों से निबटारे के पश्चात् मान्ट-फोर्ड प्रस्ताव प्रकाशित हुए। अप्रैल मास की २२ तारीख को शिमला में इन पुस्तकों पर हस्ताक्षर किये गये। इनमें यह चार मुख्य सिफारिशें की गई :—

(१) स्थानीय संस्थाओं को बाहरी हस्तक्षेप से यथा सम्भव मुक्त रखा जाय और उन पर जनता का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित किया जाय।

(२) उत्तरदायी शासन के क्रमिक विकास के लिये सबसे पहिला कदम प्रान्तों में उठाया जाये। आरम्भ में प्रान्तीय शासनों को आंशिक उत्तरदायित्व दिया जाये और जब स्थिति इस योग्य हो तो पूर्ण उत्तरदायित्व दे दिया जाये। इसका अर्थ यह था कि उनको कानून, प्रशासन और वित्त सम्बन्धी क्षेत्रों में अधिकाधिक ऐसी स्वतन्त्रता दे दी जाती जिससे भारत-शासन द्वारा अपने उत्तरदायित्वों को वहन करने में कोई बाधा नहीं होती।

(३) भारत-शासन का पूर्ण उत्तरदायित्व ब्रिटिश संसद के प्रति होना चाहिये। केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा की सदस्यता बढ़ा दी जाये और उसमें जनता का प्रतिनिधित्व अधिक विस्तृत कर दिया जाये जिससे उसे शासन पर नियन्त्रण करने के अवसर अधिक मिल सकें।

(४) ब्रिटिश-संसद और भारत-मन्त्री का भारत के केन्द्रीय एवं प्रान्तीय शासन पर नियन्त्रण क्रमशः कम कर दिया जाये।[2]

मान्टफोर्ड प्रस्ताव स्थानीय संस्थाओं, प्रान्तीय शासन, इण्डिया आफिस देशी राज्यों, सिविल सर्विस, सेना, उद्योग, पाठ्य, शुल्क (Tariff), गैर-सरकारी जातियों, योरोपियन एवं भारतीयों के पारस्परिक सम्बन्ध सुधारने के बारे में बड़े महत्वपूर्ण थे। इनमें उपर्युक्त चार सिफारिशों के अतिरिक्त प्रान्तों को

1 Pattabhi Sitaramayya : The History of the Indian National Congress.

2. Report on Indian Constitutional Reforms. Part II (The Proposals)

ाासनिक एव वित्तीय अधिकार देने का भी आयोजन था। इनमें साम्प्रदायिक
िर्वाचन को भी स्थान दिया गया था। यह विचार दिया गया कि पृथक् निर्वा-
न-क्षेत्र की व्यवस्था इतिहास के सदेशों के प्रतिकूल है[1] क्योंकि इससे सदा जाति
भेद की भावना ही सम्पन्न होती है। परन्तु कठिनाई यह थी कि सन् १६०६
ही लार्ड मिन्टो ने पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग को स्वीकार कर लिया था
ौर सन् १६०६ के भारत शासन अधिनियम में इसका आयोजन भी कर
दया गया था, सन् १६१६ के लखनऊ के समझौते में कांग्रेस ने मुस्लिम-लीग
ी इस माँग को पूर्णतः स्वीकार कर लिया था। अत. मान्ट-फोर्ड प्रस्तावों
ें भी मुसलमानों की पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग की उपेक्षा न की जा
कती। इस विषय में यह तर्क रक्खा गया कि यदि मुसलमानों की यह
ाँग पूरी नहीं की जायेगी तो एक ऐसी जाति की स्वामि-भक्ति हाथ से
ाती रहेगी जिसने युद्ध की कठिन परिस्थिति में अँग्रेजों का बड़ा साथ
दिया था।

कांग्रेस के क्षेत्र में मान्ट-फोर्ड योजना की विभिन्न प्रकार से प्रतिक्रिया हुई।
उग्र दल वाले इन सुधारों से शान्त नहीं हुए परन्तु नरम दल के नेता इनसे
सतुष्ट थे। इसलिये, उन्होंने इन प्रस्तावों पर विचार करने के उद्देश्य से होने
वाले कांग्रेस के विशेष सम्मेलन में भाग नहीं लिया, क्योंकि उन्हें विश्वास
था कि इसमें उग्रदल वालों का प्रभाव अधिक रहेगा। उदारवादी नेताओं
ने १ नवम्बर सन् १६१८ को अपनी अलग बैठक की और इस प्रकार उदार
सघ को जन्म दिया। उस समय किसी भी उदारवादी के मस्तिष्क में यह
बात नहीं थी वे कांग्रेस से पृथक हो जायँगे। परन्तु परिस्थितियों ने बाद में
अस्थायी वियोग को स्थायी विच्छेद का रूप दे दिया।[2]

यह उचित ही है कि इस स्थान पर उदारवादी एव उग्रवादी दलों के
प्रमुख व्यक्तियों के इस योजना के प्रति विचारों पर दृष्टिपात कर लिया जाये।
सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की सम्मति में यह योजना उत्तरदायी-शासन के मार्ग में एक
प्रगतिशील कदम के रूप में थी। श्रीनिवास शास्त्री के अनुसार ये योजना
अपने निर्माताओं की बुद्धिमत्ता की परिचायक थी और भारतीयों द्वारा
सहयोग के योग्य थी। श्री नारायन चन्द्रावाकर, सर दिनशा वाचा, पडित
मदन मोहन मालवीय, तेज बहादुर सप्रू, श्री चिन्तामणि आदि महानुभावों

---

1 Report on Indian Constitutional Reforms : Part II (The Proposals)

2 C Y Chintamani Indian Politics Since the Mutiny

ने इस योजना का स्वागत किया क्योंकि उनकी सम्मति में इसको ठुकराने की कोई वजह नहीं थी। उग्रवादी नेता, एनी बैसेन्ट, बाल गंगाधर तिलक, सुब्रामनियम अय्यर, श्री बी० पी० वाडिया, जहांगीर बी० पेटिट आदि इस योजना के विरोधी थे। विशेषकर तिलक इससे बहुत असन्तुष्ट थे और उन्होंने लोगों से इसके विरुद्ध कांग्रेस के आदर्शों पर दृढतापूर्वक जमे रहने के लिये प्रार्थना की। एनी बैसेन्ट इसको अपर्याप्त समझती थीं। डा० अय्यर के विचार में इन प्रस्तावों में भारतीयों की मांगों को रुपये में केवल १ आने के बराबर स्वीकार किया गया था। जहांगीर बी० पेटिट की सम्मति में ये प्रस्ताव अवरोधित गति से युक्त थे।[1]

पूर्व कालीन वैधानिक योजनाएँ :—

गोखले का इच्छापत्र—यह स्मरणीय है कि मान्टफोर्ड योजना भारत की राजनैतिक स्थिति में सुधार की प्रथम योजना नहीं थी। इससे पहिले भी कई योजनाएँ बन चुकी थीं। पर उनको कार्यरूप नहीं दिया गया था। इस योजना से पूर्व की वैधानिक योजनाओं में गोपाल कृष्ण गोखले के सुझावों का स्थान क्रमानुसार पहिले आता है। यह हम ऊपर बतला ही चुके हैं कि सन् १६०६ के अधिनियम के प्रति लोगों में असन्तोष की भावना काफी बढ़ी हुई थी। अत बम्बई के गवर्नर, लार्ड वैलिंगडन ने सन् १६१५ में गोखले से एक नई वैधानिक योजना तैयार करने को कहा। गोखले उदारवादी दल के प्रमुख नेताओं में से थे। उन्होंने यह कार्य सहर्ष स्वीकार कर लिया और एक योजना प्रकाशित की जो उन्हीं के नाम से 'गोखले का इच्छा-पत्र' (Gokhale's Testament) कहलाता है।

पहिले यह बता देना आवश्यक है कि उदारवादी होने के कारण गोखले अंग्रेजों से अधिक सुविधाएँ प्राप्त करने की आशा नहीं करते थे। उनका विचार यह था कि भारतीयों में स्व-शासन की क्षमता उत्पन्न हो जाने पर अंग्रेज स्वयं ही उनको राजनैतिक अधिकार प्रदान कर देंगे। अतः वे केन्द्रीय सरकार के संगठन में एक विशाल परिवर्तन की कल्पना नहीं करते थे। इसी कारण अपनी योजना में उन्होंने विशेषकर प्रान्तीय शासनों में ही सुधार करने की चर्चा की। वास्तव में हमें इस सत्य की उपेक्षा भी नहीं करना चाहिये कि गोखले ब्रिटिश सरकार की तात्कालिक मनोवृत्ति का अनुमान करने में असमर्थ थे। भारत-मंत्री ने उत्तरदायी शासन की आशा देन

1. The Indian Review : July, 1918

वाली घोषणा अगस्त सन् १६१७ में की थी और गोखले ने अपनी योजना का निर्माण इससे दो वर्ष पूर्व किया था। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि वे अपनी योजना में अधिक प्रगतिशील कदमों की कल्पना न कर सकें, क्योंकि उपर्युक्त घोषणा से पहिले अंग्रेजों ने भारत के प्रति अपनी नीति को घोषित ही नहीं किया था।'

इस योजना में यह सिफारिश की गई थी कि प्रत्येक प्रान्त में ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त किया हुआ एक गवर्नर रहे और उसकी सहायता के लिये ६ सदस्यों की एक कौंसिल हो, जिसके आधे सदस्य अंग्रेज और आधे सदस्य भारतीय हों। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक प्रान्त में व्यवस्थापिका सभा की स्थापना का सुझाव भी इसमें सम्मिलित किया गया। यह विचार था कि इन सभाओं के सदस्यों की संख्या ७५ से लेकर १०० तक होगी और वे अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किए जॉयगे। यह ध्यान में रखने की बात है कि मान्ट-फोर्ड योजना में अप्रत्यक्ष निर्वाचन को स्वीकार कर लिया गया था। इस योजना में व्यवस्थापिका सभाओं को कानून, वित्त आदि अन्य विषयों पर पूर्ण स्वतन्त्रता देने का अभिस्ताव किया गया था। इसके अनुसार व्यवस्थापिका सभा द्वारा बनाये गए ऐसे सभी कानून कार्यपालिका के लिये मान्य थे जिनको गवर्नर ने अपने विशेषाधिकार द्वारा नामजूर न किया हो। परन्तु गवर्नर के अभिषेध का यह अर्थ नहीं था कि कार्यपालिका के सदस्यों को व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका सभा के बहुमत पर निर्भर रक्खा जाये।

इस योजना की सफलता के लिये गोखले ने यह सुझाव भी सम्मिलित किया कि प्रत्येक जिले में जिलाधीश की सहायता के लिये एक छोटी सी कौंसिल नियुक्त की जाये जिसके आधे सदस्य निर्वाचित और आधे निर्देशित हों। जिलाधीशों की शक्तियों के क्षेत्र को व्यापक बनाने के लिये कमिश्नरियों को तोड़ देने की सिफारिश की गई थी। ग्राम पञ्चायतों को महत्वपूर्ण बनाने की सिफारिश द्वारा स्थानीय स्व-शासन के क्षेत्र को विस्तृत बनाने का प्रस्ताव किया गया था। गोखले ने केन्द्रीय सरकार में भी कुछ परिवर्तन करने के लिये सुझाव दिये थे। उनकी योजना थी कि केन्द्र में ६ सदस्यों की एक कार्य-पालिका बनाई जाये जिसके कम से कम दो सदस्य भारतीय हों। व्यवस्थापिका सभा के लिये उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि इसकी सदस्य संख्या १०० हो, इसकी शक्तियाँ बढ़ा दी जायें और इसमें सरकारी बहुमत रहने दिया जाय। वे चाहते थे कि इण्डिया कौंसिल को

समाप्त कर दिया जाय और भारत मन्त्री का नियन्त्रण भारत-सरकार पर से कम कर दिया जाये। इसके अतिरिक्त, उनकी योजना में यह भी सिफारिश थी कि भारतीयों को स्थल एवं जल सेना में उच्च पदों पर नियुक्त किया जाये। साथ ही, वे चाहते थे कि जर्मनी द्वारा अधिकृत पूर्वी अफ्रीका के जीत लिये जाने पर वहाँ पर भारतीयों के लिये एक उपनिवेश बनाया जाये।

गोखले की योजना उदारवादियों की योजना थी। अतः सन् १६१६ के भारत-शासन अधिनियम को जन्म देने में इसका स्थान महत्वपूर्ण नहीं था। यह कारण था कि गोखले को अंग्रेजों के वैधानिक दृष्टिकोण का ज्ञान नहीं था और इसलिये अपनी योजना में वे इस प्रकार के उपबन्ध समाविष्ट नहीं कर सके जो बाद में मान्ट-फोर्ड प्रस्तावों के रूप में आये। उनकी सम्मति में उस समय केन्द्रीय सरकार की स्थिति में अधिक परिवर्तन करना संभव नहीं था। इसी लिये प्रान्तों में सुधार करने पर उन्होंने अधिक जोर दिया।[1]

ड्यूक योजना :

ड्यूक महोदय की योजना का स्थान सन् १६१६ के भारत शासन अधिनियम के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नवम्बर सन् १६१७ में ड्यूक, मांटेग्यु के साथ भारत आये थे। इसके पहिले वे भारतीय समस्याओं पर विचार करने के उद्देश्य से बने हुए 'गोल-मेज दल' (Round Table Group) के प्रमुख सदस्यों में से रह चुके थे। इस दल के जन्मदाता लायनिल कर्टिस (Lionel Curtis) थे। इसके सदस्य भारत में सभावित सुधारों पर वाद विवाद करते थे और उन्होंने 'राउन्ड टेबिल' नामक पत्रिका भी प्रकाशित की थी। ड्यूक का विचार था कि प्रान्तीय कार्य-पालिकाओं में भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ा देने पर गर्वनरों की स्थिति दुर्बल हो जायेगी और इसी कारण वे व्यवस्थापिका-सभाओं की सदस्य संख्या बढ़ाने के पक्ष में नहीं थे क्योंकि ऐसा करने से सरकारी सदस्यों की संख्या कम हो जाना स्वाभाविक था और उनकी संख्या और अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती थी। यह सब सोच विचार कर ड्यूक ने ही द्वैध-शासन प्रणाली की स्थापना का सुझाव दिया था।

ड्यूक को यह निश्चय हो गया था कि सन् १६०६ के अधिनियम के अन्तर्गत भारतीयों की विशेष प्रगति सम्भव नहीं है। इसलिये उन्होंने द्वैध

---

1. G N. Singh : Landmarks in Indian Constitutional and National Development

शासन की स्थापना का प्रस्ताव किया। उनका मत था कि भारतीय जनता के प्रतिनिधियों को महत्वपूर्ण राज्य विभागों का शासन-प्रबन्ध सौंपना उचित नहीं है। उदाहरणार्थ, पुलिस विभाग को उनकी सम्मति में जनता के हाथों में नहीं दिया जा सकता था क्योंकि इसके शासन पर अंग्रेजी राज्य निर्भर था। पिछड़ी हुई एवं असभ्य जातियों द्वारा प्रवसित प्रदेशों पर भी अंग्रेजों का शासन आवश्यक था क्योंकि वे निरकुशता से ही वश में रक्खी जा सकती थीं। परन्तु उन्होंने यह अनुभव किया कि भारत में उत्तरदायी शासन की क्रमशः स्थापना करने के लिये भारतीयों को राजकार्य में सम्मिलित करना अवश्य आरम्भ कर देना चाहिये। अतः उन्होंने यह सुझाव दिया कि भारतीयों को ऐसे विषयों पर अधिकार दे दिया जाये जिनके हस्तान्तरण द्वारा ब्रिटिश सरकार और भारतीयों को कोई कठिनाई न हो सके। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ यह था कि प्रत्येक प्रान्त में राजकीय विषयों को इस प्रकार विभाजित किया जाये जिनमें से कुछ के लिये भारतीयों के प्रतिनिधि व्यवस्थापिका-सभा के लिये उत्तरदायी हों और शेष के लिये भारत-शासन इंग्लैंड के नागरिकों के प्रति उत्तरदायी हो।

यह योजना समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुई। भारत के वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने कर्टिस तथा ड्यूक के साथियों से इसकी जानकारी प्राप्त की। स्वयं कर्टिस महोदय से उन्होंने इस योजना-पत्र को मँगवाया। ऐसी स्थिति में यह मान लेना सही है कि इस योजना का सन् १९१९ के भारत-शासन अधिनियम पर विशेष प्रभाव पड़ा और इसमें से ही द्वैध-शासन प्रणाली का विचार १९१९ के अधिनियम में समाविष्ट किया गया।[1]

१९ सदस्यों की योजना—

सन् १९१९ के भारत-शासन अधिनियम के बनने के समय केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के १९ सदस्यों द्वारा निर्मित योजना का भी उस पर अधिक प्रभाव पड़ा। यह जन-साधारण का अनुमान था कि युद्ध के समाप्त हो जाने के पश्चात् शीघ्र ही ब्रिटिश संसद भारत-शासन में सुधार की एक नई योजना बनाएगी। सौभाग्यवश, लार्ड चेम्सफोर्ड ने भी अपना रुख इस ओर प्रदर्शित किया तो केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के १९ निर्वाचित सदस्यों ने अपने विचार इस सम्बन्ध में निर्दिष्ट करने का निश्चय किया। उन्होंने एक योजना बना कर

---

1 G. N. Singh Landmarks in Indian Constitutional and National Development

सन् १६१८ में वाइसराय के सम्मुख पेश की और यह इतिहास में "१६ सदस्यों की योजना" के नाम से प्रसिद्ध है।

इस योजना के अनुसार ब्रिटिश सरकार से शिफारिश की गई थी कि जनता को राजकार्यों में भाग लेने की वास्तविक शक्ति दे दी जाये और उन पर से अस्त्र-शस्त्र के उपयोग, सेवा एव प्रशासन में उच्च पदों पर नियुक्ति आदि के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध हटा लिये जायँ क्योंकि वे स्पष्टत. अंग्रेजों द्वारा भारतीयों के प्रति अविश्वास के सूचक थे। वैधानिक सुधारों के सम्बन्ध में, ये माँगें पेश की गईं कि केन्द्रीय एव प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं के कम से कम आधे सदस्य भारतीय होने चाहिये और उनका निर्वाचन भी भारतीय जनता द्वारा होना चाहिये; सभी व्यवस्थापिका-सभाओं में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होना चाहिये; मताधिकार व्यापक होना चाहिये ताकि शासन का स्वरूप यथासम्भव प्रजातान्त्रिक हो जाये और व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों की सख्या बढ़ा दी जाये। इस योजना का लक्ष्य था कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा की सदस्य संख्या कम से कम १५० और प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं की कम से कम १०० कर दी जाये, यद्यपि छोटे प्रान्तों में इसकी सख्या ७५ भी रक्खी जा सकती थी। यह सिफारिश की गई कि व्यवस्थापिका सभाओं को कानून बनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाये और उनको धन-विधेयकों सम्बन्धी अधिकारों से वञ्चित नहीं किया जाये। इस प्रकार इस योजना द्वारा प्रान्तों में पूर्ण स्वराज्य की स्थापना की कल्पना की गई थी। अल्प-सख्यक जातियों के लिये भी स्थिति के अनुसार हितों की रक्षा का प्रस्ताव किया गया था।

इनके अतिरिक्त, इस योजना में यह भी सिफारिश की गई थी कि सपरिषद् गवर्नर-जनरल (Governor-General-in-Council) तथा सपरिषद् गवर्नर द्वारा विधेयकों पर अभिषेध के अधिकार को सीमित कर दिया जाये। भारत-मन्त्री की कौंसिल को भग करने का प्रस्ताव किया गया और यह प्रार्थना की गई कि उसकी स्थिति को उपनिवेशों के मन्त्री के समानान्तर कर दिया जाये। कौंसिल के स्थान पर इस योजना के निर्माता भारत-मंत्री की सहायता के लिये स्थायी उप-मन्त्रियों की नियुक्ति चाहते थे जिनमें एक का भारतीय होना वाञ्छनीय था। इन सुझावों के अतिरिक्त इस योजना में योरुपियनों और भारतीयों के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित रखने का अभिस्ताव भी किया गया था।[1]

---

1. G. N Singh Landmarks in Indian Constitutional and National Development.

अध्याय २

सन् १९१९ का भारत-शासन-अधिनियम

सन् १६१६ का भारत-शासन-अधिनियम भारतीयों की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के मार्ग में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यद्यपि इसके उपबन्धों के निरीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक प्रजातान्त्रिक अधिनियम नहीं था फिर भी इसका महत्व कम नहीं है क्योंकि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत प्रथम बार भारतीयों को इस अधिनियम द्वारा शासन में भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त, इस अधिनियम ने राजनीति के क्षेत्रों में सुधार किया। केन्द्रीय शासन, प्रान्तीय-शासन, छोटे प्रान्त, पिछड़े हुए प्रदेश, भारत-मन्त्री इण्डिया कौंसिल, भारतीय सिविल सर्विस तथा देशी राज्य आदि शासन के सभी महत्वपूर्ण भागों में इस अधिनियम द्वारा सुधार हुआ। परन्तु इसका सबसे अधिक प्रभाव प्रान्तीय शासन के स्वरूप को परिवर्तित कर देने में दिखाई देता है।

प्रान्तीय शासन

केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों में विषयों का विभाजन—सन् १६१६ के भारत शासन अधिनियम की एक महत्वपूर्ण विशेषता राजकीय विषयों का विभाजन है जिसके अनुसार कुछ विषयों पर केन्द्रीय शासन को अधिकार दिया गया और कुछ पर प्रान्तीय शासनों को। प्रान्तीय शासन क्षेत्र का भी दो पृथक् भागों में विभाजन हुआ जिनमें से प्रत्येक का प्रबन्ध दो विभिन्न प्रकार के व्यक्ति-समूह के हाथों में सौंपा गया। प्रान्तीय विषय दो भागों—हस्तातरित (Transfered) और सरक्षित (Reserved)—में विभक्त कर दिये गए। हस्तातरित विषय वे थे, जिनका प्रशासन भारतीयों के हाथों में सौंपना उचित समझा गया था और जिनका प्रबन्ध गवर्नर व्यवस्थापिका-सभा के प्रति उत्तरदायी मन्त्रियों के परामर्श से करता था। सरक्षित विषयों का कार्य-भार देश के व्यक्तियों पर नहीं छोड़ा गया और इसका प्रशासन गवर्नर अपनी कार्यकारिणी तथा सलाहकारों की सहायता से करता था जो प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के प्रति उत्तरदायी नहीं होते थे।[1]

1. Arthur Berriedale Kieth A Constitutional History of India (1600-1935)

प्रशासनीय विषयों के इस प्रकार के वितरण से प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना की ओर यह पहिला कदम उठाया गया और इस दृष्टिकोण से अधिनियम ने केन्द्रीय शासन की अपेक्षा प्रान्तीय शासन में अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। परन्तु जैसा कि घोषणा में कहा जा चुका था, उत्तरदायी शासन की स्थापना धीरे-धीरे होनी थी। इसलिये यह आवश्यक हो गया कि प्रान्तों को सुपुर्द किये जाने वाले विषयों को निश्चित कर लिया जाये। ऐसे विषय जिनके लिये स्थानीय ज्ञान की आवश्यकता थी और वे विषय जो सामाजिक सेवा के क्षेत्र को विस्तृत बनाने वाले थे प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिये गए और जो विषय प्रान्तीय सूची में सम्मिलित नहीं किये गए उनका प्रशासन केन्द्रीय सरकार के हाथों में रखा गया। इस प्रकार वैदेशिक सम्बन्ध, देशी राज्यों के सम्बन्ध, सेना, रेलवे, डाक और तार, मुद्रा और टकसाल, नागरिक ऋण आदि विषय केन्द्रीय सरकार के पास रहे। प्रान्तीय सरकारों को स्थानीय स्व-शासन, शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक निर्माण कार्य, छोटी रेलें, सार्वजनिक-स्वास्थ्य, कृषि, व्यवसायों का विकास, आबकारी, मछली पकड़ने के केन्द्र, पशु चिकित्सा और सहकारी समितियाँ, दुर्भिक्ष पीड़ितों की सहायता, भू-राजस्व, सिंचाई, जंगलात, न्याय प्रशासन, पुलिस, जेल, कारखानों का निरीक्षण तथा श्रम-समस्याएँ आदि विषय सौंप दिये गए।[1]

विभाजन और संघात्मक सिद्धान्तों की प्रतिकूलता—सरदार गुरमुख निहालसिंह ने कहा है कि राजकीय विषयों का इस प्रकार का विभाजन अन्य संघात्मक विधानों के समान निश्चित नहीं था क्योंकि अधिनियम के अनुसार इस सम्बन्ध में कोई सन्देह होने पर कि, अमुक विषय केन्द्रीय है अथवा प्रान्तीय गवर्नर-जनरल को इसका निश्चय करने का अधिकार दिया गया था और उसका निर्णय अन्तिम रक्खा गया था। दूसरे, प्रान्तीय सरकारों को कुछ केन्द्रीय विषयों के सम्बन्ध में अधिकार दे दिये गये थे। इसके अतिरिक्त यह भी निर्दिष्ट कर दिया गया था कि केन्द्रीय शासन किसी भी समय किसी विषय विशेष को प्रान्तीय विषय घोषित कर सकता है। केन्द्र और प्रान्तों में विषय-विभाजन की एक विशेषता यह और थी कि कुछ विषयों को केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा की स्वीकृति पर छोड़ दिया गया था और इन विषयों पर प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभा, सपरिषद् गवर्नर-जनरल की अनुमति के बिना कानून नहीं बना सकती थी। इससे स्पष्ट है कि संघात्मक सरकारों में जिन सिद्धान्तों के

---

1. G. N. Singh : Landmarks in Indian Constitutional and National Development.

अनुसार केन्द्र तथा प्रान्तों में विषयों का विभाजन किया जाता है उनमें से एक भी महत्वपूर्ण सिद्धान्त सन् १६१६ के भारत-शासन अधिनियम का आधार नहीं था।

फिर भी, यह ध्यान में रखने की बात है कि इस अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय और प्रान्तीय विषयों का विभाजन भारतीयों के लिये एक नई बात थी। पूर्वकालीन वैधानिक घटनाक्रम में इस प्रकार का कदम नहीं उठाया गया था। यह इस अधिनियम की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी।

केन्द्र और प्रान्तों में राजस्व का विभाजन

केन्द्र और प्रान्तों में विषयों के इस विभाजन से यह आवश्यक हो गया कि दोनों के बीच आय के साधनों को भी निर्धारित कर दिया जाये। समस्या यह थी कि खर्चे के लिहाज़ से विषयों का विभाजन किस प्रकार किया जाये। यह आवश्यक समझा गया कि प्रान्तों के लिये आय के साधन अलग कर दिये जायें। माटेग्यु और चेम्सफोर्ड ने विभक्त शीर्षक (Divided Heads) के ढग को समाप्त करने तथा आय के साधनों को प्रान्तीय और केन्द्रीय शासन में बाँटने की सिफारिश की। परन्तु इस व्यवस्था से केन्द्रीय शासन की आय में कमी होने की समावना थी। इसलिये यह प्रस्ताव किया गया कि प्रान्तीय शासन उसको वार्षिक चन्दे देगा जो उसकी स्थिति सुधर जाने पर बन्द कर दिये जायेंगे। पार्लियामेन्ट ने यह सिफारिश स्वीकार कर ली परन्तु वित्तीय विषयों पर रिपोर्ट देने के लिये एक नई समिति नियुक्त कर दी गई जो इतिहास में मेस्टन समिति के नाम से प्रसिद्ध है। इसके सुझावों के आधार पर आय के साधनों को विभक्त करने के सम्बन्ध में नियम बनाये गए। विभक्त शीर्षकों की प्रणाली को समाप्त कर दिया गया और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन के बीच आय का विभाजन हो गया। भू-राजस्व, आबकारी, सिंचाई, जगलात, स्टाम्प, पजीयन शुल्क (Registration Fees) आदि की आय प्रान्तों की ओर आयकर, रेलें, डाक और तार, नमक और अफीम आदि से पैदा होने वाली आय केन्द्र को देना निश्चित किया गया।[1]

मेस्टन समिति का विचार था कि इस प्रकार के बँटवारे से केन्द्रीय सरकार के सन् १६२१-२२ के बजट में काफी कमी उत्पन्न हो जायगी। अतः इसने

1 G N. Singh Landmarks in Indian Constitutional and National Development

इस संभावित कमी को बंगाल, उत्तर प्रदेश, पंजाब, बर्मा, बिहार, उड़ीसा मध्य प्रदेश और आसाम के चन्दों से पूरा करने का प्रस्ताव किया। जिन आधारों पर इन चन्दों को लेने का आयोजन किया गया था, वे न्यायपूर्ण नहीं थे किन्तु सन्तोषजनक अवश्य थे ; क्योंकि समिति ने प्रान्तों की वित्तीय योग्यता को ध्यान में रखकर ही उनसे चन्दा लेने का सुझाव दिया था।

हस्तांतरित विषय—

विषयों को विभक्त करने तथा आय को केन्द्र तथा प्रान्तों के बीच निर्धारित करने के साथ-साथ योजना में यह भी प्रस्ताव था कि प्रान्तों में हस्तांतरित और संरक्षित विषय निर्दिष्ट कर दिये जायें। मांटेग्यु की २० अगस्त सन् १६१७ की घोषणा के अनुसार देश में क्रमशः उत्तरदायी शासन की स्थापना का वचन दिया गया था। इसको पूरा करने के लिये यह आवश्यक था कि कुछ विषयों को व्यवस्थापिका सभा में चुने मंत्रियों के उत्तर दायित्व पर छोड़ दिया जाये। ये विषय हस्तांतरित कहलाते हैं और इनका विवरण विकेन्द्रीकरण नियमों के अन्तर्गत नियम ६ की अनुसूची २ में दिया गया है। संक्षेप में ये विषय इस प्रकार हैं.—(१) स्थानीय स्व-शासन तथा चुंगी; इन में सुधार मंडल (Improvement Trust), जिला बोर्ड आदि अन्य स्थानीय संस्थाओं के कार्य भी सम्मिलित थे। (२) चिकित्सा प्रशासन, जिसमें अस्पताल, दवाखानों और चिकित्सा-सम्बन्धी शिक्षा देने का कार्य भी संयुक्त था। (३) सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई (परन्तु संक्रामक रोगों के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार के नियम मान्य हों), (४) भारतवर्ष में तीर्थ यात्राएँ, (५) शिक्षा-इनमें ऐंग्लो इंडियनों और यूरोपियनों की शिक्षा को केवल बर्मा में हस्तांतरित विषय रक्खा गया। बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय और अलीगढ़ मुस्लिम विश्व विद्यालय आदि का प्रबन्ध केन्द्र के हाथों में रहा और देशी राज्यों के कुछ कालेज एवं सैनिक शिक्षण केन्द्र आदि भी प्रान्तीय संरक्षण से मुक्त रहे, (६) सार्वजनिक कार्य-जिनमें प्रान्तों की सरकारी इमारतों का बनवाना और उनकी मरम्मत करवाना तथा ऐतिहासिक स्मारक-भवनों इत्यादि की देख-भाल करना भी सम्मिलित थे। सड़कों, पुल, घाट, सुरंग आदि का बनवाना, नगर सभा के क्षेत्र में ट्राम गाड़ियों, छोटी रेलों (Light and Feeder Railways) का प्रबन्ध करना भी इस विषय में शामिल थे। आसाम में सार्वजनिक कार्यों का विषय हस्तांतरित नहीं था। (७) कृषि—इसमें गवेषणालयों और परीक्षात्मक

तथा प्रदर्शन फार्मों का प्रबन्ध सम्मिलित था। (८) पशु-चिकित्सा, जिसमें पशु-चिकित्सा की शिक्षा भी सम्मिलित थी। (९) मछली पकड़ने के केन्द्र, (१०) सहकारी समितियाँ, (११) जगलात—इनका प्रबन्ध केवल बम्बई और बर्मा में हस्तातरित विषय था। (१२) आबकारी—इसमें शराब और मादक द्रव्यों पर कर लगाना और अनुज्ञापन प्रदान करना भी सम्मिलित थे। (१३) करणपत्रों और लेख-पत्रों का पजीयन (Registration of deeds and Documents)—इनका प्रशासन केन्द्रीय नियमों के अधीन था। (१४) जन्म, मृत्यु एव विवाहों का पजीयन—यह विषय आंशिक रूप में केन्द्रीय नियमों के अधीन था, (१५) उद्योगों का विकास (१६) भण्डार तथा लेखन-सामग्री जितनी कि हस्तातरित विषयों के लिये आवश्यक हो। दूसरे देशों से आने वाली सामग्री पर सपरिषद्-भारत-मत्री द्वारा बनाये गए नियमों को मान्य रक्खा गया। (१७) खाद्य-पदार्थों और अन्य वस्तुओं में मिलावट—इस सम्बन्ध में आयात तथा निर्यात पर केन्द्रीय नियमों को प्रधानता दी गई। (१८) प्रामाणिक भार और माप-दण्ड प्रभावों का स्तर केन्द्रीय सरकार के निश्चय पर निर्भर रखा गया। (१९) मवेशीखानों और पशु-अतिक्रम का प्रबन्ध (२०) पुस्तकालयों और अजायबघरों का प्रबन्ध—इनमें 'इण्डियन म्यूजियम', 'इम्पीरियल म्यूजियम' और कलकत्ता का 'विक्टोरिया मेमोरियल गार्डन' तथा प्राणिविद्या सम्बन्धी उद्यान केन्द्रीय सरकार की देख-रेख में रख दिये गए। (२१) केवल बर्मा में, शर्तों और जुए के लिये नियम बनाना, पशुओं के प्रति निर्दयता को रोकना, जगली पक्षियों तथा जानवरों की रक्षा और सिनेमा एव नाटकीय प्रदर्शनों का नियन्त्रण, हस्तातरित विषय बना दिये गए। परन्तु इस विषय में फिल्मों और प्रदर्शन के लिये केन्द्रीय नियमों को मान्यता दी गई।[1]

सरक्षित विषय—

सरक्षित विषय निम्नलिखित थे —(१) जल की पूर्ति—इसमें सिंचाई और नहरें, जलोत्सारण और बध, जल का सचयन और शक्ति-उत्पादन आदि सम्मिलित थे। प्रान्तों के बीच सम्बन्धों को निश्चित करने का अधिकार केन्द्र को दिया गया। (२) भू-राजस्व का प्रशासन जिसमें भू-राजस्व का निर्धारण और सग्रह, भूमिकर अभिलेखों का अनुपालन, भू-राजस्व के लिये पैमाइश,

---

1 A. C Banerjee · Indian Constitutional Documents Vol. III

अधिकारों के अभिलेखों का रक्षण, भू-सम्बन्धी नियमों की व्यवस्था, जमींदारों और कृषकों के बीच सम्बन्धों का निर्धारण, कर आदि का नियन्त्रण सम्मिलित थे। (३) दुर्भिक्ष पीड़ितों की सहायता (४) भूमि-अधिगमन—केन्द्रीय नियमों के अधीन; (५) न्याय का प्रशासन जिसमें न्यायालयों का सगठन इत्यादि प्रान्तीय विषय थे और हाई कोर्ट, चीफ कोर्ट का सगठन और न्यायिक आयोग की नियुक्ति इत्यादि केन्द्रीय शासन के हाथ में थे। (६) प्रान्तीय न्यायालय (७) महा-प्रशासक की नियुक्ति—यह विषय केन्द्रीय नियमों के अधीन था। (८) न्यायिक और अन्यायिक मुद्रांक शुल्क—केन्द्रीय नियमों के अधीन (९) खनिज-पदार्थों का विकास—इस विषय में भारत-मन्त्री द्वारा बनाये गए नियम मान्य थे। (१०) उत्पादन, पूर्ति और वितरण का नियन्त्रण (११) औद्योगिक कार्य जिसमें कारखानों का प्रबन्ध, श्रम-समस्याओं का सुलझाना तथा बिजली, भवनों और गैस आदि का प्रबन्ध सम्मिलित था। (१२) बन्दरगाहों का प्रबन्ध, केवल उनको छोड़ कर जो केन्द्रीय नियमों द्वारा बड़े बन्दरगाह घोषित कर दिये गए थे। (१३) आन्तर्देशिक जल मार्गों, जहाजों और नौचालन का नियन्त्रण (१४) पुलिस की देख-रेख—इसमें रेलवे पुलिस भी सम्मिलित थी, परन्तु रेल्वे पुलिस के अधिकार, क्षेत्र और खर्चे पर सपरिषद्-गवर्नर-जनरल के निर्णय को प्रधानता दी गई थी (१५) समाचार पत्रों का नियन्त्रण, पुस्तकों का प्रकाशन, मुद्रणालय इत्यादि—यह विषय भी केन्द्रीय नियमों के अधीन था। (१६) अपमृत्यु-मीमांसक, (१७) अतिरिक्त क्षेत्र (१८) जरायम पेशा जातियाँ—केन्द्रीय नियमों के अधीन (१९) यूरोपियन लोगों की आवागमर्दी—केन्द्रीय नियमों के अधीन (२०) कारावास, कैदी तथा सुधार शालायें—केन्द्रीय नियमों के अधीन (२१) प्रान्तीय सरकार के मुद्रणालय (२२) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं का निर्वाचन (२३) स्थानीय कोष की जाँच। (२४) अखिल-भारतीय एवं प्रान्तीय सर्विसों के कर्मचारियों पर नियन्त्रण (२५) प्रान्तीय राजस्व के जरिये, कर इत्यादि (२६) प्रान्तों की साख पर कर्जा लेना; (२७) प्रान्तीय विषयों के सम्बन्ध में नियमों को बाधित करने के लिये अर्थ-दण्ड, कारावास दण्ड इत्यादि का निश्चय करना, (२८) केन्द्रीय क्षेत्र में आने वाले किसी विषय को सपरिषद्-गवर्नर-जनरल द्वारा प्रान्तीय प्रकट कर दिये जाने पर उसका प्रबन्ध करना, (२९) विदेशों पर नियन्त्रण—केन्द्रीय नियमों के अधीन, सवारियों पर नियन्त्रण, परन्तु मोटरों के सम्बन्ध में समस्त देश में भ्रमण के लिये अनुज्ञापन प्रदान करने की शक्ति केन्द्र के हाथ में थी।[1]

1 A. C. Banerjee : Indian Constitutional Documents, Vol. III

भेकर्तृत्व कार्य (Agency Functions)

गवर्नर-जनरल के आज्ञानुसार प्रान्तीय गवर्नर अपनी कार्यपालिका की {ह से कुछ केन्द्रीय कार्यों को भी सम्पूर्ण करने को बाध्य होता था। ऐसी । में प्रान्तीय शासन, केन्द्रीय शासन के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते थे (उन्हें अपनी ओर से हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं था। केन्द्रीय सरकार को पूर्णत नियन्त्रित करती थी। उदाहरण के लिये, भारतीय जनता से ास्व की वसूली केन्द्रीय विषय था परन्तु उसका सचालन प्रान्तीय सरकारों को । दिया गया था।

तातरित और सरक्षित विषयो मे आय का विभाजन :

प्रान्तीय विषयों को हस्तातरित और सरक्षित भागों में विभक्त करने के चात् उनके लिये आय के साधनों के विभाजन की समस्या उत्पन्न हुई। इस ाति में सब से अच्छा उपाय यह था कि हस्तातरित विषयों के प्रबन्ध के लिये ाय के कुछ साधन अलग कर दिये जाते जिससे कि उनके लिये उत्तरदायी ीगण अपन क्षेत्र में सुचारुरूप से कार्य करते रहते। इससे यह भी लाभ होता › यदि मन्त्रियों को अपना कार्य-क्षेत्र विस्तृत करना होता तो वे आवश्यकता-ुार नये कर लगाकर उसका सचालन सुगम कर सकते थे और, जैसा कि ाथ ने कहा है, बुद्धि और भारत-सरकार दोनों इसी विचार के पक्ष में [1]। परन्तु ब्रिटिश सरकार न ऐसा न किया। उसकी सम्मति में आय का ाभाजन करना उचित नहीं था क्योंकि इस प्रकार हस्तातरित विषयों का चालन करने वाले मन्त्रियों को अधिक अधिकार मिल जाने की सम्भावना ो। परिणाम यह हुआ कि हस्तान्तरित विषयों के प्रबन्ध के लिये उत्तरदायी न्त्री सरक्षित विषयों के प्रशासन में रोड़े अटकाने के लिये तत्पर हो गए। रक्षित विषयों के लिये जब कोई नया कर लगाने का प्रस्ताव किया जाता था व हस्तातरित विषयों के लिये उत्तरदायी मन्त्रीगण ऐसी रुकावटें पैदा करते थे जनसे कि वह सरलतापूर्वक स्वीकृत न हो सके। सरकार ने कोष का अभि ़ण भी इस प्रकार किया था कि सरक्षित विषया के लिये धन की कमी न हो ौर गवर्नर को यह अधिकार दे दिया गया था कि वह मन्त्रियों द्वारा अस्वीकृत ा कम किये हुए अनुदानों को पुन स्थापित करदे। ऐसे अनुदान के पुन यापन के लिये केवल यह काफी था कि गवर्नर उसको सरक्षित विषय के लिये

1 A B Keith A Constitutional History of India (1600-1935)

आवश्यक प्रमाणित करदे। हस्तांतरित विषयों के सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई अधिकार नहीं दिया गया था।[2]

प्रान्तों को अपने बजट स्वयं तैयार करने की शक्ति प्राप्त थी। आवश्यकता के समय प्रान्तीय शासन अपनी आय की जमानत पर ऋण ले सकता था। ऋण लेने की अनुमति केवल सिंचाई, दुर्भिक्ष पीड़ितों की सहायता, आदि के लिये ही थी। परन्तु प्रत्येक ऋण के सम्बन्ध में व्याज की दर आदि के सम्बन्ध में भारत-शासन की स्वीकृति लेना आवश्यक था। १६१६ के अधिनियम के द्वारा प्रान्तीय आय के खर्चे का क्रम निश्चित कर दिया गया था। इसके अनुसार, प्रान्तीय आय पर पहला खर्चा उस चन्दे का था जो उसे केन्द्रीय शासन को देना होता था। इसके पश्चात् सरक्षित विषयों के सञ्चालन व्यय को स्थान दिया गया था। इनको निकाल कर जो शेष बचता था उस पर हस्तान्तरित विषयों का सञ्चालन निर्भर किया गया। किस हस्तांतरित विषय पर कितनी आय खर्च की जायगी इसका निर्णय मंत्री स्वयं कर सकते थे। यदि इन खर्चों को निकालकर बची हुई धन-राशि हस्तान्तरित विषयों के सञ्चालन के लिये पर्याप्त नहीं होती थी तो इनके लिये गवर्नर तथा मंत्री परस्पर सलाह करके नये कर लगा सकते थे। स्पष्ट है कि अधिनियम के द्वारा सरक्षित विषयों का प्रशासन कार्य तो सुरक्षित हो गया परन्तु हस्तांतरित विषयों के लिये उचित सुविधा नहीं मिली। भारत-शासन दोनों प्रकार के विषयों के लिये आय के जरियों को पृथक् करने के पक्ष में था परन्तु ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की 'ज्वाइंट-सेलेक्ट कमेटी' ने इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया। अन्त में, जो निर्णय हुआ वह यह था कि प्रान्तीय आय को हस्तांतरित और सरक्षित विषयों के बीच वार्षिक समझौतों के आधार पर विभक्त किया जाये और यदि यह समझौता संभव न हो सके तो गवर्नर स्वयं इन विषयों के लिये आय का विभाजन कर सकता था। गवर्नर के निर्णय के पश्चात् यदि किसी पक्ष को अपनी आय में वृद्धि करनी होती थी तो वह नये कर लगा सकता था और इस प्रकार से प्राप्त आय उस कर को प्रस्तावित करने वाले पक्ष को मिलती थी।

प्रान्तों में द्विविध-शासन—

विषयों के उपर्युक्त विभाजन से स्पष्ट है कि प्रान्तों में एक द्विविध-शासन की स्थापना की गई थी। इसका अर्थ यह है कि विषयों को विभक्त करने

---

2 Ibid.

के पश्चात् हस्तांतरित विषयों के प्रशासन में जनता का उत्तरदायित्व स्थापित करने का प्रयत्न किया गया था और सरक्षित विषयों के प्रशासन में गवर्नर अपनी कार्य-पालिका की सहायता से कार्य करता था। इस शासन को आठ-प्रान्तों—बंगाल, मद्रास, बम्बई, उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, व उड़ीसा, मध्य-प्रदेश और आसाम में आरम्भ किया गया। इस व्यवस्था से पहिले लैफ्टीनैन्ट-गवर्नरों के प्रान्तों के बीच जो पुराना भेद चला आ रहा था वह अब समाप्त हो गया और ये आठों प्रान्त 'गवर्नर के प्रान्त' कहलाने लगे। वास्तव में ब्रिटिश सरकार की इच्छा उस समय देश को पूर्ण रूप से उत्तर-दायी शासन प्रदान करने की नहीं थी। अगस्त सन् १९१७ की घोषणा में ही इसके क्रमिक विकास की ओर संकेत किया गया था। परन्तु क्रमिक विकास क्रमिक रूप से स्थापित करना एक सरल कार्य नहीं था। कोई भी सरकार या तो पूर्णतः उत्तरदायी हो सकती है अथवा बिल्कुल नहीं। अपूर्ण उत्तरदायित्व का आयोजन किसी नई युक्ति द्वारा ही किया जा सकता था। इस कठिन कार्य को सम्पूर्ण करने के लिये ही द्विविध-शासन की स्थापना की गई।

प्रान्तीय कार्यपालिका

द्विविध शासन के अन्तर्गत प्रान्तीय कार्यपालिका के दो भाग हो गए थे—एक वह जो गवर्नर और उसकी कार्यपालिका परिषद् के सदस्यों से मिलकर बना था और दूसरा वह जिसमें गवर्नर और मंत्री थे। प्रथम सरक्षित विषयों के प्रशासन के लिये था और दूसरा हस्तांतरित विषयों के लिये।

गवर्नर और कार्यपालिका परिषद् के सदस्य—

१९१९ के अधिनियम के अनुसार कार्यपालिका के सदस्यों की संख्या निश्चित करदी गई थी जो ४ से अधिक नहीं हो सकती थी। तीन प्रेज़ीडेन्सियों की कार्य-पालिकाओं में ४ सदस्य और अन्य प्रान्तों में केवल दो ही थे। इनमें कम से कम एक सदस्य ऐसा होता था जो १२ वर्ष तक सरकारी कर्मचारी रह चुका हो। कार्यपालिका में कम से कम आधे सदस्यों का भारतीय होना आवश्यक था। इन सदस्यों की नियुक्ति सम्राट द्वारा ५ वर्ष के लिये भारत-मंत्री की सिफारिश पर की जाती थी। उनका वेतन अधिनियम द्वारा निश्चित था और प्रान्तीय आय में से दिया जाता था। अपने पद के नाते वे व्यवस्थापिका-सभा के भी सदस्य होते थे परन्तु उसके प्रति उत्तरदायी न थे। व्यवस्थापिका-सभा के सदस्यों का इनकी नियुक्ति, इनके कार्यकाल अथवा वेतन पर कोई अधिकार

नहीं था। गवर्नर और इन सदस्यों का उत्तरदायित्व भारत-मंत्री के प्रति था। दूसरे शब्दों में, सरक्षित विषयों के सम्बन्ध में प्रान्तीय शासन ब्रिटिश पार्लियामेंट के लिये उत्तरदायी थी, प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभा के लिये नहीं। गवर्नर स्वय कार्यपालिका की बैठकों का सभापति होता था और बहुधा इसके बहुमत के निर्णयानुसार कार्य करता था। मत समान होने पर यह अपने निर्णायक मत द्वारा भी कार्य कर सकता था। परन्तु यह अनिवार्य नहीं था कि गवर्नर सदा इन सदस्यों के निर्णय को माने। उसे अधिकार था कि यदि वह कार्यकारिणी के बहुमत-निर्णय को प्रान्त की सुरक्षा, शान्ति अथवा हितों के लिये उचित न समझे तो वह उसे स्वीकार न करे और अपने निर्णय के अनुसार शासन-कार्य चलाये। यह गवर्नर की इच्छा पर निर्भर था कि वह बहुमत से हुए निर्णय को सपूर्ण रूप में त्याग दे अथवा उसको आंशिक रूप में त्याग कर किसी अंश तक उसके अनुसार कार्य करे।[1]

गवर्नर और मंत्रीगण—

मंत्रियों की सख्या अधिनियम में निश्चित नहीं की गई थी। परन्तु साधारणतः मद्रास, बगाल और कलकत्ता प्रेजीडेन्सियों, उत्तर-प्रदेश और पजाब में तीन तथा अन्य प्रान्तों में २ मंत्री रहते थे। इनकी नियुक्ति गवर्नर करता था और सिद्धान्ततः उसी के प्रसाद पर्यन्त ये लोग अपने पद ग्रहण करते थे। कोई भी सरकारी कर्मचारी मंत्री नहीं बन सकता था और यदि बना भी दिया जाता तो उसके लिये ६ महीने के काल में व्यवस्थापिका-सभा का सदस्य हो जाना अनिवार्य था अन्यथा उसे पद-त्याग करना पड़ता था। संयुक्त निर्वाचित समिति (ज्वाइंट सेलेक्ट कमेटी) की सिफारिशों के अनुसार मंत्रीगण व्यवस्थापिका सभा के वे सदस्य होने चाहिये थे जो निर्वाचित हों और व्यवस्थापिका-सभा के विश्वासपात्र होने के साथ-साथ उसके नेता की हैसियत से कार्य कर सकें। इसलिये मंत्रियों का वेतन प्रतिवर्ष व्यवस्थापिका-सभा ही निश्चित करती थी। समिति के सदस्य यह कभी नहीं चाहते थे कि गवर्नर एक नामधारी वैधानिक शासक की स्थिति अपना ले और मंत्रियों के परामर्श से बाधित हो। समिति को आशा थी कि मंत्रीगण शासनकार्यों में गवर्नर के अनुभव का लाभ उठावेंगे और गवर्नर यथा सभव उनकी राय को मानेगा। समिति की रिपोर्ट में यह कल्पना नहीं की गई थी कि गवर्नर मंत्रियों के किसी प्रस्ताव को स्वेच्छा से ठुकरा दे जिसे उन्होंने मिलकर प्रस्तुत किया हो। यह

आशा की जाती थी कि हस्तांतरित विषयों के सम्बन्ध में वह मंत्रियों की सलाह को उस समय तक अस्वीकार न करेगा जब तक उसके पास पर्याप्त कारण न हो। यदि मतभेद का कारण पर्याप्त होता तो वह मंत्रियों की सलाह के प्रतिकूल भी कार्य कर सकता था। स्पष्ट है कि इस प्रकार की व्यवस्था संदेह-पूर्ण थी और गवर्नर की स्वेच्छा को सबसे प्रमुख स्थान दिया गया था। समिति ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा था कि गवर्नर मंत्रियों की सलाह न माने तो उनके पास त्याग-पत्र देने का अस्त्र होगा और गवर्नर को यह साधारण वैधानिक अधिकार होगा कि वह व्यवस्थापिका से असहमत अथवा अन्यः किसी प्रकार से दोषी मंत्री को पदच्युत करदे। गवर्नर का यह अधिकार निश्चित था कि वह व्यवस्थापिका-सभा को भंग करदे तथा नये निर्वाचन के पश्चात् नये मंत्रियों की नियुक्ति करे।

इस प्रकार द्विविध-शासन की प्रणाली के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकार के लोकप्रिय भाग को प्रोत्साहन अथवा सहायता देने का कार्य गवर्नर की स्वेच्छा पर छोड़ दिया गया था। उसको यह अधिकार था कि वह निःसंकोच मंत्रियों को उचित मार्ग की शिक्षा दे और सदोष कार्य करने पर उनको चेतावनी दे। 'संयुक्त निर्वाचित समिति' की यह सिफारिश भी थी कि गवर्नर की राय के विरुद्ध यदि मंत्रीगण कोई कदम उठाना चाहे तो उसे स्वेच्छा पूर्वक ऐसा करने दिया जाये, परन्तु यदि इस स्वीकृति से शांति एवं सुरक्षा के भंग होने का भय हो तो गवर्नर इस प्रकार बनाये गये नियम को रद्द भी कर सकता था। यह उपबन्ध इसलिये रखा गया था कि मंत्री लोग इस विधि से गलतियाँ करके वैधानिक अनुभव प्राप्त करें। यदि गवर्नर मंत्रियों ी सलाह के प्रतिकूल कार्य करे तो उसके सम्मुख उन्हीं परिस्थितियों का होना आवश्यक था जिनके आधार पर वह कार्यकारिणी के सदस्यों की राय को ठुकरा सकता था। ये परिस्थितियाँ गवर्नर को नियुक्ति के अवसर पर निर्देश-पत्र द्वारा बतला दी जाती थीं।

निर्देश-पत्र में गवर्नर को यह आदेश दिया ... मंत्री की राय को स्वीकार अथवा अस्वीकार करते समय ... के प्रति अपने सम्बन्धों पर विचार करेगा। ... का भी ध्यान रखना होगा जिसे ... जान सकेगा। परन्तु केवल ... हो जाने की सम्भावना नहीं ...

सुरक्षा धार्मिक एवं जातिगत संघर्षों, भारत-मन्त्री तथा सपरिषद्-गवर्नर-जनरल के आदेशों, पिछड़ी हुई जातियों और अल्प संख्या वर्गों की उन्नति, को दृष्टि में रखकर कार्य करना था। उसको ऐसे नियमों का निर्माण रोकना था जिनके कारण किसी धार्मिक जातिगत, शैक्षिक, सामाजिक कल्याण तथा धन सम्बन्धी दल को अनुचित लाभ मिल जाये और अन्य कोई वर्ग सामान्य अधिकारों से भी वञ्चित हो जाये। उसे जन-साधारण और सरकारी कर्मचारियों के हितों का ध्यान रखना भी आवश्यक था। स्पष्ट है कि निर्देश-पत्र की इन व्यवस्थाओं द्वारा गवर्नर को मन्त्रीगण अथवा कार्यकारिणी के सदस्यों की राय को अस्वीकृत करने का पूर्ण अधिकार मिल गया था। विशेष उत्तरदायित्वों के पालन के तर्क द्वारा गवर्नर मन्त्रियों की किसी भी राय को स्वेच्छा से ठुकरा कर अपने निर्णयानुसार कार्य कर सकता था।

इस अधिनियम के निर्माताओं को यह आशा थी कि सरक्षित एव हस्तान्तरित विषयों के प्रबन्ध के लिये प्रान्तीय कार्यपालिका के दोनों अंग मिलकर कार्य करेंगे और मन्त्री तथा कार्यपालिका परिषद् के सदस्य ऐसा अभ्यास डाल लेंगे जिससे कि वे परस्पर मिल कर विचार करें और शासन की एकता को स्थापित रक्खें। इसका अर्थ यह नहीं है कि सरक्षित एव हस्तातरित विषयों के उत्तरदायित्व को समाप्त करने का विचार किया गया था। केवल यह इच्छा इसमें अन्तर्निहित थी कि मन्त्रियों एवं कार्यकारिणी के सदस्यों की बैठकें एक साथ हों परन्तु मतदान पृथक रूप में और उन्हीं लोगों द्वारा हो जो विषय विशेष के लिये उत्तरदायी हों। इस प्रकार सम्मिलित विचार और पृथक् मतदान की व्यवस्था के आधार पर कार्य करने की आशा प्रकट की गई थी। गवर्नर के सम्बन्ध में यह सोचा गया था कि वह दोनों भागों के बीच जोड़ने वाली कड़ी का कार्य करेगा क्योंकि वह दोनों का सामान्य प्रधान था।

अधिनियम में, हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में आकस्मिक आवश्यकता उत्पन्न होने पर उसके लिये अस्थायी प्रशासन की स्थापना की व्यवस्था भी की गई थी। यदि हस्तातरित विषयों के प्रशासन के लिये कोई मन्त्री न रहे तो गवर्नर को यह अधिकार प्राप्त था कि वह किसी ऐसे व्यक्ति को इसका कार्य भार सौंप दे जो उसे थोड़े दिनों तक सम्हालने के लिये तैयार हो और यदि यह भी सम्भव न हो तो गवर्नर उस समय तक कार्यभार स्वयं अपने हाथों में ले सकता था जब तक कि नई नियुक्ति न हो जाये। इस प्रकार की परिस्थिति में गवर्नर, मन्त्री का कार्य करता था। यह अस्थायी प्रबन्ध

उसी स्थिति में और उसी अवधि तक सभव था जब कि कोई ऐसी आशा हो कि मत्री कार्यभार सम्हाल लेंगे। यदि मत्रि-मडल के साथ प्रशासन सभव न हो तो गवर्नर-जनरल, भारत-मत्री की स्वीकृति से आवश्यकतानुसार समय के लिये उनको सौंपे गये विषयों का हस्तान्तरण निरन्तर कर सकता था और तत्पश्चात् वे विषय भी सरक्षित विषय समझे जाते थे और उनका प्रबन्ध सपरिषद्-गवर्नर द्वारा होता था।[1]

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा

सन् १६१६ के भारत-शासन-अधिनियम के द्वारा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के सगठन, शक्तियों एव कार्यों में बहुत परिवर्तन हुए। कुछ अश तक सभी प्रान्तों में इनके सदस्यों की सख्या सतोषजनक कर दी गई। मद्रास की व्यवस्थापिका-सभा के लिये १३२, बम्बई में ११४, बगाल में १४०, उत्तर-प्रदेश में १४३, बिहार व उड़ीसा में १०३, पजाब में ७४, मध्य प्रदेश में ७३ और आसाम में ५३, सदस्य सख्या निश्चित की गई। ये सदस्य तीन प्रकार के थे—(१) नाम निर्देशित सरकारी सदस्य जो कुल सख्या के २०% से अधिक नहीं थे, (२) गैर-सरकारी निर्वाचित सदस्य जो कुल सख्या के कम से कम ७०% थे (कार्य पालिका के सदस्य भी पद के नाते इसके सदस्य थे) (३) गवर्नर द्वारा नाम निर्देशित गैर-सरकारी सदस्य जो उन वर्गों एव हितों के प्रतिनिधि थे जिनको अपनी अल्प-सख्या अथवा पिछड़ी अवस्था के कारण प्रत्यक्ष निर्वाचन में प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हो सकता था। इस प्रकार के वर्गों म दलित एव पिछड़ी जातियों, श्रमिक, यूरोपियन, ऐंग्लो-इडियन और भारतीय ईसाई सम्मिलित थे। गवर्नर किसी ऐसे व्यक्ति को भी व्यवस्थापिका-सभा का सदस्य नाम निर्देशित कर सकता था जो प्रतिष्ठित, एव प्रभावशाली हो और राजनीतिक अनुभव रखता हो परन्तु चुनाव में सफलता प्राप्त न कर सका हो।

मताधिकार —

वैधानिक सुधारों की रिपोर्ट रचयिताओं ने व्यवस्थापिका सभा के लिये अप्रत्यक्ष निर्वाचन विधि को हटा कर उसके स्थान पर प्रत्यक्ष निर्वाचन को स्थापित किया। उन्होंने मताधिकार को विस्तृत करने की भी सिफारिश की परन्तु 'मताधिकार समिति' के निर्णय के अनुसार प्रौढ युवक जन-सख्या के केवल

---

1. K V Punnaiah The Constitutional History of India

१/१० भाग को मत देने का अधिकार प्राप्त हुआ। निवास एवं सम्पत्ति की अर्हताओं के कारण मताधिकार व्यापक न हो सका और सरकार से अवकाश प्राप्त व्यक्ति, पेन्शन प्राप्त करने वाले अवकाश प्राप्त व्यक्ति, सेना के अधिकारी एवं सैनिक, आदि को भी यह अधिकार प्राप्त हुआ। सरकारी नौकरियों से पद-च्युत लोगों को मत देने के अधिकार से वंचित नहीं किया गया परन्तु किसी अपराध के लिये दण्डित तथा ६ माह से अधिक कारावास की सजा-प्राप्त व्यक्ति ५ वर्ष तक मत प्रदान में भाग नहीं ले सकते थे। निवास की योग्यता केवल पंजाब, बम्बई और बंगाल में लगाई गई थीं। औरतों के मताधिकार का निर्णय प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं पर छोड़ दिया गया और उनकी मत-प्रदान की अनर्हताएँ प्रत्येक प्रान्त में हटा दी गई। परन्तु फिर भी मताधिकार-प्राप्त औरतों की संख्या बहुत कम रही। मद्रास में यह संख्या केवल कुल का १% और अन्य प्रान्तों में इससे भी कम थी।[1]

साम्प्रदायिक निर्वाचन और विशेष प्रतिनिधित्व—

सन् १६१६ के अधिनियम में साम्प्रदायिक-निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था उसका सबसे बड़ा दोष है। अधिनियम की रचना में भाग लेने वाले लगभग सभी व्यक्तियों ने इस प्रणाली की आलोचना की क्योंकि यह जन-तन्त्र विरोधी तथा इतिहास की शिक्षाओं के प्रतिकूल है। समिति की रिपोर्ट में भी यही प्रकट किया गया कि यह व्यवस्था उत्तरदायी शासन के सिद्धान्तों के विरुद्ध है और नागरिकों को केवल अपने वर्ग के हितों की ओर प्रेरित करेगी परन्तु फिर भी मुसलमानों के लिये पृथक्-निर्वाचन-क्षेत्र का आयोजन करना पड़ा, क्योंकि सन् १६०६ के अधिनियम में इसको स्वीकार कर लिया गया था। सन् १६१६ में हिन्दू तथा मुसलमान नेता इसके लिये सहमत हो गए थे और अधिनियम के निर्माता यह जानते थे कि मुसलमान लोग नए विकास में अपनी स्थिति को सुरक्षित रखना चाहते हैं।[2] "कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया" के लेखकों की इस उक्ति से हम सहमत नहीं हैं कि अल्प संख्यक जातियों को पृथक् निर्वाचन द्वारा सुरक्षित न करने पर उन्हें बहुत दिनों तक प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता। इसी विचार से अधिनियम में साम्प्रदायिक-निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था की गई थी। भारत का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि यद्यपि हिन्दू अपने पिछड़े हुए अथवा दलित बन्धुओं के प्रति दुर्व्यवहार करते रहे हैं, तथापि विदेशियों के लिये उन्होंने सदा उदारता

1. K. V. Punnaiah : The Constitutional History of India
2. The Cambridge History of India, Vol. VI

दिखाई है। स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने पर भी देश की प्राचीन परम्परा के अनुसार भारत की सरकार अल्प संख्यक वर्गों के प्रति उदार एवं सहृदय है और मुसलमानों को भी उचित और किन्हीं स्थानों पर उचित से भी अधिक संरक्षण मिला हुआ है।[1] मद्रास में ब्राह्मणों की संख्या कुल का केवल ३ प्रतिशत थी परन्तु फिर भी उन्होंने प्रतिनिधित्व पर एकाधिकार प्राप्त कर लिया था और अन्य हिन्दुओं की अपेक्षा तीन गुनी नौकरियाँ प्राप्त कर ली थीं। इसलिये संयुक्त निर्वाचित समिति ने यह सुझाव दिया कि वहाँ ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य हिन्दुओं के लिये सीटें निर्धारित करदी जायें। पंजाब में भी सिक्खों को पृथक् प्रतिनिधित्व दे दिया गया।[2]

साम्प्रदायिक-निर्वाचन-क्षेत्रों के अतिरिक्त, इस अधिनियम में समाज के विभिन्न वर्गों के लिये विशेष प्रतिनिधित्व की भी व्यवस्था की गई थी। जमींदारों, विश्वविद्यालयों, वाणिज्यालयों, व्यापारियों, खेती करने वालों, खानों एवं मिलों में काम करने वालों को पृथक् प्रतिनिधित्व दिया गया था। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने की है कि देश के व्यापारिक और औद्योगिक वर्गों का प्रतिनिधित्व यूरोपियन लोगों द्वारा ही होता था।[3]

कार्यकाल एवं पदाधिकारी—

व्यवस्थापिका-सभाओं का कार्यकाल ३ वर्ष था परन्तु गवर्नर को यह अधिकार था कि यदि वह चाहे तो उसे इसके पहिले भी भंग करदे। विशेष परिस्थितियों में वह इसकी अवधि एक वर्ष और बढ़ा सकता था। सभा को भंग करने के पश्चात गवर्नर के लिये यह आवश्यक था कि वह ६ महीने के अन्दर अथवा भारत-मंत्री की अनुमति से ६ महीने में नये निर्वाचन के लिये एक तिथि निश्चित करे। यद्यपि गवर्नर व्यवस्थापिका-सभा का सदस्य नहीं था तथापि उसे इसमें भाषण देने का अधिकार था। प्रथम चार वर्ष तक व्यवस्थापिक-सभा के अध्यक्ष की नियुक्ति गवर्नर द्वारा तथा इसके पश्चात् उसकी स्वीकृति से सदस्यों द्वारा स्वयं अपनी सदस्यता में से करने का आयोजन किया गया था। उप-अध्यक्ष को, व्यवस्थापिका-सभाओं को आरम्भ से स्वयं ही चुनने का अधिकार था।

---

1 Author's own book—The Muslim League, its History, Activities and Achievements
2 The Cambridge History of India Vol. VI
3 K V Punnaiah · The Constitutional History of India.

अधिकार एवं गवर्नर के प्रति सम्बन्ध

प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभा को प्रान्त में उत्तम शासन स्थापित रखने के लिये प्रान्तीय सूची में सम्मिलित विषयों पर नियम बनाने का अधिकार था। वह सन् १९१९ के भारत-शासन अधिनियम से पूर्व अथवा बाद में पास किये गये किसी नियम को रद्द कर सकती थी या उसमें संशोधन कर सकती थी।[1] कुछ विषयों पर व्यवस्थापिका सभा में गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति के बिना विधेयक प्रस्तुत नहीं किये जा सकते थे। उदाहरणार्थ, केन्द्रीय नियमों को नियमित करने के सम्बन्ध में कोई विधेयक प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभा में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। पार्लियामेण्ट द्वारा बनाये गए किसी नियम के सम्बन्ध में भी प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभा कानून नहीं बना सकती थी।[2] व्यवस्थापिका-सभा द्वारा पास हो जाने पर विधेयकों को नियम बनने से पूर्व गवर्नर की स्वीकृति के लिये भेजा जाता था। कुछ विषय ऐसे थे जिसके विधेयकों पर गवर्नर की स्वीकृति प्राप्त होने पर भी, नियम बनने से पूर्व गवर्नर-जनरल की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था। विधेयकों के सम्बन्ध में गवर्नर को तीन प्रकार की शक्तियाँ मिली हुई थीं। प्रथम, यह कि वह किसी विधेयक को स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकता था। दूसरे, वह अपने संशोधन के साथ विधेयक को व्यवस्थापिका-सभा के पास पुनर्विचार के लिये भेज सकता था। तीसरे, कुछ विधेयकों को वह गवर्नर-जनरल की स्वीकृति के लिये रक्षित कर सकता था।[3] इस प्रकार के विधेयक धर्म या धार्मिक आचार, विश्व विद्यालय, संरक्षित विषय तथा भू-राजस्व आदि के सम्बन्ध में होते थे।

हस्तांतरित विषयों के प्रशासन पर व्यवस्थापिका-सभा को अधिकार था परन्तु संरक्षित विषयों के प्रशासन पर वह केवल अपना प्रभाव ही डाल सकती थी। यदि व्यवस्थापिका-सभा संरक्षित विषय पर गवर्नर द्वारा सिफारिश प्राप्त किसी अधिनियम को उसी रूप में पास करने से इन्कार करती तो गवर्नर यह प्रमाणित कर सकता था कि विधेयक विशेष उसके उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिये आवश्यक है। तत्पश्चात् वह विधेयक अधिनियम का रूप धारण कर लेता था।[4] इस प्रकार बने हुए नियम

1 Section 10, Cl. (1) and (2)
2. Section 10, Cl (3) and (4)
3. Section 12, Cl. (1)
4. Section 13, Cl (1)

की एक प्रति गवर्नर-जनरल के पास भेजनी पड़ती थी और वह उसको सम्राट की स्वीकृति के लिये रख लेता था। पार्लियामेण्ट द्वारा स्वीकृत हो जाने पर गवर्नर-जनरल इसकी सूचना गवर्नर को देता था और तत्पश्चात् वह नियम व्यवस्थापिका-सभा द्वारा पास किये गये नियमों के समान समझा जाता था।[1] परन्तु आकस्मिक आवश्यकता के समय गवर्नर-जनरल को यह अधिकार था कि वह नियम को पार्लियामेण्ट की स्वीकृति के लिये रखने के स्थान पर स्वय अपनी स्वीकृति द्वारा उसे कार्यरूप दे दे, यद्यपि बाद में पार्लियामेण्ट उसे रद्द भी कर सकती थी।[2] इन उपबन्धों से यह स्पष्ट है कि सरक्षित विषयों पर गवर्नर का पूर्ण अधिकार था और इन विषयों के लिये अन्तिम उत्तरदायित्व ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के लिये था, न कि प्रान्तीय धारा-सभा के लिये।

परन्तु हस्तातरित विषयों के सम्बन्ध में गवर्नर को इस प्रकार की शक्ति प्राप्त न थी। फिर भी वह किसी विधेयक, उसकी किसी धारा अथवा सशोधन पर किसी भी समय बहस को रोक सकता था। ऐसा करने के लिये उसे केवल यह प्रमाणित करना होता था कि अमुक विधेयक अथवा सशोधन उस प्रान्त, अथवा उसके किसी भाग या अन्य किसी प्रान्त की शान्ति के लिये घातक है। धन-सम्बन्धी विधेयक के लिये यह स्पष्ट कर दिया गया था कि प्रान्तीय आय में से किसी भी खर्चे का प्रस्ताव गवर्नर द्वारा प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभा में भेजे बिना स्वीकृत नहीं हो सकता था। इस प्रकार खर्चे का प्रस्ताव व्यवस्थापिका-सभा के सम्मुख कार्यपालिका ही करती थी।[3] प्रत्येक वित्तीय वर्ष के बारे में गवर्नर उस प्रान्त की प्राक्कलित प्राप्तियां और व्ययों का एक विवरण तैयार करवाकर व्यवस्थापिका-सभा के समक्ष रखता था। व्यय के मद अनुदानों के रूप में व्यवस्थापिका-सभा के मतदान पर छोड़ दिये जाते थे और उन्हें व्यवस्थापिका-सभा पास कर सकती थी, रद्द कर सकती थी, कम कर सकती थी अथवा किसी मद से बिल्कुल हटा सकती थी।[4] परन्तु, निम्नांकित खर्चों के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका-सभा को मत देने का अधिकार नहीं था —

(१) केन्द्रीय सरकार को प्रति वर्ष दिया जाने वाला चन्दा,

---

1 Section 13, Cl (2)
2 Proviso to Section 13 Cl (2)
3 K V Punnaiah The Constitutional History of India
4 Section, 11 Cl (2)

(२) सरकारी ऋण का व्याज,

(३) ऐसा खर्चा जिसकी रकम कानून द्वारा निश्चित की गई हो,

(४) सम्राट् अथवा भारत-मंत्री अथवा उनकी स्वीकृति से नियुक्त किये व्यक्तियों की पैंशन और वेतन, और

(५) हाई कोर्ट के न्यायाधीशों और महाधिवक्ता (Advocate General) के वेतन।

इस विवरण से स्पष्ट है कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभा को साधारणतया धन-सम्बन्धी विधेयकों पर ऐसे अधिकार नहीं दिये गये थे जो उत्तरदायी शासन की स्थापना में सहायक होते। शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित रखने के अधिकार की आड़ में गवर्नर को कानून बनाने के सम्बन्ध में विस्तृत अधिकार मिल गए थे। वह विधेयकों को भारत-मंत्री और पार्लियामेण्ट की स्वीकृति के लिये भी रख सकता था। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि, यद्यपि १६१६ के अधिनियम द्वारा प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना का आरम्भ किया गया था और निःसंदेह यह सन् १६०६ के अधिनियम की अपेक्षा प्रगतिशील था, तथापि इसके समस्त उपबन्धों में ब्रिटिश सरकार द्वारा एक हाथ से सुविधाये देकर दूसरे हाथ से उन्हें वापिस ले लेने की प्रवृत्ति भी विद्यमान थी।

केन्द्रीय प्रशासन

१६१६ के अधिनियम के रचयिताओं ने यह स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया था कि भारत में उत्तरदायी शासन की व्यवस्था उस समय तक उचित नहीं है जब तक कि प्रान्तों में इसकी प्रगति न हो जाये। इसलिये, अपने सुझावों में उन्होंने केन्द्र में अनियन्त्रित शासन की स्थापना की और उसको ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी बनाये रखा परन्तु प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना के पश्चात् केन्द्रीय शासन में भी परिवर्तन करना अपेक्षित था और अधिनियम के रचयिता भी इसकी व्यवस्था भारतीय जनमत के अनुकूल करना चाहते थे। अतः उन्होंने केन्द्र में ऐसी व्यवस्थापिका-सभा की स्थापना का सुझाव दिया जो वास्तव में भारतीय जनता की प्रतिनिधि हो। परन्तु उपर्युक्त उद्देश्य के आधार के कारण केन्द्रीय कार्यपालिका में जो परिवर्तन किये गए वे अधिक महत्वपूर्ण नहीं थे।

गवर्नर-जनरल और कार्यकारिणी—

नए अधिनियम के अनुसार गवर्नर-जनरल की कार्यपालिका पर लगी हुई नियमित सीमा को हटा दिया गया और इसकी सदस्यता के लिये आवश्यक

अर्हताओं में भी परिवर्तन किया गया। कानून-सदस्य बनने के लिये हाई कोर्ट में १० साल से वकालत करने की अर्हता को मान लिया गया।[1] कमान्डर-इन-चीफ के अतिरिक्त, कार्यपालिका में ६ सदस्य रखे गये जिनमें से तीन भारतीय थे। इस प्रकार इस अधिनियम द्वारा केन्द्रीय कार्यकारिणी के स्वरूप और बनावट में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। पहिले की भाँति वैदेशिक और राजनीतिक विभाग गवर्नर-जनरल के हाथ में रहे, कमान्डर-इन-चीफ सेना तथा अन्य ६ सदस्यों को बाकी विभाग (१) गृह, (२) वित्त, (३) कानून, (४) वाणिज्य तथा रेल्वे, (५) शिक्षा, स्वास्थ्य और भूमि तथा, (६) उद्योग तथा श्रम-सौंप दिये गए।[2]

केन्द्रीय व्यवस्थापिक सभा—

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सन् १९१९ के भारत-शासन अधिनियम ने केन्द्रीय कार्यपालिका के स्वरूप और बनावट में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया परन्तु केन्द्रीय धारा सभा के गठन, कार्यों और शक्तियों में अनेक सारगर्भित परिवर्तन हुए, इस बार जनता के प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ादी गई और इसे सरकार को प्रभावित करने के अधिक अवसर दे दिये गए। पुरानी व्यवस्थापिका के स्थान पर अब व्यवस्थापन कार्य के लिये दो सभाएँ कायम की गई—प्रथम राज्य-परिषद् (कौंसिल आफ स्टेट) और दूसरी विधान-सभा (लेजिस्लेटिव ऐसेम्बली)।

राज्य-परिषद् (कौंसिल आफ स्टेट)—

राज्य-परिषद् के सदस्यों की अधिकतम संख्या ६० रक्खी गई और इसका कार्य-काल ५ वर्ष नियत कर दिया गया। इन ६० सदस्यों में निर्वाचित और नाम निर्देशित दोनों प्रकार के सदस्य सम्मिलित थे।[1] निर्वाचित सदस्यों की संख्या ३४ और अन्य की २६ थी। नाम निर्देशित सदस्यों में २० से अधिक सरकारी-व्यक्ति नहीं रक्खे जा सकते थे। ३४ निर्वाचित सदस्यों में से १९ सामान्य निर्वाचन-क्षेत्र से, ११ मुसलमान, १ सिक्ख तथा ३ यूरोपियन वाणिज्य के निर्वाचन क्षेत्र से आते थे। गवर्नर-जनरल इसके सभापति की नियुक्ति करता था जो सरकारी सदस्य होता था। उसको सभा के सम्मुख भाषण देने का अधिकार था और अपने भाषण के प्रति वह सदस्यों विशेष की उपस्थिति भी

1 Section 28, Cl (1) & (2)
2. K V Punnaiah The Constitutional History of India.
1 Sec, 18. Cl. (1), (2) & (3)

आवश्यक कर सकता था। यदि वह चाहता तो दोनों सभाओं की सम्मिलित उपस्थिति में भाषण दे सकता था। अपनी इच्छानुसार वह इस सभा का आह्वान, विलम्बन अथवा विघटन कर सकता था। सभा के लिये स्थान और समय निश्चित करने का अधिकार भी उसे प्राप्त था। विधान-सभा की अपेक्षा इसके मतदाताओं की योग्यतायें बहुत ऊँची थी। अतः प्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणाली पर आधारित होते हुए भी इसका निर्वाचन क्षेत्र बहुत संकुचित था। वास्तव में, यह संस्था जमींदारों तथा पूँजीवादियों के हितों की प्रतिनिधि थी।

विधान सभा (लेजिस्लेटिव ऐसेम्बली)

अधिनियम के अनुसार विधान-सभा का आकार काफी बढ़ा दिया गया था। इसमें भी निर्वाचित और नाम निर्देशित सदस्यों की व्यवस्था की गई और इसकी सदस्य संख्या १४० नियत की गई। इनमें से १०० निर्वाचित तथा शेष नाम निर्देशित थे। अनिर्वाचित सदस्यों में से २६ सरकारी सदस्य होते थे। विशेष परिस्थितियों में इस सभा के सदस्यों की संख्या बढ़ाई भी जा सकती थी।[1]

विधान सभा ने जिस समय कार्य भार सँभाला इसके सदस्यों की संख्या १४५ थी। इनमें १०५ निर्वाचित सदस्य थे, जिनमें से ५२ सामान्य निर्वाचित क्षेत्र से, ३० मुसलमान, २ सिक्ख, ६ यूरोपियन, ७ जमींदार तथा ४ भारतीय व्यापार-हितों के प्रतिनिधि थे। इनके अतिरिक्त, नाम निर्देशित सदस्यों में जो गैर-सरकारी होते थे, उनमें दलित जातियों, ऐंग्लो इण्डियनों तथा ईसाई आदि में से एक-एक होता था। विधान सभा में प्रान्तों की सदस्यता की संख्या जन-संख्या के आधार पर नहीं, उनके महत्व के आधार पर निश्चित की गई थी। उदाहरणार्थ बम्बई तथा मद्रास प्रान्तों की जन संख्या में एक विशाल, अन्तर होते हुए भी उनके सदस्यों की संख्या समान ही रक्खी गई थी।

सदस्यों के अधिकार—

व्यय तथा प्राप्तियों का वार्षिक विवरण केन्द्रीय व्यवस्थापिका के सम्मुख रक्खा जाता था। परन्तु व्यय सम्बन्धी कोई भी विधेयक (Bill) गवर्नर-जनरल की स्वीकृति बिना नहीं रखा जा सकता था। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित व्यय सम्बन्धी विधेयकों पर, जिन्हें गवर्नर-जनरल अपनी

1 Section, 19 Cl. (1) & (2)

परिषद् में पास करता था, विधान सभा को मत देने का अधिकार नहीं था—(१) सरकारी ऋणों पर सूद तथा प्रतिस्थापन कोष सम्बन्धी प्रभार; (२) ऐसा व्यय जिनकी राशि नियम द्वारा निर्धारित करदी गई हो, (३) ऐसे व्यक्तियों के वेतन तथा उत्तर वेतन जिनकी नियुक्ति सम्राट द्वारा या उसकी स्वीकृति से भारत मन्त्री द्वारा हुई हो, (४) चीफ कमिश्नरों तथा न्यायिक कमिश्नरों का वेतन; और (५) धार्मिक, राजनीति और सुरक्षा सम्बन्धी व्यय।

इन व्ययों के अतिरिक्त अन्य व्ययों के विधेयक विधान-सभा के समक्ष उसके मत के लिये प्रस्तुत किये जाते थे और विधान सभा को यह अधिकार था कि वह इन विधेयकों को स्वीकार करे अथवा नहीं। वह माँगे हुए धन में कमी भी कर सकती थी। किन्तु गवर्नर-जनरल अस्वीकृत माँग को पुन पूरा कर सकता था। ऐसा करते समय उसे केवल यह घोषित कर देना पड़ता था कि उसे इस बात का विश्वास है कि जो माँग विधान सभा द्वारा ठुकरा दी गई है वह उसके उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिये आवश्यक है। विशेष आवश्यकता के अवसर पर गवर्नर-जनरल को यह भी अधिकार था कि वह जिस व्यय को ब्रिटिश-भारत में शान्ति स्थापना के लिये आवश्यक समझे उसको स्वीकार करे।

इन उपबन्धों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वास्तव में सन् १९१९ के भारत-शासन अधिनियम द्वारा वित्त-सम्बन्धी विषयों में गवर्नर-जनरल को विस्तृत अधिकार दे दिये गए थे। इसके अतिरिक्त, साधारण नियमों के सम्बन्ध में भी गवर्नर-जनरल के अधिकारों में किसी प्रकार की कमी नहीं आई थी। केन्द्रीय व्यवस्थापिका को इस अधिनियम के अन्तर्गत एक ओर जो कुछ अधिकार प्रदान किये गये थे दूसरी ओर से उनको छीन लिया गया था। उदाहरणार्थ, केन्द्रीय व्यवस्थापिका को यह अधिकार दे दिया गया था कि वह न्यायालयों, ब्रिटिश-भारत के सम्पूर्ण स्थानों तथा सभी व्यक्तियों के लिये नियम बना सके परन्तु इस पर कुछ आवश्यक शर्तें रखदी गई थीं। ऐसे विषयों पर, गवर्नर-जनरल की पहले से ही स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी, जिनका सम्बन्ध किसी प्रांत से अथवा किसी प्रांतीय व्यवस्थापिका सभा के कानून में परिवर्तन करने से होता था। यह सत्य है कि इस प्रकार के प्रतिबन्ध के कारण केन्द्रीय व्यवस्थापिक-सभा प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभा के कार्य में व्यर्थ हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी, किन्तु अन्य विषयों पर भी गवर्नर-जनरल की पहले से स्वीकृति लेनी आवश्यक थी। उदाहरणार्थ, जब कभी सरकारी ऋण, भारतीय आय, धर्म अथवा धार्मिक रीतियों, सैनिक कार्यवाहियों, विदेशी और राजनीतिक सम्बन्धों तथा किसी कानून या अध्यादेश पर (जिसे गवर्नर-जनरल न

बनाया हो) केन्द्रीय व्यवस्थापिका को गवर्नर-जनरल की पहले से स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक होता था। इसके अतिरिक्त, जब दोनों सदनों से कोई विधेयक पास हो जाता था, तब भी गवर्नर-जनरल की स्वीकृति की आवश्यकता पड़ती थी। ऐसे अवसरों पर गवर्नर-जनरल को अधिकार होता था कि वह उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान करे अथवा नहीं और यदि वह चाहता तो विधेयक को केन्द्रीय व्यवस्थापिका के सम्मुख पुनः विचार करने के लिये भेज देता था या वह इसे इंगलैंड के सम्राट् की स्वीकृति के लिये भी भेज सकता था। वह किसी भी ऐसे विधेयक अथवा किसी विधेयक में होने वाले संशोधन को, जिसका सम्बन्ध ब्रिटिश-भारत में या उसके किसी भाग में शान्ति भंग करने से होता था, केन्द्रीय व्यवस्थापिका में उपस्थित होने से रोक सकता था। इस सम्बन्ध में यह बात स्मरणीय है कि यदि केन्द्रीय व्यवस्थापिका किसी विधेयक को उपस्थित न करे अथवा उपस्थित करके उसे पास न करे तो गवर्नर-जनरल यह प्रमाणित कर सकता था कि शान्ति स्थापना के लिये तथा भारतीय सरकार के हित के लिये अमुक विधेयक आवश्यक है और फिर वह विधेयक व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास किया गया ही समझा जाता था। यह सत्य है कि इस प्रकार बना हुआ नियम ब्रिटिश संसद के समक्ष उपस्थित किया जाता था और जब तक उस पर इंगलैंड के सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त नहीं हो जाती थी उसे प्रयोग में नहीं लाया जा सकता था, किन्तु विशेष आवश्यकता के अवसर पर गवर्नर जनरल यह भी आज्ञा दे सकता था कि यह कानून शीघ्र ही प्रयोग में आयेगा और उस विधेयक को तुरन्त ही कानून का रूप दे दिया जाता था और उसका उपयोग तब तक किया जा सकता था जब तक कि इंगलैंड का सम्राट उसे रोकने के लिये आदेश न दे।

भारत मंत्री तथा उसकी कौन्सिल

सन् १६१६ के अधिनियम ने भारत-मंत्री का उत्तरदायित्व पहले की अपेक्षा अधिक वास्तविक कर दिया था क्योंकि अब उसका वेतन संसद द्वारा दिया जाने लगा। अब उसकी कौंसिल के सदस्यों की संख्या भी निश्चित कर दी गई थी जो कि कम से कम आठ तथा अधिक से अधिक बारह थी। इनमें कम से कम आधे सदस्यों के लिये नियुक्ति से पहले कम से कम १० वर्ष तक भारतवर्ष में राज्य सेवा-कार्य अथवा निवास आवश्यक था। इन सदस्यों का कार्य-काल अब ७ वर्ष से घटा कर ५ वर्ष कर दिया गया और प्रत्येक सदस्य को १२०० पौंड वार्षिक वेतन दिया जाने लगा। नियुक्ति के समय जो सदस्य भारत में स्थायी रूप से रहता था उसे ६०० पौंड भत्ते के रूप में और दिये जाते थे। भारत-मंत्री को

भारत के प्रशासन-कार्य में विशेष अधिकार प्राप्त थे। कौंसिल का अधिकार तो सिर्फ उन्हीं खर्चों पर था जिनका भार भारतीय-आगम पर पड़ता था और जिनका सम्बन्ध राज्य-सेवा कार्यों से होता था। इन दोनों विषयों का निर्णय कौंसिल की बैठक में बहुमत से होता था मगर साथ ही भारत मन्त्री को यह अधिकार होता था कि वह किसी भी मामले को कौंसिल के समक्ष रखे अथवा नहीं। इस अधिनियम के द्वारा भारत-मन्त्री से एजेन्सी प्रकार्य ले लिये गये थे और उन्हें भारतवर्ष के 'हाई कमिश्नर' को सौंप दिया गया। हाई कमिश्नर की नियुक्ति गवर्नर-जनरल अपनी कौंसिल की राय से तथा भारत-मन्त्री की स्वीकृति से करता था। भारतीय-विद्यार्थी-विभाग, संचय-विभाग, तथा भारतीय वाणिज्य-कमिश्नर पर नियन्त्रण के कार्य, हाई कमिश्नर के सुपुर्द कर दिये गये।

यह सत्य है कि सन् १६१६ के अधिनियम के अनुसार भारत मन्त्री के अधिकार सीमित कर दिये गए थे और विशेषकर हस्तान्तरित विषयों में उसकी शक्ति कम कर दी गई। भारत-मन्त्री इन विषयों में केवल केन्द्रीय विषयों के अभिरक्षण, दो प्रान्तों के बीच विवाद-ग्रस्त प्रश्नों के निर्णय, ब्रिटिश साम्राज्य-हितों के अभिरक्षण, भारतवर्ष और ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागों के बीच में समस्याओं के सुलझाने और हाई कमिश्नर, ऋण लेने तथा कर्मचारी वर्ग के हितों की सुरक्षा के लिये हस्तक्षेप कर सकता था।

भारत में राज्य सेवायें

सन् १६१६ के अधिनियम में राज्य सेवाओं से सम्बन्धित उपबन्ध भी थे। भारतीय राज्य सेवाओं के सदस्य सरकार के अधीन होते थे और इन सदस्यों की नियुक्ति करने वाले अधिकारी से कम शक्ति रखने वाला कोई भी अधिकारी इन्हें पदच्युत नहीं कर सकता था। भारत मन्त्री को यह अधिकार दिया गया था कि राज्य सेवाओं के किसी भी पदच्युत सदस्य को फिर से उसके स्थान पर आसीन कर दे। यदि कोई सदस्य, जिसे भारत मन्त्री ने अपनी कौंसिल की राय से नियुक्त किया, हो, अपने प्रति किसी अधिकारी द्वारा दी गई आज्ञा को हानिप्रद समझता हो और साथ ही वह अपने प्रति अन्याय को दूर कराने में असमर्थ रहा हो, प्रान्तीय गवर्नर से न्याय के लिये प्रार्थना कर सकता था। ऐसे अवसर पर गवर्नर को यह अधिकार होता था कि वह इस प्रकार की शिकायतों की जाँच कराये और इसके सम्बन्ध में उचित आज्ञा दे।[1] इसके अतिरिक्त, भारत

1. Govt. of India Act 1919, Section, 36 (a)

मन्त्री को राज्य सेवाओं के वर्गीकरण, भर्ती, नौकरियों की परिस्थितियों, वेतन, भत्ते तथा अनुशासन के सम्बन्ध में भी नियम बनाने का अधिकार था। यह अधिकार गवर्नर-जनरल अथवा स्थानीय सरकार को भी दिये जा सकते थे किन्तु शर्त यह थी कि जिन कर्मचारियों की नियुक्ति सन् १६१६ के अधिनियम के पूर्व हुई थी उनके पुराने अधिकार सुरक्षित रखे गए और उनके अधिकारों को समाप्त करने की दशा में प्रतिफल का आयोजन किया गया। राज्य कर्मचारियों के उत्तर-वेतन आदि के नियम वे ही रखे गए जो १६१६ के अधिनियम के पूर्व थे। यद्यपि भारत मन्त्री को इन नियमों में परिवर्तन करने का अधिकार दिया गया तथापि उसके लिये यह आवश्यक था कि राज्य सेवाओं के सदस्य के वह उत्तर वेतन सम्बन्धी अधिकारों को भी ध्यान में रक्खे[1]।

देशी राज्य

इस अधिनियम के अन्तर्गत केवल प्रान्तीय, केन्द्रीय तथा गृह सरकार के प्रबन्ध की ही व्यवस्था नहीं की गई थी वरन् देशी राज्यों के सम्बन्ध में भी वैधानिक परिवर्तन किये गये थे। यह प्रयत्न किया गया कि किसी प्रकार ब्रिटिश सरकार तथा देशी राज्यों में सहयोग की भावना पैदा हो जाय। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक नरेश-मण्डल की स्थापना की गई। इसके साथ ही नरेश मण्डल की एक स्थायी समिति का निर्माण भी किया गया। जब कभी ब्रिटिश सरकार तथा देशी राज्यों में मतभेद होता था तो उसकी जाँच करने के लिये एक आयोग की स्थापना होती थी। मोन्टेग्यू तथा चेम्सफर्ड दोनों ने ही देशी नरेशों को यह विश्वास दिलाना आवश्यक समझा कि भारतवर्ष में किसी प्रकार का भी वैधानिक परिवर्तन क्यों न हो देशी नरेशों के उन अधिकारों तथा विशेषाधिकारों में, जो कि उन्हें विभिन्न सन्धियों तथा सनदों द्वारा प्राप्त हुए हैं, कोई कमी नहीं आयेगी। इधर देशी नरेश इस अधिनियम के पास हो जाने पर अपने अधिकारों में वृद्धि करना चाहते थे, किन्तु इस सम्बन्ध में यह बात जान लेना आवश्यक है कि ब्रिटिश सरकार देशी नरेशों को अपने अधीन मानती थी और ब्रिटिश सरकार ने अपने लिये यह अधिकार रखा था कि उसको देशी राज्यों के कार्य में हस्तक्षेप करने का पूर्ण अधिकार होगा और ऐसा करते समय कोई भी सन्धि अथवा सनद उसके मार्ग में नहीं आवेगी।

सन् १८५७ की क्रान्ति के कुछ समय बाद तक ब्रिटिश सरकार देशी

---

1 Sections, 96 (2) and 96 (3)

नरेशों को संदेह की दृष्टि से देखती थी। उसे भय था कि कहीं ये सब लोग मिलकर ब्रिटिश सरकार का विरोध न करने लग जाँय। अतः वह उनके आपस में मिलने-जुलने को रोकने के प्रयत्न में रहती थी। किन्तु जिस समय से भारत के जन साधारण में राष्ट्रीय भावना जाग्रत होने लगी थी ब्रिटिश सरकार की देशी नरेशों के प्रति नीति में एक विशाल अंतर हो गया था और अब ब्रिटिश सरकार ने उनके प्रति सहायता की नीति को बरतना आरम्भ कर दिया था। लॉर्ड लिटन, लॉर्ड कर्जन तथा लॉर्ड मिन्टो सब इस नीति के समर्थक थे। लॉर्ड हार्डिंज तो और भी अधिक आगे बढ गया था। उसने देशी नरेशों का एक सम्मेलन किया और उसमें देशी राज्यों में उच्च शिक्षा फैलाने के विचार को रखा तथा देशी नरेशों को आपस में मिलने-जुलने के लिये भी प्रोत्साहित किया। जब कभी उनके हित का प्रश्न उठता था तो ऐसे अवसर पर वह स्वय उनसे परामर्श कर लिया करता था। लॉर्ड चेम्सफर्ड ने भी इन्हीं लोगों की नीति का अनुसरण किया। उसने उनकी माँगों के प्रति सहानुभूति का रुख अपनाया। उनकी प्रमुख माँगें ये थीं कि उन्हें अखिल भारतीय नीति में भाग लेने दिया जाये, दूसरे ब्रिटिश सरकार तथा देशी राज्यों के मध्य होने वाले अभियोगों का निर्णय केवल ब्रिटिश न्यायालयों के ही सुपुर्द नहीं किया जाये तथा सन्धियों की सम्पूर्ण धाराओं का पूर्णतया पालन किया जाये।

अतः १६१६ के अधिनियम में, योजना के अनुसार ब्रिटिश सरकार तथा देशी राज्यों के मध्य सहयोग की कोई भावना न होते हुए भी राजकीय उद्घोषणा द्वारा नरेश-मण्डल की स्थापना के निर्णय की घोषणा की गई। लार्ड चेम्सफर्ड ने शासक-नरेशों तथा शासक-प्रमुखों में अन्तर बताया। उसके अनुसार शासक-नरेश वे समझे गये जिन्हें पूर्वजों के समय से सलामी दी जाती थी तथा जिन्हें आन्तरिक शासन में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी, ये नरेश मण्डल के सदस्य भी होते थे। इनके अतिरिक्त, शेष शासक-प्रमुख कहलाते थे। नरेश-मण्डल में १०८ शासक-प्रमुख होते थे जो कि स्वय अपने अधिकारों के आधार पर ही नरेश मण्डल के सदस्य बनते थे तथा १२ शासक-प्रमुखों के प्रतिनिधि होते थे। नरेश-मण्डल की वार्षिक बैठक होती थी और इसका सभापतित्व वायसराय द्वारा किया जाता था। वायसराय की अनुपस्थिति में नरेश-मण्डल द्वारा चुना गया चान्सलर सभापति का कार्य करता था। वायसराय, नरेश-मण्डल से देशी राज्यों की भूमि आदि के बारे में परामर्श किया करता था।

नियमित आयोग (Statutory Commission)

सन् १९१९ के अधिनियम में यह भी व्यवस्था थी कि अधिनियम के पास हो जाने के १० वर्ष पश्चात् भारत मन्त्री, संसद के दोनों सदनों की सम्मति से ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति के लिये एक आयोग का नाम प्रस्तावित करेगा। सरकार द्वारा स्वीकृत होने पर इस आयोग के सदस्यों द्वारा भारत में राजनैतिक प्रगति, शिक्षा, प्रतिनिधि संस्थाओं आदि का निरीक्षण करने का आयोजन था। इन सदस्यों को यह भी राय देना था कि भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना किस अंश तक कर देनी चाहिये। उन्हें भारत में केन्द्र तथा प्रान्तीय शासनों के बीच सम्बन्धों की जाँच का कार्य भी करना था।[1] इस आयोग की व्यवस्था भी देश में उत्तरदायी शासन के लिये कम महत्वपूर्ण नहीं है।

मान्ट-फोर्ड सुधारों का व्यवहारिक रूप

प्रोफेसर कीथ ने सत्य ही कहा है कि सन् १९१९ के भारत-शासन-अधिनियम के पास होने से पूर्व ही अवस्थायें उसके प्रतिकूल हो गई थीं और विशेषकर इस अधिनियम की जटिल योजना की सफलता के लिये यह आवश्यक था कि देश में उसके लिये अनुकूल वातावरण उपस्थित हो। यदि यह अधिनियम महायुद्ध के छिड़ने से पहिले या उसके ठीक प्रारम्भ के समय पास कर दिया जाता तो कदाचित् भारतवासी उसे सहर्ष अंगीकार कर लेते। परन्तु महायुद्ध की घटनाओं तथा उस काल में देश की आन्तरिक परिस्थितियों ने मिलकर भारतवासियों में एक ऐसी नई चेतना उत्पन्न कर दी थी जिसकी संतुष्टि के लिये मान्ट-फोर्ड सुधारों जैसी अभावपूर्ण योजना पर्याप्त नहीं थी। महायुद्ध में भारतीय सैनिकों को पश्चिमी सेनाओं के साथ मिलकर लड़ने का मौका मिला था। अतएव इस सम्पर्क से उनमें दासता की विरोधी आत्म-विश्वास की भावना का उदय हो गया था। उन्हें यह भी आशा थी कि महायुद्ध के समापन के पश्चात् उनका देश भी स्वतन्त्र कर दिया जायगा क्योंकि मित्रराष्ट्र चारों ओर यह प्रचार कर रहे थे कि वे स्वतन्त्रता के लिये युद्ध कर रहे हैं। अधिकांश भारतीय भी इसी आशा के पात्र थे। परन्तु युद्ध की समाप्ति के पश्चात् रौलट नियम, प्रेस का नियन्त्रण, जलियानवाला बाग की दुर्घटना, खिलाफत के प्रश्न पर ब्रिटिश सरकार की नीति आदि घटनाओं ने भारतवासियों के हृदय को आवेशपूर्ण बना दिया। उन्हें इस बात का स्पष्ट

---

1. Section, 41 (1) to (3)

ज्ञान हो गया कि सरकार के कथन और वास्तविक नीति में बहुत अन्तर है। अत संदेह और असंतोष के वातावरण में इस अधिनियम का कार्यकरण आरम्भ हुआ जिसके कारण इसकी असफलता आरम्भ से ही प्रतिभासित होने लगी।

परन्तु केवल वातावरण की अनुकूलता को ही मान्ट-फोर्ड सुधारों की असफलता का कारण मान लेना उचित नहीं है। वास्तव में सुधारों की यह योजना, विशेषकर द्विविध शासन-प्रणाली की व्यवस्था, इतनी दोषपूर्ण थी कि उसका सफल कार्यकरण संभव नहीं था। भारतवासियों के असंतोष के होते हुए भी यदि उनके लिये कोई एसी योजना बनाई जाती जिसमें उनको उत्तरदायी शासन प्रदान करने का वास्तविक प्रयत्न किया गया होता तो वे उसे चुपचाप स्वीकार कर लेते। लेकिन मान्ट-फोर्ड सुधार में उत्तरदायी शासन का केवल दिखावा मात्र था, सरकार की वास्तविक निरंकुशता में इससे कोई विशेष अन्तर नहीं होता था। स्वयं अंग्रेज अधिकारियों की सम्मति में द्विविध-शासन-प्रणाली जटिल एवं अव्यवस्थित थी। लार्ड कर्जन तथा लार्ड बर्कनहैड का भी यही विचार था कि मान्ट फोर्ड सुधारों की योजना कोरी बुद्धिमत्तापूर्ण है। ऐसी दशा मे इसके सफल होने की अधिक संभावना नहीं थी।

यह हम ऊपर बतला ही चुके हैं कि सन् १६१६ के भारत-शासन अधिनियम की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता प्रान्तों में द्विविध-शासन की स्थापना थी। २० अगस्त सन् १६१७ की घोषणा में भारत में उत्तरदायी शासन के क्रमिक विकास का लक्ष्य प्रकट किया गया था अत विकास की क्रमिकता के विचार से पहिले प्रान्तों में ही द्विविध-शासन के सुधार का श्रीगणेश किया गया। परन्तु द्विविध-शासन की यह व्यवस्था सिद्धान्त, योजना तथा व्यावहारिक रूप सभी प्रकार से दूषित थी। सिद्धान्तत. यह प्रणाली बिल्कुल गलत थी। शासन को दो बेमेल हिस्सों में विभाजित करके इसने उसकी सजीव एकता (Organic unity) को समाप्त कर दिया था। यह सर्वविदित सत्य है कि शासन का कार्य उसके स्वरूप को विच्छिन्न करके सुचारु रूप से नहीं चलाया जा सकता। द्विविध-शासन-प्रणाली द्वारा शासन को ऐसे दो भागों में बाँट दिया गया था जिसमें से एक सरकारी तो दूसरा गैर-सरकारी, एक निर्वाचित था तो दूसरा अनिर्वाचित। संसार के किसी भी शासन-विधान में ऐसी विचित्र व्यवस्था अभी तक देखने में नहीं आई। सत्य बात यह है कि भारतीयों में उत्तरदायी-शासन का केवल भ्रम उत्पन्न करने के लिये ब्रिटिश सरकार ने इस प्रणाली को जन्म दिया था।

सुधार योजना में द्विविध-शासन की प्रणाली दूषित थी। विषयों का विभाजन इस प्रकार किया गया था कि हस्तान्तरित विषयों के लिये उत्तरदायी मंत्री स्वतंत्र रूप में कार्य नहीं कर सकते थे। उन्हें किसी विभाग का नियंत्रण सम्पूर्ण रूप से नहीं दिया गया था। इस अधिनियम के अन्तर्गत कार्य करते हुए मद्रास के विकास मंत्री के कथन से द्विविध शासन का यह दोष प्रकट हो जाता है। मुड्डीमैन कमेटी के समक्ष अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा कि "मैं विकास मंत्री था परन्तु वनों पर मुझे कोई अधिकार नहीं दिया गया था, मैं व्यवसाय-मंत्री भी था पर कारखाने मेरे अधिकार-क्षेत्र से बाहर थे क्योंकि वे सरक्षित विषयों में सम्मिलित थे; कृषि-मंत्री होते हुए भी सिंचाई की व्यवस्था पर मुझे कोई अधिकार नहीं दिया गया था।" इस उदाहरण से स्पष्ट है कि विषयों का हस्तांतरित एवं सरक्षित शीर्षकों में विभाजन कितनी दोषपूर्ण विधि से किया गया था। परस्पर सगठित विषय केवल आर्थिक एवं प्रशासनीय महत्व के कारण अस्वाभाविक रूप में अलग कर दिये गए थे। इसस इस प्रणाली का स्वाभाविक दोष और भी बढ गया था।

इसके अतिरिक्त, मान्ट-फोर्ड सुधारों के आधारभूत उपबन्धों के कारण द्विविध-शासन के व्यावहारिक रूप में कुछ ऐसी कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई थीं जिनके कारण इसकी विफलता अवश्यम्भावी हो गई। अधिनियम की धारा २९(२) के अनुसार गवर्नर को कार्य की सुविधा के लिये नियम बनाने तथा अध्यादेश जारी करने के विस्तृत अधिकार मिल गए थे और वे इन अधिकारों का अबाधित रूप से प्रयोग करते थे। वे अधिकारतः ऐसे नियम बनाया करते थे जिनके फलस्वरूप राज्य की अधिकाधिक शक्ति उन्हीं के हाथों में रहे। दूसरे, वह मंत्रियों से सम्मिलित रूप मे परामर्श नहीं करते थे। जिस विभाग के सम्बन्ध में उन्हें कार्य करना होता था उसी से सम्बन्धित मंत्री विशेष से वे व्यक्तिगत रूप में मिल लिया करते थे। इसके फलस्वरूप, मंत्रियों में केबिनेट प्रणाली के समान, सयुक्त उत्तरदायित्व की प्रथा का जन्म नहीं हो सका, जिसके उत्पन्न हो जाने पर द्विविध-शासन को किसी हद तक सफलता अवश्य हो सकती थी। हस्तांतरित विषयों को सरक्षित विषयों की अपेक्षा निम्नस्तर देने से उनके लिये उत्तरदायी मंत्रियों में हीनता की भावना आ गई थी। न तो उनको कौंसिल के सदस्यों के समान प्रतिष्ठा प्राप्त थी और न उन्हें सम्राट का सेवक समझा जाता था। साथ ही व्यवस्थापिका-सभाओं में नाम निर्देशित सदस्यों की अधिकता के कारण उनका प्रभाव और भी कम हो गया

था। केवल उन्हीं मन्त्रियों को गवर्नर का कुछ सहयोग मिल पाता था जो कार्यपालिका के गैर-सरकारी सदस्यों के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित रखने में समर्थ थे। इस सब का फल यह हुआ कि मन्त्रियों को दल के आधार पर उत्तरदायी शासन की परम्पराओं को निर्मित करने का मौका न मिल सका। अक्सर यह होता था कि यदि किसी प्रान्त में मन्त्रीगण प्रतिष्ठित अथवा विशेष प्रभावयुक्त होते थे तो व्यवस्थापिका-सभा में कुछ चहल-पहल दिखाई देती थी और शासन-कार्य की आलोचना की जाती थी अन्यथा यथापूर्व गवर्नर की स्वेच्छा से ही प्रान्त का शासन चलता था।

गवर्नर के विशेष प्रभुत्व के अतिरिक्त मन्त्रियों की दूसरी कठिनाई धन के सम्बन्ध में थी। धन पर नियन्त्रण न होने के कारण उन्हें पग-पग पर कठिनाई का सामना करना पड़ता था। मेस्टन कमेटी ने प्रान्तीय आय में से केन्द्रीय शासन के लिये चन्दे के जो उपबन्ध बनाये थे उनके अनुसार प्रान्तों की आय का एक बहुत बड़ा भाग केन्द्र को देना पड़ता था। दूसरे अफगानों से युद्ध चलने के कारण (सन् १९२०) प्रान्तों की आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ गई थी। प्रान्तीय आगम का एक बड़ा भाग क्रान्ति विरोधी कार्यवाहियों में भी खर्च किया जाता था। अत मन्त्रियों को इस सम्बन्ध में बड़ी कठिनाई हुई क्योंकि धन पर अधिकार न होने के कारण वे अपने उत्तरदायित्वों को वहन नहीं कर सकते थे।

मन्त्रियों को तीसरी कठिनाई यह थी कि उनको अपने विभाग के सरकारी कर्मचारियो पर पूरे नियन्त्रण का अधिकार नहीं दिया गया था। 'निर्देश पत्र' में गवर्नर को यह अनुदेश दिया जाता था कि वे सिविल सरविस के सदस्यों को पूर्ण संरक्षण दें। अत सरकारी कर्मचारियों पर उनका प्रभाव नहीं था। उनकी नियुक्ति, स्थानान्तरण इत्यादि सब गवर्नर के हाथ में रहते थे। इससे मन्त्रियों की स्थिति और भी दुर्बल हो गई जिसके कारण द्विविध शासन की प्रणाली का सफल कार्य करण और भी कठिन हो गया।

फिर भी, सन् १९१९ के भारत शासन अधिनियम का भारतीय राजनीतिक प्रगति में कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। शासन के प्रजातन्त्री करण की दिशा में यह पहिला चरण था। पहिली बार इसके द्वारा भारतीयों को स्व-शासन की कठिनाइयों का अनुभव करने का मौका मिला। प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायित्व की स्थापना द्वारा इस अधिनियम ने देश की वैधानिक प्रगति में एक नए युग का प्रारम्भ किया।

———

अध्याय ३

सन् १९३५ के अधिनियम की जननी परिस्थितियाँ तथा विशेषताएँ

सन् १९१९ के भारत शासन अधिनियम से भारतीय जनता संतुष्ट नहीं हुई थी। यह अधिनियम उत्तरदायी शासन के विकास में प्रथम चिन्ह होते हुए भी बढ़ी हुई आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये काफी नहीं था। दूसरे द्विविध शासन सिद्धान्ततः योजना में तथा व्यावहारिक रूप में दोषों से भरा हुआ होने के कारण परीक्षण में असफल रहा। जिस उद्देश्य को लेकर इसे कार्यान्वित किया गया था वह वाञ्छनीय रूप पूरा नहीं हुआ, उत्तरदायी शासन के विकास को इससे कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला और न हस्तान्तरित विषयों से जनता को राज्य की कोई वास्तविक शक्ति ही हस्तान्तरित हुई। व्यवस्थापिका सभाओं में जो परिवर्तन किये गये थे उनके कारण वे प्रजातान्त्रिक संस्थाएँ नहीं बन सकती थीं। गवर्नरों के हाथों में विस्तृत शक्तियाँ केन्द्रित कर दी गई थीं। हस्तान्तरित विभागों के लिये राजस्व के पृथक् स्रोत नहीं दिये गए थे। उनका अपने विभाग के सरकारी कर्मचारियों पर नियन्त्रण नहीं था। इन सब कारणों से प्रान्तों में उत्तरदायी शासन का विकास नहीं हो पाया और परिणाम यह हुआ कि जनता नए सुधारों के लिये आग्रह करने लगी जिसके कारण सरकार के लिये एक नया अधिनियम बनाना आवश्यक हो गया।

परन्तु सन् १९१९ के अधिनियम की असफलता के अतिरिक्त, कुछ और भी घटनाएं ऐसी थीं जिन्होंने सन् १९३५ के अधिनियम को जन्म देने में योग दिया। सन् १९१९ से लेकर सन् १९३५ तक की प्रायः सभी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय घटनाओं का इस अधिनियम के निर्माण पर प्रभाव पड़ा। इन घटनाओं का हम इस पुस्तक के प्रथम भाग 'राष्ट्रीय विकास की संक्षिप्त रूप-रेखा' में विस्तृत रूप से वर्णन कर चुके हैं। संक्षेप में वे ये हैं—स्वराज्य-दल का कौंसिलों में प्रवेश, साइमन कमीशन का बहिष्कार, नेहरू रिपोर्ट, नमक-सत्याग्रह प्रथम गोल मेज सम्मेलन का बहिष्कार, गांधी इर्विन समझौता और द्वितीय एवं

तृतीय गोल-मेज सम्मेलन। इन सभी घटनाओं ने अंग्रेजी सरकार को भारतीय स्वराज्य के मार्ग में एक नवीन चरण उठाने के लिये बाध्य किया।

यहाँ पर उपर्युक्त घटनाओं का एक संक्षिप्त विवरण दे देना आवश्यक है। चौरी-चौरा की दुर्घटना के पश्चात् महात्मा गाँधी द्वारा आन्दोलन के स्थगित करने के परिणाम-स्वरूप स्वराज्य दल का उदय हुआ। इसके नेताओं पंडित मोतीलाल नेहरू और चितरंजनदास ने यह योजना बनाई कि असहयोग आन्दोलन में सन्निहित सर्वतोमुखी बहिष्कार को छोड़कर कौंसिलों में प्रवेश किया जाय और फिर वैधानिक आन्दोलन का आरम्भ किया जाय। अंग्रेजी सरकार के साथ किसी प्रकार भी सहयोग न करना तथा शासन-कार्य में रोड़े अटकाना, इस ने अपना मुख्य कार्यक्रम बनाया। आंशिक सफलता के साथ यह दल गति-रोध की नीति का पालन करता रहा परन्तु सरकार को यह ज्ञात हो गया कि भारतीयों को संतुष्ट करने के लिये कोई ठोस कदम अवश्य उठाना पड़ेगा। अतः सन् १६१६ के अधिनियम के उपबन्धों के अधीन २६ नवम्बर सन् १६२७ को सरकार ने भारत की राजनीतिक स्थिति का अध्ययन करने तथा उत्तरदायी शासन की स्थापना के सम्बन्ध में सिफारिशें देने के लिये साइमन कमीशन की नियुक्ति की। यह दो बार भारत आया परन्तु इसमें भारतीय सदस्य एक भी न होने के कारण जनता ने इसका बहिष्कार किया। सभी स्थानों पर काले झण्डों और 'साइमन, वापिस जाओ' के नारों से इसका स्वागत किया गया। कांग्रेस ने भी इसका विरोध किया। सन् १६३० में इस कमीशन ने जो रिपोर्ट प्रकाशित की वह भी देश की समस्याओं का सम्पूर्ण अध्ययन न होने के कारण लोकप्रिय न हो सकी। लेकिन इस घटना की प्रतिक्रिया बड़ी रचनात्मक हुई। भारत-मंत्री लार्ड बिरकन हैड ने इसी बीच में कहीं यह प्रकट कर दिया था कि अंग्रेज जाति ही भारतीयों का उद्धार कर सकती है क्योंकि वह उनकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है और उनके द्वारा साइमन कमीशन में 'सर्व गोरांग' सदस्यों की नियुक्ति के कारण, भारतीय नेताओं ने उनके जातीय अभिमान को अपना अपमान और अयोग्यता के तर्क को अपने लिये चुनौती समझा। अत: जिस समय साइमन कमीशन भारत का दौरा कर रहा था उसी समय कांग्रेस ने एक सर्व-दल सम्मेलन का आयोजन किया और इसमें भारत के लिये एक नए विधान की रूप-रेखा बनाने के उद्देश्य से एक समिति नियुक्त की, जिसके अध्यक्ष पंडित मोतीलाल नेहरू नियुक्त किये गए। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट (नेहरू रिपोर्ट) प्रकाशित कर यह सिद्ध कर दिया कि भारतवासी केवल आलोचना या आन्दोलन करना

ही नहीं जानते हैं, बल्कि उनमें रचनात्मक योग्यता भी है। देश के राष्ट्रीय आन्दोलन की यह व्यावहारिक अभिव्यक्ति थी और लार्ड बर्किनहैड की आंग्ल-श्रेष्ठता की भावना का मुँह तोड़ जवाब था।

परन्तु इन घटनाओं से सरकार के रुख में कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ जबकि दूसरी ओर भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना पहिले से और भी दृढ़ हो गई। महात्मा गांधी ने देश की मुक्ति के लिये अब एक अन्य उपाय को काम में लाने का निश्चय किया। २६ जनवरी सन् १९३० को कांग्रेस द्वारा स्वतंत्र दिवस मनाने के पश्चात् उन्होंने वाइसराय लार्ड इरविन को दो बार चेतावनी दी कि यदि उनकी माँगें पूरी नहीं की गईं तो वे साबरमती में नमक कानून तोड़कर सविनय अवज्ञा आन्दोलन का आरम्भ कर देंगे। परन्तु वाइसराय पर इसका कुछ असर न हुआ और योजना के अनुसार १२ मार्च को गाँधी जी ने अपने आश्रम के साथियों एवं गुजरात विद्यापीठ के विद्यार्थियों को साथ लेकर अपनी इतिहास प्रसिद्ध डांडी की यात्रा आरम्भ कर दी और ६ अप्रैल को वहाँ पहुँच कर उन्होंने अपने अनुयायियों सहित नमक कानून को भंग किया। ९ अप्रैल को गाँधी जी ने इस आन्दोलन को विस्तार देने के उद्देश्य से एक घोषणा की जिसमें उन्होंने देश वासियों को प्रत्येक गाँव में अनियमित रूप से नमक बनाने तथा अन्य नियमों को तोड़ने की भी नीति अपनाने का निर्देश दिया। इस आन्दोलन से पहिले लार्ड इरविन यह घोषणा कर चुके थे कि शीघ्र ही देश में वैधानिक प्रगति पर विचार करने के लिये सरकार लन्दन में ब्रिटिश भारत एवं देशी रियासतों के प्रतिनिधियों की एक गोल मेज सम्मेलन का आयोजन करने वाली है। लेकिन कांग्रेस ने लाहौर के वार्षिक अधिवेशन (२९ दिसम्बर १९२९) में यह निर्णय प्रकट कर दिया था कि वह इसमें भाग न लेगी। अतः १२ नवम्बर सन् १९३० से आरम्भ होने वाले प्रथम गोलमेज सम्मेलन में एक भी कांग्रेसी उपस्थित नहीं हुआ और यह सम्मेलन भारत की भावी स्थिति से सम्बन्धित कुछ समस्याओं पर विचार करके १९ जनवरी सन् १९३१ को समाप्त हो गया। द्वितीय गोलमेज के अवसर पर (७ सितम्बर सन् १९३१ से १ दिसम्बर १९३१) महात्मा गाँधी तथा लार्ड इरविन में समझौता हो जाने के कारण गाँधी जी भी उपस्थित थे। परन्तु अंग्रेजों ने ऐसी कूटनीति का उपयोग किया कि देश की स्वाधीनता का प्रश्न तो दब गया और साम्प्रदायिकता की समस्या उभर आई। संघ-निर्माण की भी समस्या न सुलझ सकी। गाँधी जी ने इन दोनों समस्याओं के लिये उचित सुझाव प्रस्तुत किये परन्तु अन्त में उनको निराश लौटना पड़ा। सरकार ने १७ नवम्बर सन १९३२ को

तृतीय बार गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया परन्तु इस बार भी इसमें कॉंग्रेस का एक भी सदस्य उपस्थित नहीं हुआ और अन्य सम्मेलनों की भाँति इस सम्मेलन में भी हिन्दू और मुसलमानों के परस्पर हितों के संरक्षण पर वाद-विवाद होने के कारण देश के लिये कोई एक योजना न बन सकी। अत हिन्दू-मुस्लिम समस्या का बहाना लेकर अन्त में भारत के लिये विधान बनाने का कार्य अँग्रेजों ने स्वय अपने हाथों में ले लिया और इसके फलस्वरूप सन् १९-५ का अधिनियम भारतवासियों के सामने आया।

इस विवरण से स्पष्ट है कि सन् १९३५ का भारत-शासन-अधिनियम उन घटनाओं का परिणाम था जो सन् १९१९ से लेकर सन् १९३५ तक भारत के राजनैतिक आकाश को तीव्र गति से आच्छादित करती रहीं थीं। अनेक वाद-विवादों तथा समझौतों के पश्चात् इसका जन्म हुआ था। सन् १९३० की साइमन कमीशन रिपोर्ट, सन् १९३०–३२ के गोल मेज सम्मेलन, सन् १९३३ का भारतीय वैधानिक सुधारों का 'व्हाइट पेपर', सन् १९३४ की 'व्हाइट पेपर' के प्रस्तावों पर सयुक्त विशिष्ट समिति की रिपोर्ट—इन सब न मिलकर सन् १९३५ से भारत-शासन अधिनियम को आधार प्रदान किया।[1]

विशेषताएँ

सन् १९३५ के भारत-शासन अधिनियम की मूलभूत विशेषताओं का तीन विभागों मे अध्ययन किया जा सकता है: अखिल भारतीय सघ की व्यवस्था, प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना और आरक्षण तथा अभिरक्षण। ये तीनों विशेषताएँ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।

अखिल भारतीय सघ—

अधिनियम में सघात्मक विधान की जो रूपरेखायें बनाई गई थीं उनमे कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जिनके कारण वह अन्य सघात्मक विधानों से विभिन्न हो गया था। इसका एक कारण यह था कि सघ की योजना स्वय भारतीय जनता द्वारा प्रस्तावित नहीं की गई थी, अपितु ब्रिटिश सरकार द्वारा उस पर थोपी गई थी। सघ की रचना के लिये जो नियम बनाये गए थे वे क्लिष्ट थे। इसकी इकाइयों की स्थिति एव उनकी शासन-प्रणाली तथा कार्य-प्रणाली

[1] The Indian Constitution by V S Krishnaswami M. A, B. L, Advocate High Court, Madras, Preface, Page (i), Revised edition (1937)

आदि बहुत भिन्न थीं। उनके आकार-प्रकार में असमानता थी। ब्रिटिश भारत के प्रान्त लोकतन्त्रात्मक शासन से युक्त थे। देशी रियासतों में एकतन्त्रात्मक राज्य स्थापित था। केवल उन्हीं गवर्नरों एवं चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों तथा देशी राज्यों को संघ में सम्मिलित करने की व्यवस्था की गई थी जो स्वयं उनमें आने के इच्छुक थे। देशी राज्यों के लिये यह शर्त रखी गई थी कि संघ में प्रवेश करने के पश्चात् कम से कम ५२ प्रतिनिधि वे संघीय राज्य-सभा में भेजेंगे और संघ की घोषणा उस समय तक न की जायगी जब तक कि प्रवेश करने वाले राज्यों की कुल जन-संख्या सारे राज्यों की जनसंख्या की कम से कम आधी न होगी। संघ में सम्मिलित होने वाले प्रत्येक राज्य के शासक को एक प्रवेश-करण-पत्र (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर करने थे और तत्पश्चात् सम्राट् द्वारा उसका निरीक्षण और स्वीकृति आवश्यक थी। इन पत्रों में शासकों को उन विषयों का उल्लेख करना था जिनके सम्बन्ध में वे संघीय-व्यवस्थापिका-सभा को नियम बनाने का अधिकार देने के लिये तैयार थे और साथ ही उनको यह भी ध्यान में रखना था कि उनकी कोई शर्त अधिनियम की मूल-योजना के विपरीत न हो। इस प्रकार संघ की स्थापना सम्राट द्वारा होती थी। संघ में प्रवेश करने वाली इकाइयों में पारस्परिक समझौते को इसके निर्माण का आधार नहीं बनाया गया था। यह सब सम्राट को ही निश्चित करना था कि कौन-कौनसी रियासतें संघ में सम्मिलित होंगी और उनके साथ क्या शर्तें रक्खी जायेंगी। संघीय-विधान में संशोधन करने की प्रक्रिया को बड़ा जटिल बना दिया गया था क्योंकि ब्रिटिश संसद् में इसकी शक्ति निहित की गई थी। देशी रियासतें अपनी असहमतता द्वारा संशोधन के मार्ग में बड़ी रुकावट पैदा कर सकती थीं। इस प्रकार, संघात्मक राज्य की स्थापना के लिये जो परिस्थितियाँ, कारण और प्रयोजन आदि आवश्यक हैं उनमें से कोई भी इस अधिनियम में सन्निहित योजना में विद्यमान न थे। श्रीचिन्तामणि के शब्दों में, सर सेमुअल होर (Sir Samuel Hoare) ने भारत के लिये संघ की योजना द्वारा उसका बड़ा उपकार किया क्योंकि न तो देश की परम्परा इसके लिये अनुकूल थी और न उसकी स्थापना के लिये देश के विभिन्न राज्यों में कोई इच्छा ही थी।[1]

लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सन् १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित संघीय शासन में अन्य देशों के संघ शासनों से कोई

[1] C. Y. Chintamani and M. R. Masani : India's Constitution at work.

समानता नहीं थी, बल्कि संघ शासन की आधारभूत विशेषताएँ तो इसमें विद्यमान थीं। उदाहरणार्थ, विधान जटिल था, संघ तथा राज्यों में शक्तियों का वितरण किया गया था और एक संघीय न्यायालय की भी स्थापना की गई थी जिसका कर्त्तव्य यह था कि केन्द्रीय एवं प्रान्तीय शासनों तथा व्यवस्थापिका-सभाओं को अपने सुनिश्चित कार्यक्षेत्र के अतिक्रमण करने से रोके। विधान लिखित था और उसके संशोधन की प्रक्रिया भी जटिल थी।

परन्तु इन समानताओं के अतिरिक्त, अन्य प्रकारों में ये विधान अन्य संघीय विधानों से भिन्न था।[1] कनाडा तथा आस्ट्रेलिया की भांति, इसकी इकाइयाँ स्व-शासित उपनिवेश न थे और न उनमें समान हितों के संरक्षण के लिये सम्मिलित होने की उत्कण्ठा थी। ब्रिटिश भारत के प्रान्त, अधिनियम के बनने के पूर्व केन्द्रीय शासन के अधीन थे और उनकी शक्तियों एवं कार्यों पर अनेक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। इस अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय महत्व के विषय प्रान्तों से ले लिये गए और दोनों के बीच शक्तियों का वितरण कर दिया गया। स्पष्ट है कि संघ की व्यवस्था स्वतन्त्र इकाइयों को जोड़ कर नहीं, बल्कि एकात्मक राज्य को विभाजित करके की गई थी।

शक्तियों का वितरण भी अन्य देशों के संघ शासन से भिन्न था। कनाडा में संघ तथा राज्यों की शक्तियाँ निर्धारित कर दी गई थीं, समवर्ती सूची में बहुत थोड़े विषय सम्मिलित किये गए थे और संघ शासन को अवशिष्ट शक्तियाँ प्रदान कर उसकी सत्ता सर्वोच्च बना दी गई थी। आस्ट्रेलिया में संघ को निश्चित शक्तियाँ दी गई थीं, समवर्ती सूची विस्तृत थी और उन विषयों पर जो स्पष्टतः अथवा अप्रत्यक्षतः संघीय नहीं थे राज्य के शासनों को नियम बनाने का अधिकार दिया गया था। परन्तु भारत में संघीय तथा प्रान्तीय विषय, सूचियों द्वारा निश्चित कर दिये गए थे और एक सम्मिलित सूची भी बनाई गई थी जिसमें सम्मिलित विषयों पर संघ तथा राज्य दोनों की व्यवस्थापिका-सभाओं को समान रूप से नियम बनाने का अधिकार था। यह प्रयत्न किया गया था कि प्रायः सभी विषय इन तीनों सूचियों में सम्मिलित कर दिये जाएँ परन्तु अधिनियम द्वारा परिगणित, किसी नये विषय के निकल आने पर गवर्नर की स्वेच्छानुसार उस विषय को संघ अथवा प्रान्त को सौंपने का अधिकार दिया गया था। इस प्रकार अवशिष्ट शक्तियों की व्यवस्था भी केन्द्र ही के हाथों में रखी गई थी।

---

1 A B Keith A Constitutional History of India (1600—1935)

कनाडा में प्रान्तीय शासन के अधिपतियों को संघीय शासन द्वारा नियुक्त किया जाता था और संघीय शासन के प्रसाद-पर्यन्त वे अपना पद ग्रहण करते थे। आस्ट्रेलिया में राज्यों के अधिपतियों को ब्रिटिश सरकार नियुक्त एवं पदच्युत करती थी और संघीय शासन का उन पर कोई अधिकार न था। परन्तु भारत में प्रान्तीय गवर्नर, उन सब विषयों के सम्बन्ध में जिनमें कि वे अपनी स्वेच्छा या व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करते थे, गवर्नर जनरल के नियन्त्रण में थे और इसके अतिरिक्त भारत-मंत्री का अनुमोदन भी इन पर प्रभावी था। कनाडा और आस्ट्रेलिया में गवर्नर-जनरल को मंत्रियों के सम्बन्ध में वैधानिक शासक की स्थिति प्रदान की गई थी, जबकि भारतीय गवर्नर-जनरल अपने निर्णयानुसार कार्य करने में केवल भारत-मंत्री के अधीन था।

कनाडा में, संघीय शासन को यह शक्ति प्रदान की गई थी कि यदि वह उचित समझे तो प्रान्तीय शासन द्वारा बनाए गए नियमों को अस्वीकृत कर दे। परन्तु इस शक्ति का प्रयोग नहीं किया जाता था। आस्ट्रेलिया के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार में राज्यकीय नियमों को अस्वीकृत करने की शक्ति निहित थी परन्तु प्रयुक्त न होने के कारण यह शक्ति प्रायः लुप्त हो गई थी। परन्तु भारत में गवर्नर-जनरल को यह अधिकार था कि वह किसी प्रान्तीय नियम को अपने विशेष उत्तरदायित्वों के पालन में अस्वीकृत कर दे।

इनके अतिरिक्त, अन्य क्षेत्रों में भी भारतीय संघ-शासन कनाडा तथा आस्ट्रेलिया में स्थापित संघ शासन से भिन्न था। पिछले दोनों देशों में संघ तथा प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई थी परन्तु भारत में, विशेषकर केन्द्रीय शासन में, यह व्यवस्था नहीं की गई थी क्योंकि सुरक्षा तथा वैदेशिक सम्बन्ध इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रशासन गवर्नर जनरल स्वयं अपने निर्णयानुसार करता था जिसके लिये वह ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी था, न कि भारतीय संघ शासन के लिये। कनाडा और आस्ट्रेलिया के विधानों में संशोधन दोनों देशों की प्रजा एवं स्थानीय शासन की इच्छा पर बहुत कुछ निर्भर था परन्तु भारत के सम्बन्ध में यह शक्ति पूर्णतः ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश संसद में निहित थी। इस प्रकार सन १६३५ के अधिनियम में सन्निहित संघ की योजना अन्य देशों के संघीय विधानों से समानता रखते हुए भी कई प्रकारों में उन से भिन्न थी।

प्रान्तीय स्वायत्तता

इस अधिनियम की दूसरी हितपूर्ण विशेषता प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना थी। सरल शब्दों में प्रान्तीय स्वायत्तता का अर्थ ऐसी स्वाधीनता से है जिसमें प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं को कुछ विषयों पर नियमादि बनाने का एकाधिकार दे दिया गया था जिनके लिये वे केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा के नियन्त्रण से पूर्णतः मुक्त थीं, और साथ ही प्रान्तीय कार्यपालिका को गवर्नर के अधीन कर दिया गया था। इस प्रकार प्रान्तीय स्वायत्तता दो विशेष गुणों—केन्द्रीय नियन्त्रण से स्वतन्त्रता तथा व्यवस्थापिका-सभा का निर्वाचन—से युक्त थी। इस अधिनियम ने सन् १६१६ के अधिनियम का स्थान लेकर प्रान्तों में द्विविध शासन को समाप्त कर दिया था और उनमें प्रशासन को उत्तरदायी बनाने की योजना द्वारा देश की वैधानिक प्रगति में निस्सन्देह महत्वपूर्ण योग दिया था परन्तु यह भी सत्य है कि प्रान्तीय स्वायत्तता भ्रमात्मक थी। गवर्नरों को विशेष उत्तरदायित्वों एवं स्वयं-विवेक से कार्य करने की शक्ति के रूप में प्रान्तीय स्वायत्तता को कुचलने के लिये सारे शस्त्र दे दिये गये थे। वह प्रान्त में सम्राट का प्रतिनिधि होता था और शासनाधिकार अब भी उसी के हाथों में था। इसके अतिरिक्त, गवर्नर-जनरल को भी प्रान्तों पर नियन्त्रण रखने की शक्तियाँ दी गई थीं। भारत अथवा उसके किसी भाग की शांति एवं संवर्धन के संकट को हटाने के लिये वह प्रान्तीय शासन को इच्छानुसार निर्देशित कर सकता था। शक्तियों के वितरण से भी यही बात प्रकट होती है। संघीय शासन की स्थापना के दृष्टिकोण से केन्द्र तथा प्रान्तों के बीच शक्तियों का वितरण नहीं किया गया था। प्रान्तों की अपेक्षा केन्द्रीय शासन का कार्यक्षेत्र अधिक महत्वपूर्ण रखा गया था और केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा को यह अधिकार था कि वह किसी केन्द्रीय नियम को प्रान्तों में लागू करने का कार्य प्रान्तीय शासन अथवा उसके विशेष अधिकारियों को सौंप दे। यह पाबन्दी प्रान्तीय स्वायत्तता के सिद्धान्त के प्रतिकूल थी।

परन्तु अभिप्राय यह नहीं है कि अधिनियम के प्रान्तीय स्वायत्तता सम्बन्धी उपबन्ध कोरे निरर्थक थे। वास्तव में अधिनियम का यह भाग सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। सन् १६१६ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तों के शासन की जो स्थिति थी उसमें सन् १६३५ के अधिनियम ने बहुत परिवर्तन कर दिया था। अब प्रान्त केवल प्रादेशिक विभाग नहीं थे बल्कि उनकी स्थिति शासन की एक स्वतन्त्र इकाई की हो गई। पहले प्रान्तीय शासन केवल उन्हीं शक्तियों का उपभोग करते थे जो उनको भारत-सरकार से प्राप्त होती थीं, परन्तु अब

अपनी समस्त शक्ति और अधिकार वे सीधे सम्राट् से लेते थे। प्रान्तीय प्रशासन के सम्पूर्ण क्षेत्र में प्रान्तीय कार्यपालिका को प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभा के प्रति उत्तरदायी बना दिया गया, जबकि सन् १६१६ के अधिनियम के अन्तर्गत सुरक्षित तथा हस्तांतरित विषयों के विभेद के कारण यह सम्भव नहीं था। प्रान्तों की नवीन स्थिति उनमें किये गए मौलिक परिवर्तनों की परिचायक थी।

उत्तरदायित्व तथा अभिरक्षण

उत्तरदायित्व तथा अभिरक्षण का समावेश भी सन् १६३५ के अधिनियम की उतनी ही महत्वपूर्ण विशेषता थी जितनी कि अन्य विशेषताएँ थीं। गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्वों तथा व्यक्तिगत शक्तियों का क्षेत्र अधिनियम के अन्तर्गत इतना व्यापक रखा गया था कि उसकी स्थिति एक निरकुश शासक के समान हो गई थी। यही नहीं, अपने विशेष उत्तरदायित्वों का पालन करने में गवर्नर-जनरल मन्त्रि-परिषद् के परामर्श की अवहेलना करने तथा अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य करने के लिये स्वतन्त्र था। जनता को शक्ति हस्तान्तरित करने की योजना में गवर्नर-जनरल के लिये विशेष उत्तरदायित्वों की व्यवस्था आवश्यक नहीं थी। दूसरे, गवर्नरों को भी अपने उत्तरदायित्वों तथा विशेष अधिकारों द्वारा शक्तियों का एक विस्तृत क्षेत्र मिल गया था। उनकी स्थिति प्रान्तों में वही थी जो केन्द्र में गवर्नर-जनरल की थी और इनके भी ऊपर ब्रिटिश संसद को नियन्त्रण रखने का अधिकार था। वास्तव में, केन्द्र में द्विविध शासन की स्थापना ही उत्तरदायी शासन के सिद्धान्तों के विपरीत थी। परन्तु उस समय की परिस्थितियों में आरक्षण तथा अभिरक्षण के बिना ब्रिटिश सरकार के लिये भारतीयों को स्व-शासन का अधिकार देना सम्भव न था।

अध्याय ४

सन् १९३५ के अधिनियम की रूप-रेखा

संघ का क्षेत्र

सन् १९३५ के अधिनियम में संघ-शासन के क्षेत्र के सम्बन्ध में स्पष्टतः उपबन्ध किये गए थे। इसके अनुसार संघ का निर्माण गवर्नरों के प्रान्तों, कमिश्नरों के प्रान्तों और ऐसे देशी राज्यों को मिलाकर होता था जो स्वयं संघ में सम्मिलित होने के लिये राजी होते थे। ये तीनों प्रकार की इकाइयाँ केन्द्रीय सरकार के प्रति अपने सम्बन्धों की दृष्टि से भिन्न प्रकार की थीं। कारण कि, इन विभिन्न प्रकार की इकाइयों का स्तर भी समान प्रकार का न था और इसीलिये संघीय कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका-सभा के सम्बन्ध इन तीनों इकाइयों के साथ भिन्न थे। उदाहरण के लिये, कमिश्नरों के प्रान्तों के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार का कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत था और गवर्नर-जनरल को कार्यपालिका सम्बन्धी सभी प्रकार के नियन्त्रण का अधिकार था परन्तु गवर्नरों के प्रान्तों पर उसका नियन्त्रण कमिश्नरों के प्रान्तों की अपेक्षा कम था और देशी राज्यों के सम्बन्ध में यह क्षेत्र और भी संकुचित था।

गवर्नरों के प्रान्त

इस अधिनियम के अनुसार कमिश्नरों के प्रान्तों में दो नए प्रान्त—उड़ीसा और सिन्ध—और जोड़ दिये गए थे। उड़ीसा में मद्रास और मध्य भारत का वह भाग संयुक्त कर दिया गया था जिसमें उड़िया लोग रहते थे और सिन्ध प्रान्त का निर्माण उस क्षेत्र को बम्बई प्रान्त से निकाल कर किया गया था।[1] इस प्रकार अब गवर्नरों के प्रान्त ९ के स्थान पर ११ हो गए थे जिनके नाम ये थे—आसाम, बंगाल, बिहार, बम्बई, उड़ीसा, मद्रास, मध्य प्रान्त, संयुक्त प्रान्त, उत्तर-पश्चिमीय सीमा-प्रान्त, पंजाब और सिन्ध। अधिनियम में यह भी उपबन्ध था कि आवश्यकतानुसार नए प्रान्तों का निर्माण किया जा सकेगा और यदि आवश्यक हो तो इन प्रान्तों की सीमाओं में परिवर्तन भी किया जा सकता था।

---

1 S 289

चीफ-कमिश्नरों के प्रान्त

गवर्नरों के प्रान्तों के अतिरिक्त, संघ में प्रविष्ट होने वाले अन्य प्रकार के प्रान्त चीफ-कमिश्नरों के प्रांत थे। इनकी संख्या ६ थी। ये निम्नलिखित थे—ब्रिटिश-बलूचिस्तान, देहली, अजमेर-मेरवाड़ा, कुर्ग, अण्डमन और निकोबार द्वीप समूह और पन्थ-पिपलौदा। इन प्रान्तों के अतिरिक्त अधिनियम के अन्तर्गत चीफ-कमिश्नरों के अन्य नए प्रांतों का निर्माण भी किया जा सकता था। अदन को अब भारत राज्य क्षेत्र से अलग कर दिया गया था परन्तु उस स्थान के मुकदमों की अपीलें फिर भी बम्बई के उच्च न्यायालय में की जा सकती थीं।

देशी राज्य

गवर्नरों तथा चीफ-कमिश्नरों के प्रांतों को अनिवार्य रूप से संघ का सदस्य बनना था अतः उनका प्रवेश आसान था। परन्तु देशी राज्यों के प्रवेश के लिये जो उपबन्ध किये गए थे उनके कारण स्थिति बड़ी विचित्र हो गई थी। संघ में प्रवेश करना या न करना देशी राज्यों की स्वेच्छा पर छोड़ दिया गया था। सम्राट् द्वारा एक घोषणा के आधार पर देशी राज्य संघ, में प्रविष्ट हो सकते थे और यह घोषणा सम्राट् उस समय कर सकता था जबकि ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों में इस आशय का एक अभिस्ताव किया जाये। परन्तु ब्रिटिश संसद में इन कार्यवाहियों के होने से पूर्व यह आवश्यक था कि राज्यों के शासक एक 'प्रवेश-पत्र', 'इन्स्ट्रूमेंट आफ एक्सेशन' भरकर उसे सम्राट् की स्वीकृति के लिये प्रस्तुत करें। इस प्रवेश-पत्र में उन्हें यह इच्छा प्रकट करनी थी कि वे तथा उनके उत्तराधिकारी संघ में सम्मिलित होने के लिये तैयार थे और उन शर्तों का उल्लेख करना था जिनके अन्तर्गत वे अपने अधीन राज्य-क्षेत्र को संघ में प्रविष्ट करना चाहते थे। इसके द्वारा देशी राज्यों के शासकों को अपने विवेक को प्रयोग करने का समुचित अवसर प्रदान किया गया था। संघ की शक्ति राज्यों के लिये केवल उन्हीं विषयों के सम्बन्ध में प्रयुक्त की जा सकती थी जिनका 'प्रवेश-पत्र' में उल्लेख था। बाद में अन्य सन्धि-पत्रों द्वारा राज्यों के सम्बन्ध में संघ-शक्ति को बढ़ाया जा सकता था परन्तु उसे सीमित नहीं किया जा सकता था। कदाचित् देशी राज्यों के शासकों को सन्तुष्ट करने के लिये यह उपबन्ध किया गया था कि उनके संघ में सम्मिलित होने की घोषणा उस समय तक न की जायेगी जब तक कि वे राज्य परिषद् में उनके लिये निर्धारित की गई १०४ सीटों में से कम से कम

आधी सीटें ग्रहण न करलें और इन सीटों को ग्रहण करने वाले राज्यों की जनसंख्या ३६, ४६०, ६५६ न हो।

'प्रवेश पत्र' एक इस प्रकार का लेख होता था जिसमें देशी राज्य का शासक उन विषयों का वर्णन करता था जिनके सम्बन्ध में वह अपने राज्य के लिये संघीय शासन को नियम बनाने का अधिकार देता था। यह आवश्यक नहीं था कि किसी राज्य का शासक प्रवेश-पत्र को इस प्रकार भरे जिसके द्वारा उसकी सारी शक्तियाँ अथवा वे शक्तियाँ जिन्हें वह नहीं देना चाहता था केन्द्र को चली जायें। परन्तु एक प्रवेश-पत्र को भरने के पश्चात् अन्य संधि-पत्र द्वारा पिछले पत्र के क्षेत्र को विस्तृत किया जा सकता था। यह आवश्यक नहीं था कि सम्राट देशी राज्य के किसी शासक द्वारा भरे गए 'प्रवेश-पत्र' को स्वीकार ही करले। वह अपने विवेक द्वारा कार्य कर सकता था और दूसरी ओर उसे यह भी अधिकार था कि किसी 'प्रवेश-पत्र' की शर्तों के अधिनियम की योजना के प्रतिकूल होने पर भी वह उस राज्य को संघ में प्रविष्ट होने की स्वीकृति दे सकता था। प्रवेश-पत्र द्वारा कोई राज्य संरक्षण की जो शक्ति संघ को प्रदान कर देता था उसके अतिरिक्त सम्राट के उस राज्य के प्रति अन्य अधिकार एवं कर्तव्य अधिनियम के अन्तर्गत अप्रभावी समझे जाते थे।

संघीय कार्यपालिका

साइमन कमीशन ने अपनी सिफारिशों में द्विविध-शासन की स्थापना को कोई महत्व नहीं दिया था। उसके द्वारा प्रस्तावित की गई योजना से सन् १६३५ का भारत-शासन-अधिनियम अनेक प्रकार से भिन्न था। इसके अन्तर्गत द्विविध-शासन प्रणाली को प्रान्तों से हटाकर केन्द्र में स्थापित कर दिया गया था और गवर्नर-जनरल को उसकी अध्यक्षता दे दी गई थी। हम यहाँ उसके विभिन्न अंगों पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

गवर्नर जनरल

नियुक्ति, वेतन एवं कार्यविधि

अधिनियम में ब्रिटिश सम्राट द्वारा भारत में अपनी शक्तियों के प्रत्यक्ष प्रयोग की व्यवस्था नहीं की गई थी। संघ की कार्यकारिणी शक्ति व अधिकार सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में गवर्नर-जनरल को सौंप दिये गए थे जिनका वह सम्राट् की ओर से स्वयं अथवा अपने अधीन कर्मचारियों के द्वारा प्रयोग

करता था। उसकी नियुक्ति इंगलैंड का सम्राट् प्रधान-मन्त्री की सलाह से करता था और उसे प्रति वर्ष लगभग २½ लाख रु० वेतन दिया जाता था। इसके अतिरिक्त, उसे अन्य भत्ते इत्यादि भी मिलते थे जिन्हें सम्राट अपनी परिषद् की सलाह से निश्चित करता था। संसार के किसी भी अन्य सरकारी अधिकारी को अभी तक इतना वेतन नहीं दिया गया है। उसका सारा खर्चा भारतीय कोष में से दिया जाता था। उसकी कार्यावधि ५ वर्ष थी परन्तु आवश्यकता पड़ने पर इस अवधि को बढ़ाया भी जा सकता था।

कार्यकारिणी शक्तियाँ

सन् १९३५ के अधिनियम द्वारा गवर्नर-जनरल को केन्द्रीय कार्यपालिका में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया था। उसे विशाल कार्यकारिणी शक्तियाँ प्राप्त थीं और उसके उत्तरदायित्वों का क्षेत्र भी बड़ा व्यापक था। सम्राट के प्रतिनिधि होने के नाते वह संघ के सम्बन्ध में विविध प्रकार की कार्यकारिणी शक्तियों का प्रयोग करता था। राज्य का सारा कार्य उसी के नाम में होता था। उसकी यह शक्ति और अधिकार उन सब विषयों तक विस्तृत थे जिनके सम्बन्ध में संघीय व्यवस्थापिका सभा नियम बना सकती थी: वह सम्राट की ओर से ब्रिटिश भारत में प्रति रक्षा के लिये सेनाओं का निर्माण तथा भारतीय कोष से रखी जाने वाली सेनाओं की व्यवस्था कर सकता था तथा वह जन-जाति-क्षेत्रों (Tribal Areas) के सम्बन्ध में सन्धियों, अनुदान प्रथाओं तथा अनुज्ञा आदि के उत्तरदायित्वों का पालन भी करता था। इससे स्पष्ट है कि उसकी कार्यकारिणी शक्तियाँ कितनी व्यापक थीं।

संघ के प्रशासन में गवर्नर-जनरल को स्वविवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करने का पूर्ण अधिकार था। अधिनियम में स्वविवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय द्वारा कार्यकरण के बीच अन्तर स्पष्ट कर दिया गया है। स्वविवेक से कार्य करते समय गवर्नर-जनरल को मन्त्रि-परिषद् से परामर्श करना आवश्यक नहीं था, जबकि व्यक्तिगत निर्णय द्वारा प्रभावी विषयों में उसके लिये मंत्रियों से परामर्श करना आवश्यक था। स्वविवेक के प्रयोग के क्षेत्र में गवर्नर-जनरल को ब्रिटिश संसद से आदेश प्राप्त होते थे और वह भारत-मन्त्री तथा इण्डिया कौंसिल के द्वारा उसी के प्रति उत्तरदायी होता था। भारतीय व्यवस्थापिका सभा के प्रति इन विषयों में उसका नैतिक भी उत्तरदायित्व नहीं था। परन्तु इसके विपरीत व्यक्तिगत-निर्णय का प्रयोग करते समय उसे भारतीय व्यवस्थापिका सभा के मत को किसी सीमा तक ध्यान में रखना होता था किन्तु उसे मन्त्रियों

की राय मानना अनिवार्य नहीं था। विशेषकर, अधिनियम में परिगणित किये गए विशेष उत्तरदायित्वों के क्षेत्र में वह व्यक्तिगत-निर्णय से ही कार्य करता था।

स्वविवेक का क्षेत्र

गवर्नर-जनरल को आरक्षित विषयों के सम्बन्ध में स्वविवेक से कार्य करने का अधिकार था। ये विषय थे—सुरक्षा, धार्मिक मामले, वैदेशिक सम्बन्ध, तथा जन-जाति क्षेत्रों का प्रशासन। परन्तु वैदेशिक सम्बन्ध के प्रशासन में यह एक अपवाद था कि गवर्नर-जनरल को ब्रिटिश कामन वैल्थ के डोमिनियम राज्यों से सम्बन्ध निर्धारित करने का अधिकार न था। बाकी अन्य देशों से सम्बन्ध स्थापित रखने में वह अपने विवेक से कार्य कर सकता था। यह सत्य ही है कि इन महत्वपूर्ण विषयों के प्रशासन में गवर्नर-जनरल का भारतीय व्यवस्थापिका-सभा से कोई सम्बन्ध न था। परन्तु अकेले गवर्नर-जनरल को ही इनके प्रशासन में कार्य नहीं करना था। इनके लिये परामर्श देने के लिये वह तीन सलाहकारों की सहायता ले सकता था जिनकी नियुक्ति वह स्वय ही करता था और उनकी कार्यावधि और वेतन इत्यादि सम्राट् द्वारा निर्धारित किये जाते थे। परन्तु मन्त्रियों की इस सम्बन्ध में पूर्णत उपेक्षा नहीं की गई थी। बल्कि निर्देश पत्र (इन्स्ट्रयूमैंट ऑफ इन्स्ट्रक्टशन्स) में गवर्नर-जनरल के लिये यह अभिस्ताव होता था कि वह इन विषयों के प्रशासन में मन्त्रियों की सलाह भी ले। विशेषकर, सुरक्षा के सम्बन्ध में मन्त्रियों के परामर्श को आवश्यक समझा गया था। अतः गवर्नर जनरल भारतीय सैनिक अधिकारियों के सम्बन्ध में अक्सर मन्त्रियों की सलाह ले लेता था। व्यवस्थापिका सभा में सुरक्षा विभाग पर होने वाले व्यय का प्रस्ताव प्रस्तुत करने से पूर्व वह वित्त मन्त्री से परामर्श कर लेता था और साथ-साथ कमांडर-इन-चीफ के विचारों की भी इस विषय में जानकारी कर ली जाती थी। यदि भारत-मन्त्री इन सब अधिकारियों के विचारों को जानने का इच्छुक होता तो उसे भी इनसे अवगत करा दिया जाता था।

परन्तु जहाँ तक इन विषयों की सख्या का प्रश्न है, सुरक्षा विभाग के प्रशासन की आड़ में गवर्नर-जनरल द्वारा स्वविवेक के प्रयोग का क्षेत्र बढ़ जाया करता था। उदाहरण के लिये, गवर्नर-जनरल यातायात मन्त्री को यह आदेश दे सकता था कि वह अमुक स्थान पर सैनिकों की यात्रा के लिये सुविधाओं का प्रबन्ध करे। गवर्नरों को वह, यह आदेश दे सकता था कि वे,

अपने अधीन क्षेत्र में सैनिकों के लिये निवास-स्थान, भूमि इत्यादि का प्रबन्ध करें। स्वविवेक द्वारा प्रभावी विषयों के लिये गवर्नर-जनरल ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी होता था, यह हम ऊपर ही बतला चुके हैं। यह इस बात से भी प्रकट है कि नियुक्ति के अवसर पर उसे जो निर्देश-पत्र दिया जाता था उसे पहिले ब्रिटिश संसद के सम्मुख रखा जाता था। संसद उसमें किसी प्रकार का संशोधन करने अथवा गवर्नर जनरल को प्रदान की गई शक्तियों को कम करने के लिये प्रस्ताव पास कर सकती थी और इस पत्र के प्रभावी होने के लिये यह आवश्यक था कि संसद के दोनों सदनों के सदस्य उसके प्रति अपनी स्वीकृति दे दें। इस प्रकार संसद द्वारा प्राप्त करने के कारण गवर्नर-जनरल इन निर्देशों के लिये उसी के प्रति उत्तरदायी होता था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं था कि निर्देशों का उल्लंघन करने अथवा उनका पूर्णत: पालन न करने पर न्यायालयों में इस आधार पर आपत्ति की जा सके। इनके लिये वह किसी भी भारतीय अधिकारी के प्रति उत्तरदायी नहीं था।

सुरक्षा विभाग के प्रशासन के सम्बन्ध में यह भी उपबन्धित किया गया था कि यदि भारतीय सेनाओं का उपयोग विदेशों में ऐसे कार्यों के लिये किया जायेगा जिनका सम्बन्ध भारत की सुरक्षा से नहीं है तो उसके खर्चे का भार भारतीय कोष पर नहीं डाला जायेगा। परिणामस्वरूप, गवर्नर जनरल अधिक संख्या में भारतीय सेनाओं को विदेशों में नहीं भेज सकता था और यदि उनको ऐसे कार्य के लिये जिसका सम्बन्ध भारत की सुरक्षा से नहीं होता, भेजा भी जाता तो भारतीय शासन पर उसका व्यय भारित नहीं किया जा सकता था।

गवर्नर-जनरल को यह भी अधिकार था कि वह अपने कर्त्तव्यों के समुचित पालन में सहायता लेने के लिये एक महाधिवक्ता (एडवोकेट जनरल) की नियुक्ति करे। इस अधिकारी की सहायता उस समय विशेष रूप में आवश्यक होती थी जब कि संघीय शासन को कानूनी कार्य-वाहियों में भाग लेना पड़ता था। महाधिवक्ता को ब्रिटिश भारत के सभी न्यायालयों में प्रवेश करने का अधिकार था। उसके वेतन इत्यादि का निर्धारण भी गवर्नर-जनरल करता और उसके प्रसाद-पर्यन्त ही वह अपने पद पर आसीन रहता था।

व्यक्तिगत निर्णय का क्षेत्र और विशेष उत्तरदायित्व—

व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करते हुए गवर्नर-जनरल के लिये मन्त्रियों की सलाह लेना आवश्यक था। परन्तु यह अनिवार्य नहीं था कि वह उनकी

मंत्रणा के अनुसार ही कार्य करे। मंत्रणा लेने के पश्चात् भी वह अपने निर्णय के अनुसार कार्य कर सकता था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विशेषकर अधिनियम में निर्धारित किये गए अपने विशेष उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में वह व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करता था। उसके विशेष उत्तरदायित्व निम्नलिखित थे :—

(१) भारत अथवा उसके किसी भाग में शांति अथवा संवर्धन के संकट का निवारण करना,

(२) संघ शासन के आर्थिक स्थायित्व और साख की रक्षा करना,

(३) अल्प-संख्यकों के न्यायोचित हितों की रक्षा करना;

(४) प्रशासनीय अधिकारियों तथा उनके आश्रितों को अधिनियम द्वारा रक्षित अथवा उपबन्धित अधिकार दिलाना तथा उनके न्यायोचित हितों की रक्षा करना,

(५) कार्यपालिका के कार्यक्षेत्र में उन अभिप्रायों की पूर्ति करना जो अधिनियम के भाग ५ के अध्याय ३ में वर्णित थीं (जिनका सम्बन्ध वाणिज्य के क्षेत्र में भेदपूर्ण व्यवहार से था);

(६) ऐसे कार्यों को रोकना जो संयुक्त राज्य अथवा बर्मा से भारत में आने वाले माल के साथ भेदभाव अथवा दण्डित करने के इरादे से किये जा सकते थे;

(७) भारत के प्रत्येक देशी राज्य के अधिकारों की तथा उसके शासक के अधिकारों एवं प्रतिष्ठा की रक्षा करना, और

(८) यह ध्यान में रखना कि किसी अन्य विषय में किये गये कार्य द्वारा उन विषयों के कर्तव्य-पालन में बाधा न पड़े जिनमें कि गवर्नर-जनरल को स्वयं अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य करना था।

इन उत्तरदायित्वों का क्षेत्र बड़ा विस्तृत था। जैसा कि स्पष्ट है, इनका वर्णन ऐसे शब्दों में किया गया था जिनके कारण अन्य विविध प्रकार के कार्य गवर्नर-जनरल के कार्यक्षेत्र में आ सकते थे। अतः इनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। सर्वप्रथम यह ध्यान में रखना है कि जिन अल्प-संख्यकों के हितों की रक्षा करने के लिये गवर्नर-जनरल का विशेष उत्तरदायित्व था वे कोई राजनैतिक दल अथवा वर्ग नहीं थे। वे भारतीय जन संख्या के उन जातियों से सम्बन्धित थे जिनके अधिकारों की रक्षा करना शासन के न्यायोचित्य के लिये आवश्यक था। गवर्नर-जनरल का यह विशेष उत्तरदायित्व था कि वह विभिन्न जातियों

के बीच सार्वजनिक नियुक्तियों का बँटवारा उचित प्रकार से करे। देशी राज्यों के प्रति उसका उत्तरदायित्व यह था कि वह उनके शासकों के उस व्यक्तिगत स्तर की रक्षा करे जैसा कि उन्हें ब्रिटिश भारत में पहिले से मिलता आया था। जहाँ तक आर्थिक नीति के निर्धारण करने का प्रश्न था गवर्नर-जनरल का यह उत्तरदायित्व था कि वह इंगलैंड के हितों पर आघात न होने दे। उसका कर्त्तव्य यह देखना भी था कि भारतीय-शासन साख की ऐसी नीति का पालन न करे जिससे संसार के मुद्रा बाजार में भारत का मान कम हो जाये। वित्तीय कार्यों के सुचारु प्रशासन के लिये वह एक वित्तीय सलाहकार "फाइनैन्शियल एडवाइजर' की नियुक्ति कर सकता था।[1] उसकी कार्यावधि, वेतन इत्यादि के नियम भी गवर्नर-जनरल ही बनाता था। इसके अतिरिक्त, अपने विशेष उत्तरदायित्वों को निभाने के लिये मन्त्रियों से परामर्श के पश्चात् वह स्वविवेक द्वारा ऐसे नियम भी बना सकता था जिनके आधार पर वह मंत्रियों एवं सचिवों को यह सूचना देने के लिये बाध्य कर सकता था कि अमुक विषय उसके विशेष उत्तरदायित्व के क्षेत्र से सम्बन्धित थे। इस दोषपूर्ण व्यवस्था के परिणामस्वरूप प्रशासकीय विभागों के सचिव-वृन्द को मन्त्रियों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया गया था क्योंकि वे मन्त्रियों के क्षेत्र का अतिक्रमण कर स्वयं गवर्नर-जनरल को यह सूचना दे सकते थे कि अमुक विषय उसके उत्तरदायित्व का विषय है।

विधायिनी शक्तियाँ

गवर्नर-जनरल को व्यवस्थापिका सभा के सम्बन्ध में भी विस्तृत अधिकार मिले हुए थे। वही इस सभा का आह्वान, सत्रावसान तथा विघटन कर सकता था। इसकी प्रक्रिया के लिये नियम बनाने का अधिकार भी उसी को था। साधारणतः नियम बनाने की प्रक्रिया में भाग लेने तथा व्यवस्थापिका-सभा द्वारा पास किये गए विधेयक को अपनी स्वीकृति द्वारा नियम का रूप देने के अतिरिक्त गवर्नर-जनरल को यह भी अधिकार था कि वह किसी विधेयक को भारत मन्त्री के विचारार्थ रक्षित करले। कुछ विषय ऐसे थे जिन पर व्यवस्थापिका सभा में प्रस्ताव प्रस्तुत होने से पूर्व उसकी स्वीकृति आवश्यक थी। वह व्यवस्थापिका-सभा द्वारा पास किये गए विधेयक को रद्द भी कर सकता था।

आकस्मिक आवश्यकता के लिये गवर्नर-जनरल को अध्यादेश जारी करने की असाधारण शक्तियाँ प्राप्त थीं। ये अध्यादेश दो प्रकार के होते थे—प्रथम वे

1. S. 15

जो संघीय व्यवस्थापिका सभा के सत्रावसान के समय जारी किये जाते थे और दूसरे वे जो किसी भी समय जारी किये जा सकते थे, चाहे व्यवस्थापिका-सभा सत्र में हो अथवा न हो। जब उसका यह समाधान हो जाता था कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं जिनके कारण शासन का सुचारु रूप से चलाना कठिन है तब वह उन परिस्थितियों के निवारण के लिये अध्यादेश जारी कर सकता था और उसका पालन कराने के लिये स्वविवेक के आधार पर कार्य कर सकता था। परन्तु संविधान में इस बात का उपबन्ध कर दिया गया था कि यदि वह किसी ऐसे विषय पर अध्यादेश जारी करे जिसके विधेयक के लिये साधारणत सम्राट की अनुमति आवश्यक होती तो ऐसे अध्यादेश को भी सम्राट के सम्मुख उसकी अनुमति के लिये रखा जायेगा। ये अध्यादेश संघीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास किये गये नियमों के समान ही प्रभावी होते थे परन्तु इसे जारी करने के पश्चात् व्यवस्थापिका-सभा की प्रथम बैठक की तिथि से ६ सप्ताह के बाद इसका प्रभाव नहीं रहता था। परन्तु यदि व्यवस्थापिका-सभा के दोनों सदनों में इस आशय का एक प्रस्ताव पास हो जाये तो इस अध्यादेश का प्रभाव ६ सप्ताह की उपर्युक्त कालावधि से पहिले भी समाप्त हो सकता था। वैसे स्वय गवर्नर-जनरल किसी भी समय अपने अध्यादेश को वापिस ले सकता था और सम्राट भी इच्छानुसार अपनी आज्ञा द्वारा अध्यादेश के प्रवर्तन को रोक सकता था।

दूसरे प्रकार के अध्यादेश गवर्नर-जनरल उस समय जारी करता था जबकि उसका यह समाधान हो जाता कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं जिनके कारण उसके लिये स्वविवेक अथवा व्यक्तिगत-निर्णय के आधार पर शीघ्र ही कार्य करना आवश्यक है। ऐसे अध्यादेश ६ मास की अवधि तक प्रवर्त्तन में रहते थे परन्तु एक अन्य अध्यादेश द्वारा इस अवधि को ६ मास के लिये और बढ़ाया जा सकता था। ये अध्यादेश भी उसी तरह प्रभावी होते थे जैसे कि व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास किये गए नियम। गवर्नर-जनरल किसी भी समय इन्हें वापिस ले सकता था।

वित्तीय शक्तियाँ

वित्त के क्षेत्र में भी गवर्नर-जनरल को असाधारण शक्तियाँ प्राप्त थीं। आरक्षित विषयों के प्रशासन के लिये अनुमानित व्यय को बजट में वह स्वयं ही निर्धारित करने का अधिकार रखता था। यह वही निर्णय करता था कि इन विषयों पर कितना धन व्यय किया जायेगा। व्यवस्थापिका-सभा इस व्यय

के मद पर न विचार कर सकती थी और न ही मत दे सकती थी। इसके अतिरिक्त अपने विशेष उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिये गवर्नर-जनरल व्यवस्थापिका-सभा से अतिरिक्त धन की माँग कर सकता था जो ठुकराई नहीं जा सकती थी। यदि उसकी माँग ठुकरादी जाये तो वह उसे स्वयं पुनः स्थापित कर सकता था। साधारण विधेयक की भाँति, बजट के पास होने के लिये भी अन्त में उसकी स्वीकृति आवश्यक थी।

प्रशासकीय शक्तियाँ

उपर्युक्त शक्तियों के अतिरिक्त, गवर्नर-जनरल को प्रशासन सम्बन्धी शक्तियाँ भी मिली हुई थीं। उसे संघ की इकाइयों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार था। उसे यह भी देखना था कि संघ में सम्मिलित होने वाले गवर्नरों के प्रान्तों तथा देशी राज्यों में अशांति अथवा अव्यवस्था उत्पन्न न हो जाये और ऐसी कोई आक्रामक परिस्थिति उत्पन्न होने पर वह गवर्नरों और राजाओं को समयानुकूल आदेश दे सकता था। अपने स्वविवेक के आधार पर वह गवर्नरों के अधिकारों पर नियन्त्रण रखता था। प्रान्तों से आई हुई आयकर की पूँजी में से प्रान्तों को आर्थिक सहायता देना तथा ऋण से आभारी होने पर उन पर नियन्त्रण रखना भी गवर्नर-जनरल का कार्य था। देशी राज्यों के शासकों एवं ब्रिटिश भारत के प्रान्तों के गवर्नरों से परामर्श कर संघीय नियमों के पालन के लिये नियम भी गवर्नर-जनरल ही बनाता था। संघीय विषयों के प्रशासन के लिये वह एक मन्त्रि-परिषद् की नियुक्ति भी करता था जिसके मंत्रियों के वेतन, कार्यावधि इत्यादि वही निश्चित करता था। इस परिषद् का विस्तृत वर्णन नीचे किया गया है।

आपात सम्बन्धी शक्तियाँ

विशेष परिस्थितियों में गवर्नर-जनरल को संविधान को निलम्बित करने का अधिकार था। जब इसका यह समाधान हो जाता कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं जिनमें संघ का शासन सन् १९३५ के भारत-शासन-अधिनियम के उपबन्ध के अनुसार नहीं चलाया जा सकता था तो वह इस आशय की उद्घोषणा कर सकता था कि संविधान समस्त देश, अथवा उसके किसी भाग विशेष के लिये निलम्बित समझा जाये। इस उद्घोषणा के परिणामस्वरूप संघीय न्यायालय को छोड़कर संघ के अन्य अंगों के समस्त अधिकार गवर्नर-जनरल में निहित हो जाते थे और उसे असाधारण शक्तियाँ मिल जाती थीं।

साधारणत इस प्रकार की उद्घोषणा ६ मास की अवधि तक प्रवर्तन में रहती थी परन्तु आवश्यकतानुसार इस अवधि को बढ़ाया जा सकता था।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सघीय कार्यपालिका में गवर्नर-जनरल को एक विशिष्ट स्थान मिला हुआ था। उसकी कार्यकारिणी, विधायिनी, वित्तीय, प्रशासकीय तथा आयात सम्बन्धी शक्तियों का क्षेत्र बड़ा व्यापक था और उनको देखते हुए देश में उत्तरदायी शासन की स्थापना केवल एक कल्पना थी। उसके स्वविवेक, व्यक्तिगत निर्णय तथा विशेष उत्तरदायित्वों से बचे हुए क्षेत्र का, जिस पर मत्रियों को अधिकार दिया गया था, कोई विशेष महत्व नहीं था। इन उपबन्धों द्वारा गवर्नर-जनरल को असाधारण शक्तियों से सुसज्जित कर दिया गया था और इनकी भाषा इस प्रकार की थी जिसके सहारे अन्य अनेक विषय गवर्नर-जनरल के कार्यक्षेत्र में आ जाते थे। प्रत्येक विषय अन्य विषयों से किसी न किसी प्रकार सम्बन्धित था और स्वविवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय के प्रयोग की आड़ मे वह किसी भी विषय में हस्तक्षेप कर सकता था। ऐसी दशा में मत्रि-परिषद् प्रणाली का कोई विशेष अस्तित्व न था। यद्यपि सविधान मे यह उपबन्धित था कि गवर्नर-जनरल किसी ऐसे व्यक्ति के परामर्श से अन्य मत्रियों की नियुक्ति करेगा जिसका सघीय व्यवस्थापिका-सभा में विशेष प्रभाव हो और जिसके सबसे अधिक सख्या में उस सभा में समर्थक हों, फिर भी केवल यही उपबन्ध मत्रि-परिषद् प्रणाली की स्थापना के लिए पर्याप्त न था क्योंकि दूषित निर्वाचन-प्रणाली के कारण कोई भी राजनैतिक दल यहाँ तक कि कांग्रेस भी जो देश में सबसे प्रभावशाली दल के रूप में थी, शुद्ध बहुमत प्राप्त कर लेन में समर्थ नहीं होती थी। दूसरे, मत्रियों में बिना सयुक्त उत्तरदायित्व की व्यवस्था के मत्री-परिषद् प्रणाली की स्थापना असभव थी। मत्रियों के सम्बन्ध मे गवर्नर-जनरल की स्थिति भी सम्राट की भाँति नाम मात्र की न थी बल्कि वह एक तानाशाह से कम नहीं था। अत इन दशाओं में केन्द्रीय कार्यपालिका में मत्रि-परिषद् प्रणाली का कोई अश सन्निहित नहीं था।

वास्तव मे गवर्नर-जनरल को विस्तृत शक्तियाँ केन्द्र मे द्विविध-शासन की अनुरूपता में प्रदान की गई थीं। यह शासन-प्रणाली सन् १९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तों में स्थापित की गई थी परन्तु नवीन अधिनियम के अन्तर्गत उसे केन्द्र में ले लिया गया था। प्रान्तों की भाँति अब सघ की कार्यपालिका में शक्तियों का विभाजन कर दिया गया था। कुछ विषय आरक्षित थे और

कुछ हस्तांतरित। आरक्षित विषय थे—सुरक्षा, वैदेशिक मामले, धार्मिक कार्य और जन जाति क्षेत्रों का प्रशासन। इनके लिये गवर्नर-जनरल ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी होता था और संघीय व्यवस्थापिका-सभा का इन पर कोई अधिकार नहीं था। गवर्नर-जनरल के आरक्षित विषयों से सम्बन्धित अधिकारों तथा विशेष उत्तरदायित्वों से बचे हुए क्षेत्र पर मंत्रियों का अधिकार था। परन्तु जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, गवर्नर-जनरल की विशिष्ट शक्तियों के कारण मंत्रियों का कार्यक्षेत्र संकुचित ही रह गया था। वास्तव में यह द्विविध शासन की प्रणाली ही दूषित थी। सन् १९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत ही यह अपनी असफलता का परिचय दे चुकी थी और इससे भी पहिले बंगाल में इस प्रकार का दोहरा शासन बड़ा दूषित सिद्ध हुआ था। परन्तु फिर भी सन १९३५ के भारत-शासन-अधिनियम के रचयिताओं ने इतिहास की इस शिक्षा की उपेक्षा करते हुए द्विविध शासन को केन्द्र में स्थापित कर, देश के हित में अच्छा नहीं किया।

मंत्रि-परिषद्

सन् १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रशासनीय विषयों को तीन विभिन्न सूचियों में विभक्त कर दिया गया था। प्रथम संघीय सूची थी जिसमें जल सेना, हवाई सेना, स्थल सेना, वैदेशिक सम्बन्ध, मुद्रा, सार्वजनिक ऋण, डाक और तार इत्यादि ५९ विषय थे। दूसरी प्रान्तीय सूची थी जिसमें सार्वजनिक व्यवस्था, पुलिस, जेल, प्रान्त का सार्वजनिक ऋण इत्यादि ५४ प्रान्तीय महत्त्व के विषय थे। तीसरी सूची समवर्ती थी जिसमें अपराधिक नियम, विवाह, तलाक, दत्तक इत्यादि २६ विषय थे।

इनमें संघीय विषयों के प्रशासन के लिये अधिनियम में एक मंत्रि-परिषद् की नियुक्ति के लिये प्रबन्ध किया गया था।[1] इसके मंत्रियों की नियुक्ति गवर्नर-जनरल स्वयं करता था और उसी के सम्मुख वे पद तथा गोपनीयता की शपथें लेते थे। गवर्नर-जनरल के प्रसाद पर्यन्त वे अपने पद पर कार्य करते थे और यदि वह चाहता तो किसी भी समय किसी मन्त्री को अपने पद से हटा सकता था। जब तक व्यवस्थापिका-सभा द्वारा कोई ऐसा निश्चय न कर लिया जाये गवर्नर-जनरल ही उनके वेतन तथा भत्ते निश्चित करता था। यह सब कार्य वह स्वविवेक के आधार पर करता था।

---

1. Ss. 9 and 10

मत्रियों के लिये यह अनिवार्य था कि वे सघीय व्यवस्थापिका-सभा के दोनों सदनों में से किसी एक के सदस्य अवश्य हों। यदि कोई ऐसा व्यक्ति मत्री के पद पर नियुक्त हो जाता जो व्यवस्थापिका-सभा के किसी भी सदन का सदस्य न होता तो ६ महीने की कालावधि मे उसे किसी एक सदन की सदस्यता ग्रहण कर लेनी पड़ती थी, अन्यथा उसे पद त्याग कर देना होता था। नए-अधिनियम का यह उपबन्ध सन् १६१६ के अधिनियम से मिलता-जुलता था। इस सम्बन्ध में एक और समानता यह थी कि मत्रियों के विरुद्ध किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती थी कि उन्होंने गवर्नर जनरल को कब और क्यों और किस प्रकार की मत्रणा दी।

निर्देश पत्र में गवर्नर जनरल से यह अभिस्ताव किया जाता था कि वह व्यवस्थापिका-सभा में सर्वप्रिय व्यक्ति की मत्रणा से अन्य मत्रियों की नियुक्ति करे। केवल इसी उपबन्ध से यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि सघीय कार्य-पालिका का स्वरूप किसी भी प्रकार ब्रिटेन इत्यादि प्रजातात्रिक देशों की भाँति उत्तरदायी था। कार्यपालिका में गवर्नर-जनरल का विशिष्ट स्थान अत्यन्त घातक था। मत्रियों के लिये बचा हुआ कार्य क्षेत्र सकुचित था क्योंकि आरक्षित विषयों के प्रशासन गवर्नर-जनरल के स्वविवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय के प्रयोग, उसके विशेष उत्तरदायित्वों, वित्त और व्यापार आदि की नीति में वे कोई प्रभावयुक्त हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। विशेषकर, आरक्षित विषयों के सम्बन्ध में उनका कोई प्रभाव नहीं था। उन पर होने वाले व्यय के बारे में वे कोई प्रश्न आदि नहीं कर सकते थे। जिन विषयों में गवर्नर-जनरल स्वय मत्रियों की मत्रणा लेता था उनमें भी वह उसे मानने के लिये बाध्य नहीं था। इस प्रकार उन्हें कोई विशेष अधिकार नहीं मिले हुए थे। वे किसी ऐसी नीति का निर्धारण नहीं कर सकते थे, जो देश में राष्ट्रीयता के विकास मे सहायक हो। गवर्नर-जनरल का उन पर पूरा नियन्त्रण था। अतः यह नि सकोच कहा जा सकता है कि मंत्रि-परिषद् की नियुक्ति एक धोखे की टट्टी थी और उसका कोई विशेष महत्व नहीं था।

संघीय व्यवस्थापिक-सभा

सन् १६३५ के भारत-शासन-अधिनियम के अनुसार सघीय व्यवस्थापिका-सभा सम्राट के प्रतिनिधि गवर्नर-जनरल तथा दो सदनों "कौंसिल आफ स्टेट" तथा "हाउस आफ असेम्बली" से मिलकर बनती थी। इनमें, कौंसिल आफ स्टेट स्थायी सदन था। हर तीसरे वर्ष इसके एक तिहाई सदस्य निवृत्त हो

जाया करते थे। परन्तु हाउस आफ असेम्बली की अवधि ५ वर्ष थी जिसकी समाप्ति पर वह विघटित हो जाती थी। गवर्नर-जनरल यदि चाहता तो इसे अवधि की समाप्ति से पूर्व भी विघटित कर सकता था। वह अपने स्वविवेक के आधार पर व्यवस्थापिका-सभा के सदनों का आह्वान, सत्तावसान तथा विघटन करता था।[1] संविधान में इन सदनों के वार्षिक सत्र के सम्बन्ध में भी उपबन्ध किये गए थे। गवर्नर-जनरल को यह अधिकार था कि वह व्यवस्थापिका सभा के किसी सदन को सम्बोधित कर सके तथा उस समय उसमें लम्बित किसी विधेयक विषयक अथवा अन्य विषयक संदेश भेज सके। उसके सलाहकारों तथा पदाधिवक्ता को भी दोनों सदनों में भाषण देने का अधिकार था परन्तु मतदान केवल वही कर सकते थे जो इस सभा के निर्वाचित अथवा नाम निर्देशित सदस्य थे।[2]

प्रत्येक सदन के सदस्य अपने दो सदस्यों को क्रमशः अपने अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष चुनते थे। इन को यह भी अधिकार था कि बहुमत के प्रस्ताव द्वारा अध्यक्ष को अपने पद से हटा दें। इसके लिये अध्यक्ष को १४ दिन पूर्व सूचना दे देनी पड़ती थी। परन्तु यह आवश्यक नहीं था कि इसके लिये पहिले गवर्नर-जनरल की स्वीकृति ली जाये। अध्यक्ष हाउस ऑफ असेम्बली के विघटन के पश्चात् भी उस समय तक पद धारण किये रहता था जब तक कि नई असेम्बली की पहिली बैठक आरम्भ न हो जाये। उसे निर्णायक मत देने का अधिकार था। वह सदन की बैठकों को स्थगित अथवा निलम्बित भी कर सकता था, विशेषकर उस समय जब कि गणपूर्ति न हो पाये। गणपूर्ति के लिये सदन के $\frac{1}{6}$ सदस्यों का उपस्थित होना आवश्यक था।

कौंसिल ऑफ स्टेट की रचना—

कौंसिल ऑफ स्टेट की सदस्य-संख्या २६० थी। इनमें से १५६ सदस्य ब्रिटिश भारत और १०४ देशी राज्यों से आते थे। देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों की संख्या पर निर्भर थी। अधिनियम में कुछ इस प्रकार के उपबन्ध भी किये गए थे जिनके द्वारा देशी राज्यों को संघ में सम्मिलित होने के लिये प्रोत्साहन मिल सके और उनका यह भय दूर हो जाये कि संघ में सम्मिलित होने से उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। परन्तु उनके आकार-प्रकार तथा जनसंख्या में

1 S. 19.   2. S 20 and 21.

विभिन्नता होने के कारण सीटों कर निर्धारण करना कठिन था। अत उनके शासकों की सापेक्ष स्थिति तथा उनको दी जाने वाली सलामी को उनके प्रतिनिधित्व का आधार बनाया गया। इस प्रकार हैदराबाद को ५, मैसूर, ग्वालियर, काश्मीर और बड़ौदा में प्रत्येक को ३, त्रावनकोर-कोचीन इत्यादि छोटे राज्यों में प्रत्येक को २ और बहुत ही छोटे राज्यों को समूह के रूप में स्थान दिये गए थे। शासक स्वय अपने राज्य के प्रतिनिधियों की नियुक्ति करते थे और उनको पद से हटाने का अधिकार भी उन्हीं को था। इस सम्बन्ध में उनके लिये जनता से परामर्श लेना आवश्यक नहीं था।

ब्रिटिश भारत के १५६ प्रतिनिधियों में से १५० प्रतिनिधि नागरिकों द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन विधि से साम्प्रदायिक आधार पर चुने जाते थे और बाकी ६ प्रतिनिधियों को गवर्नर-जनरल नाम निर्देशित करता था। यह नाम निर्देशन दलित वर्ग, अछूतों तथा स्त्रियों को उचित प्रतिनिधित्व देने के लिये किया जाता था। इसके अतिरिक्त, निर्वाचित स्थानों में ७५ स्थान सामान्य, ६ अनुसूचित जातियों के लिये, ४ सिक्खों के लिये, ४६ मुसलमानों के लिये और ६ स्त्रियों के लिये थे। यूरोपियनों के लिये ७, ऐंग्लो-इंडियन के लिये १ तथा भारतीय ईसाइयों के लिये २ स्थान सुरक्षित रक्खे गये थे। योरोपियन, ऐंग्लो-इंडियन तथा भारतीय ईसाईयों के स्थानों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से एक निर्वाचक मण्डल द्वारा होता था जिसमें इन सम्प्रदायों के वे सभी व्यक्ति सम्मिलित होते थे जो उनकी ओर से प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं के सदस्य थे। प्रान्तों की दृष्टि से मद्रास, बगाल और उत्तर-प्रदेश में प्रत्येक से २०, बम्बई, पजाब और बिहार में प्रत्येक से १६, मध्य-भारत से ८ और आसाम, उड़ीसा, सिन्ध और उत्तर-पश्चिमीय प्रदेश में प्रत्येक से ५ सदस्य आते थे। शेष चार सदस्यों में से प्रत्येक देहली, अजमेर-मेरवाड़ा, कुर्ग तथा ब्रिटिश बलूचिस्तान से आता था। इस प्रकार कौंसिल ऑफ स्टेट दो प्रकार के प्रतिनिधियों से मिलकर बनती थी—प्रथम वे जो नागरिकों द्वारा निर्वाचित किये जाते थे और दूसरे वे जिनको देशी राज्यों के शासक अपने विचारों का प्रतिनिधित्व करने के लिये भेजा करते थे।

हाउस ऑफ असेम्बली की रचना—

हाउस ऑफ असेम्बली की सदस्य सख्या ४७५ थी। इनमें २५० ब्रिटिश भारत के और १२५ देशी राज्यों के प्रतिनिधि होते थे। कौंसिल ऑफ स्टेट की भाँति, इसमें भी देशी राज्यों के प्रतिनिधि उनके शासकों द्वारा नाम

निर्देशित किये जाते थे। परन्तु प्रतिनिधियों की संख्या राज्य की जनसंख्या पर आधारित की गई थी। इस प्रकार १४, ४३६, १४८ जन-संख्या वाले हैदराबाद राज्य को १६, तथा ६,५५७, ३०२ जनसंख्या वाले मैसूर राज्य को ७ और ५,०९५, ९७३ जनसंख्या वाले त्रिवांकुर राज्य को ५ स्थान दिये गये थे। कौंसिल की भाँति, असेम्बली में भी राज्यों द्वारा रिक्त छोड़ दिये गए स्थानों की किसी अंश तक पूर्ति संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों द्वारा किये जाने का आयोजन था।

ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिये अप्रत्यक्ष निर्वाचन विधि की व्यवस्था की गई थी। प्रायः सभी प्रजातान्त्रिक देशों में प्रथम सदन के लिये प्रत्यक्ष निर्वाचन-विधि का प्रयोग किया जाता है परन्तु असेम्बली के लिये इसकी उपेक्षा कर इसके स्वरूप को अप्रजातान्त्रिक बना दिया गया था। प्रान्तों में विभिन्न सम्प्रदायों तथा हितों के आधार पर प्रतिनिधित्व के लिये पृथक् निर्वाचन क्षेत्र बना दिये गये थे। सामान्य निर्वाचन क्षेत्र से १०५, मुसलमानों के ८२, सिक्खों के ६, भारतीय ईसाइयों के ८, योरोपियनों के ८, ऐंग्लो-इण्डियन के ४, जमींदारों के ७, मजदूरों के १० और वाणिज्य तथा व्यवसाय के क्षेत्र के ११ प्रतिनिधि चुने जाते थे। अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधि सामान्य निर्वाचन क्षेत्र के प्रति-निधियों में ही सम्मिलित थे। उनके प्रतिनिधि उनके द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों में से जो आवश्यक सदस्य संख्या के चार गुने होते थे हिन्दुओं द्वारा चुने जाते थे।

सदस्यता के लिये अर्हताएँ—

व्यवस्थापिका-सभा के किसी सदन की सदस्यता के लिये ब्रिटिश भारत का नागरिक होना अथवा किसी देशी राज्य का शासक होना आवश्यक था। संघ में प्रविष्ट होने वाले देशी राज्यों के सदस्य भी इसकी सदस्यता के योग्य थे। परन्तु दोनों सदनों के लिये आयु की अर्हता भिन्न थी। कौंसिल ऑफ स्टेट के लिये ३० वर्ष और हाउस ऑफ असेम्बली के लिये २५ वर्ष की आयु होना आवश्यक थी। लेकिन राज्यों के शासकों के लिये आयु की अर्हता सम्बन्धी यह उपबन्ध लागू नहीं होता था। प्रत्येक सदस्य को पद ग्रहण करते समय पद की तथा गोपनीयता की शपथ लेनी पड़ती थी।[1] वह त्याग पत्र द्वारा किसी भी समय अपना पद-त्याग सकता था। वैसे भी, किसी अनर्हता के कारण कोई सदन अपने किसी सदस्य के स्थान को रिक्त घोषित

---

1. S. 24

कर सकता था। ये अनर्हताएँ थीं—न्यायालय द्वारा विकृत मस्तिष्कीय या अविमुक्त दिवालिया घोषित कर दिया जाना, निर्वाचन के सम्बन्ध में अपराधी घोषित कर दिया जाना तथा ब्रिटिश भारत में कोई ऐसा अपराध करना जिसके दण्ड स्वरूप निर्वासन अथवा २ वर्ष या उससे अधिक समय के लिये कारावास दिया गया हो। अपराध की दण्ड पूर्ति के ५ वर्ष पश्चात् कोई भी व्यक्ति व्यवस्थापिका-सभा की सदस्यता के लिये चुनाव में भाग ले सकता था। यदि कोई सदस्य बिना सदन की अनुज्ञा के ६० दिन की कालावधि तक लगातार उसके सब अधिवेशनों में अनुपस्थित रहता तो भी सदन उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकता था। अनर्ह घोषित कर दिये जाने पर भी यदि कोई व्यक्ति व्यवस्थापिका सभा की प्रक्रिया में भाग लेता तो उस पर प्रतिदिन ५००) अर्थदण्ड आरोपित करने की व्यवस्था की गई थी।[1] संघीय अथवा प्रान्तीय शासन में कोई लाभ का पद धारण करना भी व्यस्थापिका-सभा की सदस्यता के लिये एक अनर्हता थी परन्तु मन्त्रियों के लिये यह उपबन्ध लागू नहीं था।

सदस्यों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ—

सन् १९३५ के भारत-शासन अधिनियम के उपबन्धों के तथा संघीय व्यवस्थापिका-सभा के प्रक्रिया के विनियामक नियमों और स्थायी आदेशों के अधीन रहते हुए व्यवस्थापिका-सभा में सदस्यों को वाक-स्वातन्त्र्य का अधिकार था। परन्तु गवर्नर-जनरल वाद-विवाद के सम्बन्ध में सीमाएँ निर्धारित करता था और सदस्यों को उन सीमाओं का भी ध्यान रखना पड़ता था। इसके अतिरिक्त, व्यवस्थापिका-सभा में कही हुई किसी बात या किसी मत के विषय में किसी सदस्य के विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई कार्यवाही नहीं चल सकती थी। सदन की स्वीकृति के विरुद्ध उसकी कोई कार्यवाही प्रकाशित नहीं हो सकती थी। परन्तु सदस्य वाक्-स्वातन्त्र्य की आड़ में अपमान जनक भाषा का प्रयोग नहीं कर सकते थे।

व्यवस्थापिका-सभा की प्रक्रिया अंग्रेजी भाषा में होती थी परन्तु प्रक्रिया के नियमों के अनुसार यदि कोई व्यक्ति इस भाषा से परिचित नहीं था तो वह किसी अन्य भाषा का भी प्रयोग कर सकता था।[2] अपने कार्य सञ्चालन के लिये तथा प्रक्रिया के लिये साधारणतः व्यवस्थापिका सभा का प्रत्येक

---

1. S 25 to 27 2 S 39

सदन नियम बना सकता था।[2] परन्तु प्रायः गवर्नर-जनरल सदन के अध्यक्ष के परामर्श से ऐसे नियम बनाया करता था। वह ऐसे नियम भी बना सकता था जिससे कि वित्त सम्बन्धी प्रक्रिया किसी निश्चित समय तक समाप्त हो सके। उसे अधिकार था कि वह किसी ऐसे राज्य के सम्बन्ध में वाद-विवाद रोक दे जो संघ में प्रविष्ट नहीं हुआ था। कुछ परिस्थितियों में वह वाक् स्वातन्त्र्य को रोक भी सकता था। विशेषकर जब कि उसका यह समाधान हो जाता था कि अमुक विषय पर वाद-विवाद देश में अशान्ति का कारण बनेगा तो वह उसे भी रोक सकता था। उसे दोनों सदनों की संयुक्त बैठकों सम्बन्धी, तथा उनमें परस्पर सचार सम्बन्धी प्रक्रिया के नियम बनाने का भी अधिकार था। न्यायाधीशों के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका-सभा के सदस्य कोई वाद-विवाद नहीं कर सकते थे। यह व्यवस्था न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिये अत्यन्त आवश्यक थी।

विधान प्रक्रिया

धन-विधेयकों तथा अन्य वित्तीय विधेयकों को छोड़कर कोई विधेयक व्यवस्थापिका-सभा के किसी भी सदन में आरम्भ हो सकता था। परन्तु यदि हाउस ऑफ असेम्बली द्वारा पास किया हुआ कोई विधेयक कौंसिल ऑफ स्टेट में लम्बित होता था तो असेम्बली के विघटन पर वह समाप्त हुआ समझा जाता था। इसके विपरीत, कौंसिल ऑफ स्टेट द्वारा पास किया हुआ विधेयक असेम्बली में लम्बित होने पर उसके विघटन पर समाप्त नहीं हो जाता था बल्कि नई असेम्बली उस पर प्रक्रिया जारी रखती थी। यदि कोई विधेयक एक सदन द्वारा पास कर दिया जाता और दूसरा सदन उसे अस्वीकार कर देता अथवा संशोधन के सम्बन्ध में उस सदन से मतभेद हो जाता और उसका निर्णय न हो पाता तो गवर्नर-जनरल को दोनों सदनों की संयुक्त बैठक आमन्त्रित करने का अधिकार था। इसकी अधिसूचना प्रायः मन्त्रियों के परामर्श से करता था परन्तु स्वविवेक के प्रयोग द्वारा वह उनकी उपेक्षा भी कर सकता था। सदनों की संयुक्त बैठक में उपस्थित सदस्यों के मतदान के आधार पर विधेयक के सम्बन्ध में निर्णय हो जाता था।

व्यवस्थापिका-सभा के दोनों सदनों द्वारा पास हो जाने के पश्चात् विधेयक गवर्नर-जनरल के समक्ष उपस्थित किया जाता था और वह यह घोषित करता था कि वह विधेयक पर या तो अनुमति देता है या अनुमति

2. S. 38

रोक लेता है। यदि वह चाहता तो विधेयक को समस्त अथवा अंश रूप में पुनर्विचार के लिये वापिस भेज सकता था और या उसे सम्राट् के विचारार्थ रक्षित कर सकता था। यदि सम्राट् के विचारार्थ रक्षित किये गए विधेयक पर एक वर्ष की कालावधि में उसकी स्वीकृति नहीं मिलती तो वह समाप्त समझा जाता था। परन्तु यदि इसी बीच में सम्राट् अपनी अस्वीकृति प्रकट करदे तो गवर्नर-जनरल एक अधिसूचना द्वारा इस आशय की घोषणा कर देता था।

वित्तीय विषयों में प्रक्रिया

प्रत्येक वित्तीय वर्ष के बारे में व्यवस्थापिका सभा के दोनों सदनों के समक्ष गवर्नर-जनरल संघीय सरकार की इस वर्ष के लिये प्राक्कथित प्राप्तियों और व्यय का विवरण रखवाता था। इसे साधारणतः बजट के नाम से पुकारा जाता था। इसकी मदों के निर्धारण में उसे स्वविवेक के प्रयोग की विशाल शक्तियाँ प्राप्त थीं। सदस्यों को वित्तीय विषयों पर वाद-विवाद करने का बड़ा संकुचित अधिकार दिया गया था। वे (अ) किसी कर के लगाने या बढ़ाने (आ) धन उधार लेने (इ) आर्थिक प्रत्याभूति (Guarantee) देने तथा संघीय राजस्व पर व्यय निर्धारित करने के सम्बन्ध में कोई विधेयक स्वयं प्रस्तावित नहीं कर सकते थे। इनमें से किसी विषय पर विधेयक आरम्भ करने के लिये यह आवश्यक था कि वे पहिले गवर्नर-जनरल की स्वीकृति ले लें। वास्तव में व्यवस्थापिका-सभा के सदस्य किसी ऐसे विधेयक पर विचार नहीं कर सकते थे जिसका प्रयोजन किसी मद पर व्यय कम करना हो, जब तक कि गवर्नर-जनरल ने इसकी स्वीकृति न दे दी हो। इसके अतिरिक्त गवर्नर जनरल की अध्यादेश जारी करने की शक्ति से व्यवस्थापिका-सभा के अधिकार और भी सीमित हो जाते थे। उसके स्वविवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय के अधिकार तथा विशेष उत्तरदायित्वों से व्यवस्थापिका-सभा की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचती थी। इस पर उसकी आयात सम्बन्धी शक्तियाँ और भी आपत्तिजनक थीं।

उपसंहार

यह स्पष्ट है कि गवर्नर-जनरल की विस्तृत शक्तियों के कारण व्यवस्थापिका-सभा का कार्यक्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो गया था। उसकी रचना में, प्रक्रिया तथा शक्तियों में प्रजातांत्रिक शासन की झलक नहीं दिखाई देती थी। निम्न सदन का निर्वाचन अप्रत्यक्ष विधि से होता था, गवर्नर-जनरल को विधेयक पर अभिषेध का पूरा अधिकार था, व्यवस्थापिका-सभा को नियम बनाने

की उचित शक्तियाँ नहीं दी गई थीं, उसके अधिकार सीमित थे। ऐसी दशा में उसका अस्तित्व विशेष महत्वपूर्ण नहीं था।

संघीय न्यायपालिका

स्थापना और गठन

किसी संघ का निर्माण चाहे कितना ही दूषित क्यों न हो उसके लिये एक न्यायपालिका की आवश्यकता फिर भी होती है। विशेषकर, सन् १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत इसकी स्थापना अत्यन्त आवश्यक थी क्योंकि संघ की इकाइयाँ एक जैसी नहीं थीं। संघ के अंगों—देशी रियासतों, ब्रिटिश भारत के प्रान्तों तथा संघ शासन—के बीच विविध मतभेदों की आशंका थी। उनके सम्बन्धों को निर्धारित करने के लिये एक न्यायपालिका की स्थापना का विचार स्वाभाविक था। परन्तु अधिनियम की रचना के समय अधिकांश तर्क इसकी स्थापना के विरुद्ध दिये गए थे। स्वयं ब्रिटिश सरकार ने यह सुझाव दिया था कि संघीय न्यायपालिका के अतिरिक्त एक उच्चतम न्यायालय भी स्थापित किया जाये। परन्तु उच्चतम न्यायालय तथा संघीय न्यायपालिका के बीच संघर्ष की संभावना के विचार के कारण यह सुझाव अमान्य रहा और केवल एक संघीय न्यायपालिका की स्थापना की गई जिसको दो भागों में विभक्त कर दिया गया—प्रथम प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के लिये और दूसरा अपीलीय क्षेत्राधिकार के लिये।

संघीय न्यायपालिका की रचना के लिये एक मुख्य न्यायाधिपति तथा सम्राट् की इच्छानुसार निर्धारित अवर-न्यायाधीशों (Puisne Judges) की व्यवस्था की गई थी। परन्तु व्यवहार में अवर-न्यायाधीशों की, जो ६ से अधिक नहीं होते थे, संख्या में कोई परिवर्तन करने के लिये संघीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा इस आशय की माँग की जा सकती थी। प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति सम्राट् करता था और वह न्यायाधीश उस समय तक पद धारण करता था जब तक कि वह पैंसठ वर्ष की आयु प्राप्त न कर ले। कोई न्यायाधीश अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपने पद को त्याग सकता था अथवा वह कदाचार (Mis-behaviour) अथवा मानसिक या शारीरिक असमर्थता की अनर्हता के कारण पद से हटाया जा सकता था। परन्तु न्यायाधीश को पदच्युत करने से पूर्व सम्राट् प्रीवी कौंसिल से परामर्श करता था और उसके अभिमत के आधार पर इसकी आज्ञा देता था। गवर्नर

जनरल को न्यायाधीशों को मुअत्तल करने का अधिकार नहीं था और न व्यवस्थापिका ही उसके कदाचार के सम्बन्ध में कोई बहस कर सकती थी।

न्यायाधीशों के लिये अर्हताएँ

न्यायपालिका के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिये कोई व्यक्ति तब तक अर्ह न था जब तक कि वह ब्रिटिश भारत के अथवा सघ में प्रविष्ट होने वाले किसी देशी राज्य के उच्च न्यायालय का लगातार कम से कम पाँच वर्ष तक न्यायाधीश न रह चुका हो अथवा दस वर्ष तक विधिवक्ता, अधिभाषक या अधिवक्ता न रहा हो। मुख्य न्यायाधिपति के रूप में नियुक्ति के लिये दस वर्ष के स्थान पर पन्द्रह वर्ष के अभ्यास की अर्हता अनिवार्य थी। यह भी उपबन्धित था कि मुख्य न्यायाधिपति के पद पर नियुक्त होने वाला व्यक्ति प्रथम बार किसी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश होने से पहिले विधिवक्ता, अधिभाषक या अधिवक्ता अवश्य रहा हो। ऐसा उपबन्ध सिविल सरविस के कर्मचारियों का न्यायपालिका में प्रवेश रोकने के लिये किया गया था।

वेतन इत्यादि—

न्यायपालिका के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते, छुट्टियाँ और निवृत्ति वेतन इत्यादि के सम्बन्ध में सम्राट् अपनी कौंसिल की सहायता से नियम बनाता था। परन्तु किसी न्यायाधीश के न तो विशेषाधिकारों में और न भत्तों में और न अनुपस्थिति छुट्टी या निवृत्ति वेतन विषयक उसके अधिकारों में उसकी नियुक्ति के पश्चात् उसको अलाभकारी परिवर्तन किया जा सकता था। न्यायपालिका का कार्य-स्थान देहली था। परन्तु गवर्नर-जनरल के अनुमोदन से मुख्य न्यायाधिपति समय-समय पर स्थान बदल सकता था।

क्षेत्राधिकार (प्रारम्भिक)—

सघीय न्यायपालिका को दो प्रकार का क्षेत्राधिकार प्राप्त था—प्रारम्भिक तथा अपीलीय। प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार द्वारा न्यायपालिका को सघ की इकाइयों के बीच विवादों को निर्णय करने का अधिकार था और अपीलीय क्षेत्राधि[illegible] के अन्तर्गत वह सघ-क्षेत्र के उच्च न्यायालयों से अपीलें सुनने[illegible]

[illegible] प्रारम्भ[illegible] [illegible]कार उन सब विवादों तक
[illegible] थवा त[illegible] [illegible] प्रश्न अन्तर्ग्रस्त होते थे
[illegible] सम्भव था और जिनमें

प्रतिपक्षी संघ की इकाइयाँ होती थीं। यदि ऐसे विवाद का एक पक्ष देशी राज्य होता तो यह आवश्यक था कि विवाद का सम्बन्ध अधिनियम की किसी धारा के निर्वचन से हो। इसके अतिरिक्त, परिषद्-आदेशों (आर्डर-इन कौंसिल) (आ) संघीय व्यवस्थापिका-सभा या कार्यपालिका की शक्तियों (इ) देशी राज्यों से किये गए समझौतों के निर्वचन के सम्बन्ध में भी न्यायपालिका को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार मिला हुआ था। यदि कोई विवाद का विषय ऐसा होता था जिसमें संघीय व्यवस्थापिका-सभा को देशी राज्यों के लिये नियम बनाने का अधिकार था या विवाद संघ की स्थापना के पश्चात् हुए किसी समझौते के सम्बन्ध में होता तो भी न्यायपालिका अपने प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का प्रयोग करती थी। परन्तु किसी ऐसे विवाद पर संघीय न्यायपालिका के इस क्षेत्राधिकार का विस्तार नहीं था जिसके करार में पहिले ही प्रतिपक्षियों ने यह तय कर लिया हो कि ऐसे विवाद पर न्यायपालिका का क्षेत्राधिकार नहीं होगा। लेकिन फिर भी न्यायपालिका ऐसे विवादों के सम्बन्ध में एक अधिकार-घोषक निर्णय दे सकती थी जिसको मानना प्रतिपक्षियों के लिये कानूनन अनिवार्य तो नहीं था मगर वे उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे।

अपीलीय क्षेत्राधिकार—

सघ-क्षेत्र के किसी भी उच्च न्यायालय के अन्तिम आदेश की अपील संघीय न्यायपालिका में हो सकती थी। यह अपील इस आधार पर हो सकती थी कि उच्च न्यायालय ने किसी विषय पर गलत निर्णय दिया है और उसमें एक सारवान विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है या वह विषय ऐसा होना चाहिये था जिस पर बिना उच्च न्यायालय की स्वीकृति के प्रीवी कौंसिल में अपील की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त, स्वयं न्यायपालिका किसी भी विवाद में अपील के लिये विशेष आज्ञा दे सकती थी। साधारणतः अपील के योग्य विवादों में उच्च न्यायालय अपने अन्तिम आदेश के साथ एक प्रमाण-पत्र दे देता था कि अमुक विवाद में अधिनियम के निर्वचन का कोई सारवान विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। सारवान विधि प्रश्न वह समझा जाता था जिसमें सार्वजनिक अथवा वैयक्तिक हित के किसी वैध-अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर हो। इसके अतिरिक्त, परिषद्-आदेशों (आर्डर इन कौंसिल) के निर्वचन के सम्बन्ध में दिये गए गलत निर्णय की अपील न्यायपालिका में की जा सकती थी।

गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति द्वारा, जिसे वह स्वविवेक द्वारा दे सकता था, सघीय व्यवस्थापिका-सभा ऐसे नियम बना सकती थी जिनसे कि न्यायपालिका का अपीलीय क्षेत्राधिकार उन विषयों में भी बढ जाये जिनमें कि अधिनियम अथवा किसी अन्य आलेख या आदेश के निर्वचन की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु ऐसे नियमों के अनुसार न्यायपालिका ऐसे विवादों की अपीलें सुन सकती थी जिनमें ५०,०००) रुपये की राशि सम्मिलित हो या वह विवाद-विषय इतने ही मूल्य की सम्पत्ति से सम्बन्ध रखता हो। लेकिन यदि किसी विवाद में ये शर्तें पूरी नहीं हो पायें तो भी न्यायपालिका उसकी अपील की विशेष इजाजत दे सकती थी।

देशी राज्यों के न्यायालयो से अपीलें—

सघीय न्यायपालिका का क्षेत्राधिकार देशी राज्यों के न्यायालयों के उन विवादों पर भी विस्तृत था जिनमें कि अधिनियम के उपबन्धों, परिषद्-आदेश (आर्डर-इन-काउन्सिल) सघीय कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका-सभा के किसी आदेश या नियम के निर्वचन की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त, संघीय न्यायपालिका के अन्तिम आदेश की अपील सपरिषद् सम्राट् के सम्मुख की जा सकती थी और यह आवश्यक नहीं था कि इसके लिये न्यायपालिका की पूर्व अनुमति तथा कोई प्रमाणपत्र लिया जाये। परन्तु ऐसे विवाद का १६३५ के अधिनियम के किसी उपबन्ध के निर्वचन से सम्बन्धित होना आवश्यक था। यद्यपि प्रीवी कौंसिल अपनी विशेष इजाजत द्वारा किसी अन्य विवाद की अपील भी सुन सकती थी, साधारणतया किसी विवाद में अपील की विशेष इज़ाजत देने में प्रीवी कौंसिल अपनी प्रक्रिया के नियमों का पालन करती थी और ऐसे ही विवादों की अपीलें सुनती थी जिनमें जनहित अथवा वैयक्तिक हित के विधि-सम्बन्धी सारवान प्रश्न अन्तंग्रस्त होते थे। किसी आपराधिक विवाद की अपील सुनने से पहिले प्रीवी कौंसिल यह देख लेती थी कि क्या निर्णय अशुद्ध हुआ है और यदि हुआ है तो क्या उसके द्वारा किसी विधि-सम्बन्धी सिद्धान्त की उपेक्षा हुई है।

सघीय न्यायपालिका अथवा प्रीवी कौंसिल द्वारा घोषित विधि ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों के भीतर सब न्यायालयों को बन्धनकारी होती थी। यदि किसी समय गवर्नर-जनरल को यह प्रतीत होता कि उसे किसी महत्वपूर्ण विषय में न्यायपालिका की राय लेना इष्टकर है तो वह स्वविवेक के आधार पर उस प्रश्न को न्यायपालिका के विचारार्थ सौंप सकता था, वह यद्यपि उसके द्वारा प्रतिविदित राय को जानने के लिये बाधित नहीं था।

गवर्नर-जनरल के अनुमोदन से समय-समय पर संघीय न्यायपालिका न्यायालयों की कार्य प्रणाली और प्रक्रिया के साधारण विनियमन के लिये नियम बना सकती थी। इनके अन्तर्गत वकीलों के अधिकारों, अपीलें सुनने की प्रक्रिया, समय, और खर्चे आदि के नियम होते थे। ऐसी अपीलें जो न्यायपालिका को तुच्छ या तंग करने वाली अथवा विलम्ब करने के प्रयोजन से की गई प्रतीत होती थीं उनके सद्यः निर्धारण के लिये उपबन्धन करने वाले नियम भी न्यायपालिका को बनाने का अधिकार था।

किसी विवाद में निर्णय देने के लिये तीन न्यायाधीशों की आवश्यकता होती थी और यह मुख्य न्यायाधिपति ही निश्चित करता था कि कौन से तीन न्यायाधीश अमुक विवाद में कार्यवाही करेंगे। यदि उपस्थित न्यायाधीशों के बहुसंख्यक की सहमति होती तो निर्णय खुले न्यायालय में सुनाये जाते थे।

संघीय न्यायपालिका का प्रशासन, व्यय, जिसमें न्यायपालिका के पदाधिकारियों और सेवकों को, या उनके बारे में दिये जाने वाले सब वेतन, भत्ते और निवृत्ति-वेतन भी थे, संघ शासन की संचित निधि पर भारित होते थे और न्यायपालिका द्वारा ली गई फीसें और अन्य धन उस निधि का एक भाग होती थीं।

प्रान्तीय स्व-शासन

हम ऊपर बतला चुके हैं कि सन् १९३५ के अधिनियम की महत्त्वपूर्ण विशेषता प्रान्तीय स्वायत्तता (Provincial Autonomy) की स्थापना थी। इसके द्वारा प्रान्तों की स्थिति में कुछ नए परिवर्तन कर दिये गए थे। यद्यपि इस अधिनियम के पूर्व भी प्रान्तों में कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका-सभा इत्यादि निकाय कार्यशील थे तथापि उनकी स्थिति स्वतन्त्र नहीं थी। वे केवल प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करते थे। परन्तु नए अधिनियम ने प्रान्तों की स्थिति को बदल दिया और उनको ब्रिटिश शासन में प्रथम बार एक सीमित हद तक प्रादेशिक विभाग की स्थिति से हटाकर शासन की स्वतन्त्र इकाई का रूप दे दिया।

सरल शब्दों में, प्रान्तीय स्वायत्तता का अभिप्राय ऐसी स्वाधीनता से है जिसके अन्तर्गत गवर्नर के प्रान्तों की कार्यपालिकाओं तथा व्यवस्थापिका-सभाओं को एक निर्धारित क्षेत्र में स्वतन्त्र अधिकार सौंप दिये गये थे और उस क्षेत्र में शासन

के ये अंग केन्द्रीय शासन एवं व्यवस्थापिका के नियंत्रण से मुक्त थे। दूसरे शब्दों में प्रान्तीय स्वायत्तता की दो विशेषताएँ थीं—प्रान्तीय शासन को वाह्य हस्तक्षेप से स्वतन्त्रता तथा एक निर्वाचित व्यवस्थापिका-सभा के प्रति उसका उत्तरदायित्व। इसमें संदेह नहीं कि अधिनियम की योजना द्वारा प्रान्तों में द्वैध-शासन की समाप्ति और उनके लिये अनन्य क्षेत्राधिकार की स्थापना का प्रयत्न किया गया था और प्रान्तों की स्वायत्तता देश की वैधानिक प्रगति में एक महत्वपूर्ण चरण थी। परन्तु यदि तथ्यों पर उचित रूप से दृष्टिपात किया जाये तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि प्रान्तीय शासन के उत्तरदायित्व में अनेक रुकावटें भी थीं। केन्द्रीय शासन का नियंत्रण पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ था। उदाहरण के लिये जिन विषयों में प्रान्त का गवर्नर स्वविवेक या व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य करता था इनके सम्बन्ध में वह गवर्नर-जनरल के सामान्य नियन्त्रण में बाधित था। इसके अतिरिक्त, स्वयं गवर्नर को विशेष उत्तरदायित्वों तथा स्वविवेक की शक्तियों द्वारा प्रान्तीय स्वायत्तता को कुचलने के अस्त्रों से सुसज्जित कर दिया गया था। संघीय व्यवस्थापिका का यह अधिकार कि वह स्वनिर्मित किसी नियम को प्रान्तों में लागू करने का कार्य प्रान्तीय शासन अथवा उसके मातहत किसी अन्य अधिकारी को सौंप सकती थी, प्रान्तीय स्वायत्तता पर एक अन्य प्रतिबन्ध था। संक्षेप में, प्रान्तीय स्वायत्तता भ्रमात्मक थी क्योंकि इस पर आन्तरिक तथा बाध्य दोनों प्रकार सीमाएँ लगी हुई थीं। वास्तव में प्रान्तीय शासन के अंगों के अध्ययन से यह विषय अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

प्रान्तीय कार्यपालिका

गवर्नर

नियुक्ति वेतन इत्यादि—

सन् १९३५ के भारत-शासन-अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्त की कार्यकारिणी शक्ति सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में गवर्नर में निहित थी जिसका वह स्वयं या अपने अधीन कर्मचारियों द्वारा प्रयोग करता था। इस अधिनियम से पूर्व के अधिनियमों के अनुसार गवर्नर को अपने अधिकार एवं शक्तियाँ गवर्नर-जनरल से प्राप्त होते थे परन्तु अब सम्राट् का प्रतिनिधि होने के कारण वह अपनी शक्तियाँ प्रत्यक्ष रूप में सम्राट् से लेने लगा था। उसकी नियुक्ति भी भारत-मंत्री के परामर्श पर सम्राट द्वारा होती थी। उसके वेतन और भत्ते इत्यादि भी नियुक्ति के अवसर पर निश्चित होते थे जिनमें परिवर्तन करने का व्यवस्थापिका-सभा को कोई अधिकार नहीं था।

प्रान्तों में गवर्नर की वही स्थिति थी जो केन्द्र में गवर्नर-जनरल को प्राप्त थी। अन्तर दोनों की स्थिति में यह था कि केन्द्र की भाँति प्रान्तों में कोई विभाग गवर्नर के लिये आरक्षित नहीं था और न उसे वित्तीय स्थायित्व कायम रखने के लिये कोई उत्तरदायित्व दिया गया था। उसे बर्मा तथा इंगलैंड के आने वाले माल के साथ भेदपूर्ण व्यवहार को रोकने का कर्त्तव्य भार भी नहीं सौंपा गया था। वास्तव में ये विषय केन्द्रीय महत्व के थे और इन्हें गवर्नर-जनरल के कार्य-क्षेत्र में ही रखना उचित था। अत प्रान्त की कार्यकारिणी शक्ति का विस्तार उन्हीं विषयों तक था जो प्रान्तीय तथा समवर्ती विधायक सूचियों में सम्मिलित थे। केन्द्रीय शासन को प्रान्तीय विधायक सूची में सम्मिलित किसी विषय पर नियम बनाने का उस समय तक कोई अधिकार नहीं होता था जब तक कि प्रान्तीय शासन इसकी स्वीकृति न दे दे और या प्रान्त विशेष में कोई आपात ही न उठ खड़ा हो। समवर्ती सूची में सम्मिलित विषयों पर नियम बनाने का अधिकार प्रान्तीय तथा केन्द्रीय दोनों शासनों को प्राप्त था।

अधिकार और शक्तियाँ

गवर्नर को भी, गवर्नर-जनरल की भाँति, प्रशासन कार्य में स्वविवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य करने की शक्तियाँ दी गई थीं। उसकी विवेक सम्बन्धी शक्तियों का क्षेत्र बड़ा व्यापक था और अनेक अवसरों पर वह स्व-विवेक का प्रयोग कर सकता था। व्यक्तिगत निर्णय तथा स्वविवेक के प्रयोग में जो अन्तर है उसे हम गवर्नर-जनरल के प्रसंग में बतला चुके हैं। अपने विशेष उत्तरदायित्वों के सम्पादन में गवर्नर व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर कार्य करता था। ये विशेष उत्तरदायित्व निम्नलिखित थे[1]।

(१) प्रान्त अथवा उसके किसी भाग में शांति अथवा नवर्धन के सकट को दूर करना;

(२) अल्प-संख्यकों के न्यायोचित हितों की रक्षा करना;

(३) सरकारी कर्मचारियों तथा उनके आश्रितों को वे अधिकार दिलाना जो उनको अधिनियम के अन्तर्गत दिये गए थे और उनके न्यायोचित हितों की रक्षा करना;

(४) कार्यपालिका के क्षेत्र में भेद-भाव पूर्ण व्यवहार के विरुद्ध सरक्षण दिलाना;

---

1. Ss. 50 and 51.

(५) आंशिक रूप से अपवर्तित क्षेत्रों में सुशासन की व्यवस्था करना,

(६) प्रत्येक देशी राज्य की मर्यादा की तथा उसके शासक के अधिकारों एव प्रतिष्ठा की रक्षा करना,

(७) गवर्नर-जनरल द्वारा स्वविवेकानुसार प्रशासकीय सम्बन्धों को निर्धारित करने वाले उपबन्धों के अन्तर्गत जारी किये आदेशों तथा निर्देशों का पालन कराना।

इनके अतिरिक्त, मध्य-प्रदेश और बरार के गवर्नर का यह विशेष उत्तरदायित्व था कि वह इन प्रदेशों में सचित राजस्व में से बरार के निवासियों के लाभ हित, उचित व्यय कराये। जन-जाति क्षेत्रों से युक्त-प्रान्तों के गवर्नरों को कोई ऐसा कार्य नहीं करना था जो इस सम्बन्ध में उनके अभिकर्तत्व कार्यों (Agency Function) के सम्पादन में बाधा पहुँचाये। उदाहरण के लिये, उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त में सम्मिलित जन-जाति क्षेत्रों के सम्बन्ध में उस प्रान्त के गवर्नर का यह उत्तरदायित्व था कि वह गवर्नर-जनरल के एजेन्ट के रूप में कार्य करे। सिन्ध के गवर्नर पर लायड बाध और नहर योजना के प्रशासन का कार्य भार था। इस विषय में वह मन्त्रियों से परामर्श लेता था परन्तु उसे व्यक्तिगत निर्णय के प्रयोग करने का अधिकार था और इसके लिये वह भारत-मन्त्री को उत्तरदायी होता था।[1] गवर्नरों का यह भी एक विशेष उत्तरदायित्व था कि वे जनता के सभी वर्गों के सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने को प्रोत्साहित करें तथा अल्पसख्यकों के प्रति नियुक्तियों तथा अन्य क्षेत्रों में भेदभाव पूर्ण व्यवहार को रोकें। देशी राज्यों के प्रशासन में उसे कोई हस्तक्षेप नहीं करना था और यदि उसे सन्देह होता कि उनके सम्बन्ध में किसी विषय पर उसे अधिकार था या नहीं तो वह गवर्नर-जनरल की राय से कार्य करता था।

इनके अतिरिक्त, कुछ और भी विषय ऐसे थे जिनमें गवर्नर व्यक्तिगत निर्णय द्वारा कार्य करता था। उदाहरणार्थ, प्रान्त के महाधिवक्ता की नियुक्ति, उसके वेतन आदि का निर्धारण तथा पुलिस के सम्बन्ध में नियम बनाने अथवा उनमें सशोधन करने का कार्य वह व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर करता था। प्रान्तीय महाधिवक्ता की स्थिति लगभग वैसी ही होती थी जैसी कि सघ शासन के महाधिवक्ता को प्रदान की गई थी।

---

1 S 54

की नियुक्ति वेतन इत्यादि का नियमन करता था।[1] यह इस कर्मचारी वृन्द का विशेषाधिकार था कि उनके विरुद्ध प्रशासनीय कार्यों के लिये भारतीय न्यायालयों में कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती थी।

उपसंहार

गवर्नर की शक्तियों एवं अधिकारों के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रान्तीय स्वतन्त्रता की व्यवस्था केवल भ्रमात्मक थी। इसके सुचारु कार्यकरण के लिये मन्त्रियों का कार्यक्षेत्र बढ़ाना अति आवश्यक था। परन्तु गवर्नर की विवेक की शक्तियों, व्यक्तिगत-निर्णय के अधिकारों, विशेष उत्तरदायित्वों आदि के कारण उसे निरंकुशता का जो स्तर मिल गया था इससे मन्त्रि-परिषद् का कार्यक्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो गया था। इसके अतिरिक्त, निर्वचन (Intropatation) द्वारा गवर्नर की शक्तियों का कार्यक्षेत्र और भी विस्तृत हो जाता था। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि प्रान्तीय स्वायत्तता की व्यवस्था एक दिखावा-मात्र थी। इसमें वास्तविकता का अंश अधिक नहीं था।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभा

प्रान्तीय स्वयत्तता के उचित स्वरूप के ज्ञान के लिये प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के गठन, शक्तियों एवं अधिकारों पर भी दृष्टिपात करना संगत होगा। सन् १९३५ के भारत-शासन-अधिनियम ने सभी प्रान्तों में एक सी व्यवस्थापिका-सभा की स्थापना का उपबन्ध नहीं किया था। कुछ प्रान्तों में द्वि-सदनात्मक और अन्य में एक सदनात्मक व्यवस्थापिका-सभा की स्थापना की गई थी। जिन प्रान्तों में इसके दो सदन थे उनमें निम्न सदन को 'लेजिस्लेटिव असेम्बली' और दूसरे सदन को 'लेजिस्लेटिव कौंसिल' कहा जाता था और ये प्रान्त निम्न थे—मद्रास, बम्बई, बंगाल, संयुक्त प्रान्त, बिहार और आसाम। शेष एक सदनीय व्यवस्थापिका-सभा वाले प्रान्त ये थे—पंजाब, मध्य-प्रान्त, उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त, सिन्ध और उड़ीसा।

लेजिस्लेटिव कौंसिल एक स्थायी संस्था थी। प्रति तीसरे वर्ष इसके एक तिहाई सदस्य निवृत्त हो जाते थे और नए सदस्यों की नियुक्ति होती थी। इस प्रकार इसके सदस्यों का कार्य-काल ९ वर्ष होता था। इसके विपरीत लेजिस्लेटिव असेम्बली की कार्यावधि ५ वर्ष रखी गई थी, परन्तु यदि गवर्नर चाहता तो स्वविवेकानुसार अवधि के पहले इसे विघटित कर सकता था।

जाना आवश्यक नहीं था। यह ६ महीने की कालावधि तक प्रभावी रहता था और इसके पश्चात् इसे इतने ही समय के लिये और बढ़ाया जा सकता था। इसके अतिरिक्त, गवर्नर को व्यवस्थापिका-सभा के सम्बन्ध में विशाल शक्तियाँ प्राप्त थीं। व्यवस्थापिका-सभा द्वारा पास किया गया विधेयक बिना उसकी स्वीकृति के नियम नहीं बन सकता था। वह उस पर अपनी स्वीकृति दे सकता था या रोक सकता था और या उसे गवर्नर-जनरल के विचारार्थ रक्षित कर सकता था। यदि वह चाहता तो किसी भी विधेयक को पुनर्विचार के लिये व्यवस्थापिका-सभा में वापिस भेज सकता था। यदि उसका यह समाधान हो जाता कि किसी विधेयक अथवा उसकी किसी धारा पर वाद विवाद से प्रान्त की शांति भंग हो रही है तो वह उसे रोक सकता था। शासन की मशीन असफल होने पर वह प्रान्तीय शासन की समस्त शक्तियाँ अपने हाथों में केन्द्रित करता था। उसके द्वारा बनाये गए नियम व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास किये गए नियमों के समान वैध होते थे।

वित्तीय शक्तियाँ—

वित्त के क्षेत्र में उसे आर्थिक कार्यों के ठीक समय पर सम्पादन के लिये नियम बनाने का अधिकार था। प्रान्तीय राजस्व का एक बहुत बड़ा भाग उन प्रयोजनों पर व्यय किया जाता था जिनको गवर्नर नियंत्रित करता था। यदि व्यवस्थापिका-सभा किसी अनुदान को कम या अस्वीकृत कर देती थी तो गवर्नर उसे अपने विशेषाधिकार के प्रयोग द्वारा प्रस्थापित कर सकता था। ऐसा करने के लिये उसे केवल अपने विशेष उत्तरदायित्वों के सम्पादन की आड़ लेनी होती थी। गवर्नर के वेतन और भत्तों पर व्यवस्थापिका-सभा में वाद-विवाद तक नहीं हो सकता था। नया कर लगाने, किसी अन्य कर को बढ़ाने अथवा लेने या किसी विषय पर व्यय के प्रस्ताव गवर्नर के अनुमोदन के पश्चात् ही प्रस्तावित किये जा सकते थे। वही आर्थिक वर्ष के आरम्भ में प्रान्तीय राजस्व की आय-व्यय का एक विवरण व्यवस्थापिका सभा के सम्मुख प्रस्तुत करवाता था। उसे ही स्वविवेक द्वारा यह निर्णय करने का अधिकार था कि कोई व्यय प्रान्तीय राजस्व पर भार स्वरूप होगा या नहीं। संक्षेप में, गवर्नर को वित्त के क्षेत्र में भी उतनी ही विस्तृत शक्तियाँ प्राप्त थीं जैसी कि अन्य क्षेत्रों में थीं।

गवर्नर-जनरल के समान गवर्नर को भी अपना एक अलग सचिवालय (Secretariat) रखने का अधिकार था। स्वविवेक द्वारा वह इसके कर्मचारियों

1 S. 305

की नियुक्ति वेतन इत्यादि का नियमन करता था।[1] यह इस कर्मचारी वृन्द का विशेषाधिकार था कि उनके विरुद्ध प्रशासनीय कार्यों के लिये भारतीय न्यायालयों में कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती थी।

उपसंहार

गवर्नर की शक्तियों एवं अधिकारों के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रान्तीय स्वतन्त्रता की व्यवस्था केवल भ्रमात्मक थी। इसके सुचारु कार्यकरण के लिये मन्त्रियों का कार्यक्षेत्र बढ़ाना अति आवश्यक था। परन्तु गवर्नर की विवेक की शक्तियों, व्यक्तिगत-निर्णय के अधिकारों, विशेष उत्तरदायित्वों आदि के कारण उसे निरंकुशता का जो स्तर मिल गया था इससे मन्त्रि-परिषद् का कार्यक्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो गया था। इसके अतिरिक्त, निर्वचन (Intrepatation) द्वारा गवर्नर की शक्तियों का कार्यक्षेत्र और भी विस्तृत हो जाता था। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि प्रान्तीय स्वायत्तता की व्यवस्था एक दिखावा-मात्र थी। इसमें वास्तविकता का अंश अधिक नहीं था।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभा

प्रान्तीय स्वयत्तता के उचित स्वरूप के ज्ञान के लिये प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के गठन, शक्तियों एवं अधिकारों पर भी दृष्टिपात करना संगत होगा। सन् १६३५ के भारत-शासन-अधिनियम ने सभी प्रान्तों में एक सी व्यवस्थापिका-सभा की स्थापना का उपबन्ध नहीं किया था। कुछ प्रान्तों में द्वि-सदनात्मक और अन्य में एक सदनात्मक व्यवस्थापिका-सभा की स्थापना की गई थी। जिन प्रान्तों में इसके दो सदन थे उनमें निम्न सदन को 'लेजिस्लेटिव असेम्बली' और दूसरे सदन को 'लेजिस्लेटिव कौंसिल' कहा जाता था और वे प्रान्त निम्न थे—मद्रास, बम्बई, बंगाल, संयुक्त प्रान्त, बिहार और आसाम। शेष एक सदनीय व्यवस्थापिका-सभा वाले प्रान्त थे वे—पंजाब, मध्य-भारत, उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त, सिन्ध और उड़ीसा।

लेजिस्लेटिव कौंसिल एक स्थायी संस्था थी। प्रति तीसरे वर्ष इसके एक तिहाई सदस्य निवृत्त हो जाते थे और नए सदस्यों की नियुक्ति होती थी। इस प्रकार इसके सदस्यों का कार्यकाल ६ वर्ष होता था। इसके विपरीत लेजिस्लेटिव असेम्बली की कार्यावधि ५ वर्ष रखी गई थी, परन्तु यदि गवर्नर चाहता तो स्वविवेकानुसार अवधि से पहले इसे विघटित कर सकता था।

1 S 305

व्यवस्थापिका-सभा को आहूत करने, (Summon) उसका सत्रावसान करने (Prorogue) तथा विघटन (Dissolve) करने के सम्बन्ध में गवर्नर को वैसे ही अधिकार प्राप्त थे जैसे कि केन्द्रीय शासन में गवर्नर-जनरल को थे। मन्त्रियों महाधिवक्ता, सभापति तथा अध्यक्ष आदि की नियुक्ति तथा गण पूर्ति के नियम भी संघीय शासन के समान थे।

लेजिस्लेटिव असेम्बली की रचना

असेम्बली में भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व किस प्रकार किया जाय, इस विषय पर अधिनियम की रचना के समय बड़ा वाद-विवाद हुआ था। अन्त में ब्रिटिश सरकार द्वारा सन् १९३२ में प्रस्तावित 'साम्प्रदायिक निर्णय' (Communal Award) के आधार पर इस समस्या का हल निकाला गया। साम्प्रदायिक निर्णय को उसके वास्तविक रूप में ही स्वीकार नहीं किया गया था बल्कि उसमें पूना पैक्ट (२५ सितम्बर सन् १९३२) की योजना भी सम्मिलित करदी गई थी। पूना पैक्ट के अनुसार व्यवस्थापिका-सभा में साधारण स्थानों का एक सारभूत् अनुपात दलित वर्गों के लिये निर्धारित कर दिया गया था। इन स्थानों को भरने की प्रक्रिया यह थी कि पहले स्वयं दलित जातियों के व्यक्ति प्रत्येक भरे जाने वाले स्थान के लिये चार व्यक्तियों के हिसाब से प्रारम्भिक निर्वाचन करते थे। तत्पश्चात् हिन्दुओं का सामान्य निर्वाचक समूह दलित जातियों द्वारा चुने हुए व्यक्तियों से व्यवस्थापिका-सभा के लिये सदस्य चुनता था। यह प्रक्रिया हिन्दुओं की एकता को तथा उसके साथ-साथ दलित जातियों के हितों को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से कार्यान्वित की गई थी। पंजाब तथा उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त में मुसलमानों तथा सिक्खों के लिये स्थान सुरक्षित थे। इनके अतिरिक्त, ऐंग्लो-इण्डियन, यूरोपियन, भारतीय ईसाई, उद्योग तथा व्यवसाय, जमींदारों तथा श्रमिक वर्गों के लिये भी स्थान सुरक्षित रक्खे गए थे। असेम्बली के लिये बंगाल में कुल स्थान २५०, संयुक्त प्रान्त में २२८, मद्रास में २१५, बम्बई में १७५, पंजाब में १७५, बिहार में १५२, मध्यप्रान्त और बरार में ११२, आसाम में १०८, सिन्ध और उड़ीसा प्रत्येक में ६० और उत्तर पश्चिम-सीमा प्रान्त में ५० थे। बंगाल में मुसलमानों को बहुमत प्रदान करने के उद्देश्य से उनके लिये ११७ स्थान निर्धारित किये गए थे। इसके अतिरिक्त, अन्य विभाजनों के अन्तर्गत भी, और मुसलमान सदस्य आ सकते। पंजाब में मुसलमानों को ८४, सिक्खों को ३१ स्थान प्राप्त थे। उत्तर पश्चिम सीमा-प्रान्त में मुसलमानों के लिये ३६ और सिन्ध में ३३ स्थान निर्धारित किये गए थे।

लेजिस्लेटिव कौंसिल की रचना

लेजिस्लेटिव कौंसिल की रचना भी विभिन्न वर्ग के सदस्यों से मिलकर होनी थी। निम्न तालिका में इसके लिये निर्धारित प्रतिनिधित्व का उल्लेख किया गया है।

प्रान्त	कुल स्थान	सामान्य स्थान	मुस्लिम स्थान	यूरोपियन स्थान	भारतीय ईसाइयों के लिये स्थान	असेम्बली द्वारा भरे जाने वाले स्थान	गवर्नर द्वारा नाम निर्देशन से भरे जाने वाले स्थान
१. बंगाल	अधिकतम ६५ कम से कम ६३	१०	१७	३	—	२७	अधिकतम ८ कम से कम ६
२ बिहार	अधिकतम ३० कम से कम २९	९	४	२	—	११	अधिकतम ४ कम से कम ३
३. मद्रास	अधिकतम ५६ कम से कम ५४	३५	७	१	३	—	अधिकतम १० कम से कम ८
४. बम्बई	अधिकतम ३० कम से कम २९	२०	५	१	—	—	अधिकतम ४ कम से कम ३
५. संयुक्त प्रान्त	अधिकतम ६० कम से कम ५८	३४	१७	१	—	—	अधिकतम ८ कम से कम ६
६. आसाम	अधिकतम २२ कम से कम २१	१०	६	२	—	—	अधिकतम ४ कम से कम ३

गवर्नर द्वारा भरे जाने वाले स्थान विशेष हितों, दलित वर्गों तथा महिलाओं को प्रतिनिधित्व देने के लिये निर्धारित किये गए थे। असेम्बली द्वारा जो स्थान भरे जाते थे उनका चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) के आधार पर एकता सक्रमणीय मत (Single transferale vote) द्वारा होता है।

सदस्यों के लिये अर्हताएँ एवं अनर्हताएँ

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा की सदस्यता के लिये खड़े होने वाले व्यक्ति का ब्रिटिश भारत अथवा उस देशी राज्य का नागरिक होना आवश्यक था

जो संघ में प्रविष्ट हो गया हो।[1] चुनाव के पश्चात् पद-ग्रहण करने से पूर्व सदस्य को पद की तथा गोपनीयता की शपथ लेनी होती थी। कोई भी व्यक्ति एक साथ सघीय तथा प्रान्तीय दोनों व्यवस्थापिका सभाओं का सदस्य नहीं हो सकता था। यदि ऐसी कोई परिस्थिति आ भी जाती तो उस सदस्य को किसी एक व्यवस्थापिका-सभा की सदस्यता त्याग देनी पड़ती थी और या गवर्नर कुछ समय के पश्चात् प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभा में उसके स्थान को रिक्त घोषित कर देता था इसी प्रकार कोई सदस्य दोनों सदनों का सदस्य नहीं हो सकता था। सदस्य अपने हस्ताक्षर-सहित लेख द्वारा त्याग पत्र दे सकते थे और या अनुपस्थिति आदि अन्य किसी अनर्हता के कारण उन्हें पद से हटाया जा सकता था। उनके विशेषाधिकार, तथा उन्मुक्तियाँ आदि भी सघीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों के समान थे।

प्रक्रिया

व्यवस्थापिका-सभा में प्रक्रिया अंग्रेजी भाषा में होती थी।[1] परन्तु ऐसे सदस्यों को जो इस भाषा से अनभिज्ञ थे अन्य भाषा को प्रयोग करने का अधिकार था। प्रत्येक सदन अपनी प्रक्रिया के लिये नियम बनाता था। गवर्नर को भी गवर्नर-जनरल के समान वाद-विवाद के सम्बन्ध में नियम बनाने की शक्ति प्राप्त थी। यदि उसका यह समाधान हो जाता कि किसी विधेयक पर अथवा उसके संशोधन किसी उपबन्ध पर वाद-विवाद द्वारा प्रान्त की शान्ति के भग होने की सभावना है तो वह उस वाद-विवाद को रोक सकता था। वैसे भी, उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के न्याय सम्बन्धी मामलों पर कोई वाद-विवाद नहीं हो सकता था। यद्यपि इसकी प्रक्रिया विधायक तथा वित्तीय विषयों[2] में बहुत कुछ सघीय व्यवस्थापिका सभा जैसी थी तथापि दोनों में थोड़ा अन्तर था, वह यह कि गवर्नर को व्यवस्थापिका सभा के दोनों सदनों की सयुक्त बैठक बुलाने का अधिकार उस मतभेद की दशा में था जबकि कोई विधेयक एक सदन द्वारा पास होकर दूसरे सदन द्वारा १२ महीने की कालावधि में उसकी स्वीकृति के लिये नहीं भेजा जाता था। यह कालावधि वित्तीय मामलों से अथवा गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित विधेयक के लिये घटाई भी जा सकती थी। जब कोई विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास हो जाता था तो नियम बनने के लिये गवर्नर के सम्मुख उसकी स्वीकृति के लिये रखा जाता था। गवर्नर अपने विवेकानुसार इस पर स्वीकृति दे सकता था या

---

1. ss 67 to 71   2 ss. 84 to 87.   3 ss. 78 to 83.

स्वीकृति देने से मना कर सकता था। यदि वह चाहता तो किसी विधेयक को गवर्नर-जनरल अथवा सम्राट् के विचारार्थ रक्षित भी कर सकता था।

विधायक एवं वित्तीय शक्तियाँ

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा की विधायक एवं वित्तीय शक्तियों को जानने के लिये गवर्नर की शक्तियों पर दृष्टिपात करना अपेक्षित है। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है गवर्नर को व्यवस्थापिका-सभा से सम्बन्धित तथा नियमादि बनाने की विस्तृत शक्तियाँ प्राप्त थीं। वह अध्यदेश जारी कर सकता या गवर्नर-जनरल की राय से स्वय प्रशासनीय कार्यों के सम्पादन के लिये नियम बना सकता था। ऐसे नियमों को बनाने से पूर्व उसके लिये व्यवस्थापिका-सभा से परामर्श करना आवश्यक नहीं था। यदि सवैधानिक योजना किसी समय असफल हो जाती तो प्रशासन की सारी शक्तियाँ अपने हाथ में ले लेने का अधिकार था और ऐसी दशा में उसके वे हो कर्त्तव्य होते थे जो केन्द्रीय शासन में गवर्नर-जनरल के हो सकते थे। परन्तु संवैधानिक निलम्बन का यह अवकाश ३ वर्ष से अनधिक कालावधि तक ही हो सकता था और इस समय में गवर्नर के ब्रिटिश ससद के नियन्त्रण में रहने का उपबन्ध किया गया था।

वित्तीय विषयों में प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं का कार्यक्षेत्र संकुचित था। राजस्व का एक बहुत बड़ा भाग गवर्नर के नियन्त्रण में रहता था और नए कर लगाने, कर बढाने आदि के प्रस्ताव गवर्नर की सिफारिश से ही व्यवस्थापिका सभा में प्रस्तावित किये जाते थे। कुछ विषय ऐसे थे जिन पर व्यवस्थापिका सभा में मतदान नहीं हो सकता था। वे विषय निम्न थे।

(१) गवर्नर के वेतन और भत्ते तथा उसके कार्यालय से सम्बन्धित अन्य व्यय;

(२) उस ऋण का भार जो प्रान्त को अदा करना था;

(३) मंत्रियों और महाधिवक्ता के वेतन तथा भत्ते आदि

(४) उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतन भत्ते तथा निवृत्त-वेतन आदि;

(५) अपवर्जित क्षेत्रों के प्रशासन पर होने वाला व्यय;

(६) ऐसी राशियाँ जो किसी न्यायालय के निर्णय या आज्ञप्ति के के सम्पादन के लिये अपेक्षित थीं;

(७) कोई अन्य व्यय जिसे अधिनियम ने प्रान्तीय राजस्व पर भार रूप बनाया हो।

यद्यपि ये सब विषय ऐसे थे जिन पर व्यवस्थापिका सभा मत नहीं दे सकती थी तथापि गवर्नर के वेतन और भत्ते आदि के विषय को छोड़कर उसे अन्य विषयों पर बहस करने का अधिकार था। इनके अतिरिक्त अन्य विषयों पर लेजिस्लेटिव असेम्बली मतदान कर सकती थी। उसे अन्य किसी भी अनुदान को स्वीकृत, अस्वीकृत अथवा कम करने का अधिकार था परन्तु गवर्नर अपने विशेषाधिकार द्वारा कम किये हुए किसी भी अनुदान को पुनर्स्थापित कर सकता था। गवर्नर की यह शक्ति व्यवस्थापिका सभा की शक्तियों पर एक विशाल आघात थी।

यह स्पष्ट है कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के अधिकार सभी दिशाओं में सीमित थे। विधायक और वित्तीय क्षेत्र में गवर्नर के विशेषाधिकारों के कारण उनका कार्यक्षेत्र बड़ा सकुचित रह गया था। दूसरे, साम्प्रदायिक आधार पर इसके स्थानों के बँटवारे के कारण यह जनता के वास्तविक हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। विशेषकर, इसके द्वितीय सदनों में प्रतिक्रियावादी सदस्यों की अधिकता होती थी। अतः यह निष्कर्ष सही है कि सन् १९३५ के भारत शासन-अधिनियम के अन्तर्गत न तो प्रान्तों की कार्यपालिकाओं में ही और न व्यवस्थापिका सभाओं में प्रान्तीय स्वायत्तता का कोई वास्तविक तत्त्व सन्निहित था। प्रान्तीय स्वायत्तता के लिये आन्तरिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ बाह्य हस्तक्षेप की अनुपस्थिति आवश्यक थी परन्तु इस स्वायत्तता के लिये बाह्य हस्तक्षेप ही इतना था कि इसकी व्यवस्था को धोखे की टट्टी मात्र कहा जा सकता है।

गृह-प्रशासन

सन् १८५७ से पूर्व ब्रिटिश भारत का प्रशासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों में था। उस समय गृह-प्रशासन का अभिप्राय कम्पनी के सचालक मण्डल से हो सकता था। परन्तु सन् १८५८ में भारत का प्रशासन कम्पनी से सम्राट को हस्तान्तरित कर दिया गया और भारत-शासन अधिनियम सन् १८५८ के द्वारा भारत-मन्त्री का पद आयोजित हुआ। भारतीय प्रशासन पर नियन्त्रण करने का कार्य भारत-मन्त्री को दे दिया गया और उसकी सहायता के लिये एक परिषद् भी नियुक्त करदी गई। सन् १९१९ के अधिनियम

द्वारा उसे भारत के प्रशासन को हर प्रकार से नियन्त्रित करने का अधिकार मिल गया और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन उसके निरीक्षण में कर दिये गए। भारतीय राजस्व से सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक कार्य पर उसका नियंत्रण हो गया और भारत में किसी भी महत्वपूर्ण कार्य के लिये उसकी अनुमति अपेक्षित हो गई।

परन्तु भारत-शासन-अधिनियम सन् १९३५ द्वारा भारत-मंत्री की स्थिति में परिवर्तन हो गया। पहिले भारत सम्बन्धी प्रत्येक कार्य में भारत-मंत्री को प्रमुखता दी जाती थी परन्तु इस अधिनियम में सम्राट् का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण बना दिया गया और भारत-मंत्री की स्थिति उसके अधीन हो गई। भारत-मंत्री का भारतीय प्रशासन पर नियंत्रण अथवा निर्देशन का जो भी अधिकार था वह सम्राट् को सौंप दिया गया। और भारत-मंत्री इस सम्बन्ध में उसका वैधानिक परामर्शदाता हो गया। परन्तु क्योंकि सम्राट् अपनी शक्तियों का प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग नहीं कर सकता था और अपने प्रत्येक कार्य के लिये उसे एक वैधानिक परामर्शदाता की आवश्यकता थी, भारत शासन अधिनियम सन् १९३५ का यह परिवर्तन सारभूत सिद्ध नहीं हुआ क्योंकि भारत-मंत्री पहिले की भाँति अधिनियम द्वारा दी गई शक्तियों का प्रयोग करता रहा सम्राट् को भारत के प्रशासन की शक्तियाँ हस्तान्तरित हो जाने पर उसकी शक्तियाँ दो प्रकार की हो गई—वैधानिक एवं परमाधिकार सम्बन्धी। वैधानिक शक्ति का प्रयोग सम्राट गवर्नर-जनरल तथा गवर्नर की नियुक्ति आदि विषयों में करता था और परमाधिकार सम्बन्धी शक्ति द्वारा वह भारतीयों को खिताब इत्यादि प्रदान करता था।

नए अधिनियम के अनुसार गवर्नर-जनरल तथा गवर्नर स्वविवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय के प्रयोग में भारत-मंत्री के नियंत्रण के अधीन थे। दोनों ही उच्चाधिकारियों को उसके आदेशों का पालन करना पड़ता था। उसे भारतीय सिविल सरविस, पुलिस सरविस आदि पर नियुक्तियाँ करने का भी अधिकार था। संघीय विधायक सूची के महत्वपूर्ण विषय उसके नियन्त्रण के अधीन थे। वही व्यवस्थापिका-सभाओं द्वारा पास किये गए एवं गवर्नर जनरल तथा गवर्नर द्वारा स्वीकृत विधेयकों पर सम्राट की अनुमति देने अथवा न देने की शक्ति का प्रयोग करता था। वही भारत की मुद्रा तथा विनिमय प्रणाली का नियमन करता था। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि गृह प्रशासन में भारत मंत्री की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण थी क्योंकि भारतीय प्रशासन पर उसका नियन्त्रण अत्यन्त व्यापक था।

अधिनियम का कार्यान्वित रूप

यह स्वाभाविक था कि उत्तरदायी शासन की स्थापना न करने वाले इस अधिनियम को कांग्रेस पसन्द न करे। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने अधिनियम के उस भाग को कार्यान्वित करने का निश्चय कर लिया था जिसका सम्बन्ध प्रान्तों में स्वायत्तता स्थापित करने स था। अतः सन् १६३६ में देश के राजनैतिक दलों ने आगामी चुनावों को लड़ने की तैयारियाँ आरम्भ कर दीं परन्तु इसी बीच में कांग्रेस में यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि चुनावों के पश्चात् मन्त्रि-परिषद् में पद ग्रहण किये जायँ या नहीं। इस पर बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने यह प्रस्ताव किया कि पद ग्रहण करने का निर्णय चुनावों में सफल होने के पश्चात् किया जाये और यह समस्या कुछ समय के लिये समाप्त हो गई।

चुनावों में कांग्रेस को आशातीत सफलता मिली क्योंकि इस समय तक यह देश की अत्यत लोक-प्रिय सस्था बन चुकी थी। मद्रास, बम्बई, संयुक्त-प्रान्त, बिहार, मध्य-प्रदेश और उड़ीसा में इसे स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ और बगाल, आसाम, तथा उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त में इसका दल व्यवस्थापिका-सभा में सबसे बड़ा था। शेष दो प्रान्तों— पजाब और सिन्ध में इसकी स्थिति अच्छी नहीं रही। परन्तु इन चुनावों से यह स्पष्ट हो गया कि मुस्लिम लीग अभी मुसलमानों में भी इतनी लोक-प्रिय नहीं थी जितनी कांग्रेस हिन्दुओं में थी क्योंकि वह सरकार द्वारा प्राप्त ४८२ स्थानों में से केवल ५१ स्थान प्राप्त कर सकी।

चुनावों के पश्चात् कांग्रेस के सामने फिर यही प्रश्न उपस्थित हुआ कि प्रान्तीय कार्यपालिका में पद ग्रहण किये जायें अथवा नहीं। श्री राजगोपालाचारी, सरदार पटेल तथा बाबू राजेन्द्रप्रसाद का विचार यह था कि बहुमत का अधिक से अधिक लाभ उठाने तथा कांग्रेस की स्थिति को दृढ बनाने के लिये पद-ग्रहण कर लिये जायें, लेकिन पंडित जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस आदि नव-युवक नेता इसके विपक्ष में थे क्योंकि उनका विचार था कि पद-ग्रहण करने से कांग्रेस का क्रान्तिकारी उत्साह भग हो जायगा। अन्त में, महात्मा गांधी के सुझावों के आधार पर दोनों पक्षों में समझौता हो गया १८ मार्च को देहली की बैठक में कांग्रेस की अखिल भारतीय-समिति ने यह प्रस्ताव पास किया कि जिन प्रान्तों में कांग्रेस ने बहुमत प्राप्त किया है वहाँ उसके सदस्य पद-ग्रहण करलें बशर्ते कि व्यवस्थापिका-सभाओं के कांग्रेसी दलों के नेता इसको अनुमति दे दें और वे सार्वजनिक रूप से

यह घोषणा कर सकें कि गवर्नर अपनी विशेष शक्तियों का हस्तक्षेप के लिये प्रयोग न करेंगे और मन्त्रियों द्वारा दिये गए परामर्श को नहीं ठुकरायेंगे।[1]

परन्तु जब काग्रेस-बहुमत वाले प्रान्तों में गवर्नरों से इस प्रकार का आश्वासन मागा गया तो उन्होंने मना कर दिया। उन्होंने कहा कि अधिनियम द्वारा दी गई शक्तियों को छोड़ने की शक्ति उन्हें नहीं प्राप्त थी और अधिनियम में सशोधन द्वारा ही यह सभव था। अतः काग्रेस ने इन प्रान्तों में मत्रि-मडल बनाने का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और गवर्नरों ने अल्प सख्यक दलों में से मत्री चुनकर अस्थायी मंत्रि-मंडलों द्वारा कार्य आरम्भ कर दिया। शेष प्रान्तों में काग्रेस के नेताओं ने गवर्नरों से इस प्रकार के आश्वासन की माँग नहीं की और वहाँ मत्रि-मंडल १ अप्रैल सन् १९३७ से कार्य करने लगे।

काग्रेस को सतुष्ट करने तथा उसका सहयोग प्राप्त करने के लिये शीघ्र ही भारत-मत्री लार्ड जैटलैंड तथा उप-भारत-मत्री श्री आर० ए० बटलर ने आश्वासनकारी वक्तव्य दिये परन्तु उनसे काग्रेस को सतोष न हुआ। तत्पश्चात् वायसराय एव प्रधान मत्री ने इस आशय की घोषणाएँ कीं कि मत्री लोगों के परामर्श को गवर्नर कुछ विषयों में अवश्य मानेगा। फलस्वरूप गाधी जी के नेतृत्व में काग्रेस की कार्य समिति की एक बैठक वर्धा में हुई और इसमें यह निर्णय हुआ कि काग्रेस-जन बहुमत वाले प्रान्तों में भी पद-ग्रहण करलें। अतः ९ जुलाई सन् १९३७ को डा० एन० बी० खरे ने मध्य प्रदेश में काग्रेस का प्रथम मन्त्रि-मंडल बनाया। १५ जुलाई को श्री राजगोपालाचारी के नेतृत्व में मद्रास में काग्रेसी मत्रि-मडल बना। बिहार में श्रीकृष्ण सिन्हा, बम्बई में श्री बी० जी० खेर; सयुक्त प्रान्त में श्री गोविन्द वल्लभ पन्त और उड़ीसा में श्री विश्वनाथ दास ने नए मत्रि-मडलों का नेतृत्व किया। बाद में उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त में भी नया शासन स्थापित हो गया और सिन्ध में संयुक्त मन्त्रि-मडल कार्य करने लगा।

परन्तु इस काग्रेसी-मत्रि मण्डलों ने केवल २८ महीने तक (जुलाई १९३७ से लेकर अक्टूबर सन् १९३९ तक) कार्य किया। अक्टूबर सन् १९३९ में उन्होंने महायुद्ध के प्रश्न पर त्याग-पत्र दे दिये। आरम्भ में काग्रेसी नताओं को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उनको सुलझाना सुगम नहीं था। अत. इस थोड़े से समय को उनकी प्रशासन-योग्यता के परीक्षण का आधार बनाना उचित नहीं है। बल्कि उसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि समस्याओं की जटिलता की दृष्टि से काग्रेस का इस समय में किया गया कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण था।

---

1. Indian Review, August 1937.

इससे पहिले कांग्रेसी नेताओं को कभी बड़े-बड़े प्रान्तों का शासन-भार सँभालने का अनुभव नहीं हुआ था, दूसरे भारतीय सिविल सरविस के कर्मचारियों तथा विभिन्न विभागों के पदाधिकारियों के बीच उनकी स्थिति ऐसी थी जैसी कि हिन्दू परिवार में एक नव-वधू की होती है[1], लेकिन फिर भी उन्होंने आशातीत सफलता से कार्य किया। मद्रास, संयुक्त-प्रान्त, बंगाल तथा बिहार में उन्होंने अनेक राजनैतिक बन्दियों को छुड़वाया, लेख तथा भाषण की स्वतन्त्रता के लिये उपबन्ध करके देश में नागरिकता के अधिकारों की रक्षा की, बिहार और उड़ीसा में अनेक जनोपयोगी कार्य किये एवं देश के विभिन्न स्थानों पर शिक्षा, चिकित्सा एवं स्थानीय स्वराज्य की प्रगति के लिये कार्य किये। कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलों के कार्यकाल में मादक-वस्तुओं का यथा संभव निषेध किया गया, श्रमिकों एवं कृषकों की हीन दशा को सुधारने के लिये भू-राजस्व नीति में सुधार किये गए और सन् १९३९ में भारतीय भूमि-अधिकार-नियम (Indian Tenancy Act) पास हुआ। हरिजनों की दशा सुधारने के प्रयोजन से उनपर से प्रतिबन्ध हटा दिये गए और कुछ प्रान्तों में जेलों की कार्य-प्रणाली में भी सुधार हुए। संक्षेप में, इस समय में अनेक ऐसे कार्य किये गए जिससे समस्त देश की भलाई का ध्यान रक्खा गया था और जो किसी वर्ग या जाति विशेष के हितों के लिये ही सीमित नहीं थे इनके द्वारा कांग्रेसी नेताओं ने यह दिखा दिया कि वे केवल आलोचक ही नहीं थे। वरन् उनमें प्रशासन की योग्यता भी थी। वास्तव में यह उनकी संयत नीति का ही परिणाम था कि प्रान्तीय प्रशासन में अवरोध की गति अधिक चिन्ताजनक नहीं हुई। दूसरी ओर, स्वयं गवर्नरों तथा भारतीय सिविल सरविस के कर्मचारियों ने मन्त्रियों के प्रति सहयोग और समझौते का रुख अपनाया जिसके कारण प्रशासन-कार्य इन २८ महीनों में सुगमता से चलता रहा। केवल एक बार इस बीच में स्थिति अधिक चिन्ताजनक हो गई थी जबकि राजनैतिक बन्दियों को मुक्त कराने के प्रश्न पर संयुक्त प्रान्त और बिहार में कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल को त्याग-पत्र देने पड़े थे। बन्दियों को मन्त्रियों द्वारा मुक्त करने की आज्ञा पर इन प्रान्तों के गवर्नरों ने अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग किया और १६ फरवरी तक दोनों प्रान्तों के मन्त्रि-मण्डलों ने त्याग-पत्र दे दिये। सौभाग्यवश शीघ्र ही सद्बुद्धि का उदय हुआ और वाइसराय ने २२ फरवरी को गवर्नरों की भूल को स्वीकार करते हुए एक सन्तोषजनक वक्तव्य निकाला और गवर्नरों एवं मुख्य मन्त्रियों के बीच समझौता हो गया। इस समझौते के

---

1 Pattabhi Sitaramaya The History of the Indian National Congress

अनुसार राजनैतिक बन्दियों को मुक्त करने की माग स्वीकार करली गई और मन्त्री फिर से पराधीन हो गए।

द्वितीय महायुद्ध के छिड़ जाने पर देश में लोकप्रिय कांग्रेस मन्त्रि मण्डलों का कार्यकरण बन्द हो गया। जर्मनी द्वारा पोलैंड पर आक्रमण होते ही इङ्गलैंड ने १ सितम्बर सन् १९३९ को उसे अपना युद्ध-सम्बन्धी अन्तिम संदेश भेज दिया और इसके कुछ घंटों के पश्चात् ही वाइसराय ने भारत के युद्ध में सम्मिलित होने की घोषणा करदी। शीघ्र ही सुरक्षा सम्बन्धी अध्यादेश जारी कर दिये गये और एक नए "भारत शासन संशोधन नियम" (Govt. of India Amendment Act) द्वारा वायसराय ने सन् १९३५ के अधिनियम के उपबन्धों को नियंत्रित करने का अधिकार ग्रहण कर लिया।[1] ११ सितम्बर को उसने संघ शासन को स्थगित करने की घोषणा करदी। कांग्रेस को सरकार की इस नीति से बड़ा असन्तोष हुआ और १५ सितम्बर को इसकी कार्य समिति ने अपनी एक बैठक में ब्रिटिश सरकार की भारत को उसकी इच्छा के विरुद्ध युद्ध में घसीट लेने की नीति की आलोचना की। वायसराय ने महात्मा गांधी को परामर्श करने के लिये आमन्त्रित किया परन्तु कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से उन्होंने अंग्रेजों की सहायता करने का आश्वासन नहीं दिया। तत्पश्चात् कांग्रेस की कार्य समिति की बैठक वर्धा में हुई और इस अवसर पर ब्रिटिश सरकार से यह अनुरोध किया गया कि वह स्पष्ट शब्दों में युद्ध के उद्देश्यों पर प्रकाश डाले और यह बतलाये कि जिन प्रयोजनों के लिये युद्ध लड़ा जा रहा है वह भारत की स्थिति पर किस सीमा तक लागू किये जायेंगे। इसके प्रत्युत्तर में ब्रिटिश सरकार ने जो घोषणा की वह निराशाजनक थी। कांग्रेस ने यह अनुभव किया कि सरकार के साथ प्रान्तीय संस्थाओं में कार्य चलाना असंभव था। अतः २२ अक्टूबर को पुनः कार्य समिति की बैठक वार्धा के स्थान पर हुई और यह निश्चय किया गया कि विभिन्न प्रान्तों के कांग्रेसी मन्त्रि मण्डल शीघ्रातिशीघ्र त्याग पत्र देदें। दूसरे दिन, मन्त्रि-मण्डलों की समष्टीय-उप समिति[2] ने यह आदेश दिया कि अक्टूबर मास के अन्त तक सभी प्रान्तों में त्याग-पत्र दे दिये जायें। इन आदेशों की प्रतिक्रिया शीघ्र ही हुई। मद्रास से आरम्भ होकर एक-एक करके सभी प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों ने त्याग-पत्र दे दिये और सन् १९३५ के अधिनियम की धारा ९३ के अन्तर्गत गवर्नरों ने प्रशासन कार्य अपने हाथों में ले लिया।

---

1. R Palme Dutt : India Today.
2. It was composed of Sardar Patel, Dr. Rajendra Prasad and Maulana Azad to coordinate the activities of the Congress ministries in various Provinces.

अध्याय ५

देशी राज्य

१९३५ के अधिनियम के वर्णन के पश्चात् तथा नए सविधान को लिखने से पूर्व देशी राज्यों की समस्याओं और सनके समाधान पर विचार करना भी अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। भारत की वैधानिक प्रगति का उस समय तक पूर्णतया ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता है जब तक कि उसके एक विशाल भाग का जिसे देशी रियासतों के नाम से पुकारा जाता था उल्लेख न किया जाय। अँग्रेजी राज्य काल में भारत स्पष्टतया दो प्रमुख भागों में विभक्त था—एक वह जिस पर अँग्रेज सरकार स्वय गवर्नरों तथा जैसी भी व्यवस्थापिका सभाएँ थीं उनकी सहायता से राज्य करती थी और दूसरा वह जहाँ पर भारत सरकार की सार्व भौम सत्ता (Paramountcy) विद्यमान थी। देशी रियासता में पैतृक आधार पर स्थिर रहने वाले राजा राज्य करते थे। देशी रियासतों की अनेक समस्याएँ थी जिनका अँग्रेजों के राज्य काल में भी लोगों को आभास होता था। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से ये समस्याएँ और भी अधिक जटिल बन गई अतः इनका समाधान भी अत्यन्त आवश्यक होगया है।

देशी रियासतों की समस्याएँ

(१) देशी रियासतों की सख्या अत्यधिक थी। बटलर कमेटी ने इसे ५६२ तथा भारतीय सरकार द्वारा प्रकाशित विज्ञप्ति के अनुसार इनकी सख्या ६०१ थी। निःसदेह यह सख्या बहुत ज्यादा थी। एक देश में ६०० से ऊपर देशी रियासतों का होना देश के लिए हानिकारक होता है।

(२) देशी राज्यों में एकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली प्रचलित थी। अँग्रेजी राज्य काल में तो यह स्थिति एक प्रकार से सहन हो सकती थी किन्तु १९४७ में भारत को स्वतन्त्रता हस्तान्तरित होने के पश्चात् स्वेच्छाचारी राजाओं के द्वारा शासित जनता इसे सहन नहीं कर सकती थी।

(३) देशी रियासतों के क्षेत्रफल भी एक दूसरे के क्षेत्रफल से बड़े भिन्न थे। एक ओर तो हैदराबाद एवं काश्मीर जैसे विशाल राज्य थे और दूसरी ओर काठियावाड़ की अनेक छोटी-छोटी रियासतें जिनका कि क्षेत्रफल बहुत कम था।

(४) क्षेत्रफल के साथ-साथ विभिन्न राज्यों की जन संख्या भी भिन्न प्रकार की थी। हैदराबाद, काश्मीर तथा मैसूर की जन सख्या की तुलना किसी भी छोटी रियासत की जनसंख्या से नहीं की जा सकती थी।

(५) इन रियासतों की आय भी एक दूसरे से भिन्न प्रकार की थी। काठियावाड़ में बहुत सी ऐसी रियासतें थीं जिनकी वार्षिक आय ४००० रु० से कम थी। इसके विपरीत हैदराबाद की वार्षिक आय लगभग १० करोड़ रुपये थी।

(६) देशी रियासतों की जनता ब्रिटिश राज्य की जनता की अपेक्षा उन्नति की दौड़ में अधिक पीछे थी। ब्रिटिश सरकार द्वारा शासित प्रान्तों में राजनैतिक जाग्रति बहुत थी और यहाँ की जनता हर दृष्टि से अधिक प्रगतिशील थी।

(७) स्वतन्त्रता हस्तातरण के पश्चात् एक और जटिल समस्या यह उत्पन्न हो गई थी कि भारत छोड़ने से पूर्व ब्रिटिश राज्य ने यह उद्घोषणा करदी थी कि देशी रियासतों से सार्व-भौम-सत्ता हटाली गई है। इसका अर्थ यह था कि देशी रियासतें बहुधा सनद आदि सन्धि के आधार पर अँग्रेजों का आधिपत्य स्वीकार किए हुए थीं और अँग्रेजों की सार्व-भौम-सत्ता को ग्रहण किए हुए थीं। अतः उन्हें ब्रिटिश सरकार द्वारा सुरक्षा प्राप्त थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् ब्रिटिश सार्व-भौम-सत्ता से स्वतन्त्र होने के परिणाम स्वरूप वे लगभग ६०० देशी रियासतें अपनी सत्ता स्थापित कर सकती थीं। भारत राज्य अथवा पाकिस्तान में सम्मिलित होना उनकी स्वेच्छा पर निर्भर था। पाश्चात्य देशों के निवासियों को यह विश्वास था कि इन देशी रियासतों के कारण भारत में गृह युद्ध की अधिक सम्भावना होगी और वास्तव में स्थिति भी इस सम्भावना की सूचक थी। इसलिए स्वतन्त्रता मिलने के वाद यह वड़ी समस्या हो गई थी कि किस प्रकार इन राज्यों को भारत सघ में सम्मिलित किया जाय और विशेषकर ऐसी परिस्थिति में जबकि उनमें क्षेत्रफल, आय तथा जनसंख्या आदि की भिन्नता थी।

इन समास्याओं के समाधान के सिद्धान्त

ये समस्याएँ जटिल अवश्य थीं किन्तु इनका ठीक प्रकार से उपाय न करने का बुरा परिणाम निकलता। भारत की एकता-छिन्न भिन्न हो जाती और यदि वास्तव में प्रत्येक राज्य भारत सघ राज्य से संघर्ष करने पर तुल जाता तो देश में गृह युद्ध के कारण एक भीषण परिस्थिति उत्पन्न हो जाती और

नई प्राप्त स्वतन्त्रता को एक भीषण संकट का सामना करना पड़ता। अत: कुछ सैद्धान्तिक आधारों पर इन रियासतों में सुधार करना आवश्यक था।

१—इनमें से रियासतों का एकीकरण एक उपाय था। छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर बड़े राज्यों का निर्माण करना अत्यन्त आवश्यक था। वास्तव में इस प्रकार की माँग १९३९ में ही रियासतों की जनता के द्वारा लुधियाने के सम्मेलन में प्रस्तुत की जा चुकी थी और लार्ड वेविल ने भी इस बात की आवश्यकता का अनुभव किया था कि छोटी-छोटी देशी रियासतों को निकट वर्ती बड़ी रियासतों में सम्मिलित कर दिया जाय। किन्तु अंग्रेजी राज्य काल में यह विचार केवल सिद्धान्त मात्र ही था। उसको ठीक प्रकार से कार्य रूप नहीं दिया जा सकता था।

२—देशी रियासतों का विलयन भी रियासतों की समस्या का एक समाधान समझा गया जो रियासतें अत्यन्त छोटी थीं अथवा अपनी जनता की आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करने में असमर्थ थीं उन्हें पड़ोस के राज्यों में सम्मिलित कर देन का सिद्धान्त बड़ा उपयोगी था।

३—रियासतों के लोक-तन्त्रीकरण का सिद्धान्त भी अत्यन्त उपयोगी था। बिना जनतन्त्रात्मक शासन प्रणाली की स्थापना के देशी रियासतों और संघ राज्यों में एक रूपता उत्पन्न नहीं हो सकती थी। इसके अतिरिक्त व्यवहार में भी दो प्रकार की राज्य प्रणालियों से अत्यन्त कठिनाई उत्पन्न हो जाती। हम जानते हैं कि भारत का नया संविधान संघात्मक है और यह सर्वथा दोष पूर्ण होता जबकि उसकी इकाइयाँ आधार भूत सिद्धान्तों में भिन्न प्रकार की होती। इसके अतिरिक्त २० वीं शताब्दी के प्रगतिशील युग में यह कैसे संभव हो सकता था कि भारत का एक विशाल चमन पिछड़ी हुई अवस्था में पड़ा रहे। देशी राज्यों का लोकतन्त्रीकरण एक कठिन कार्य था। क्योंकि यहाँ की जनता में आत्म निर्भरता, शिक्षा तथा संलग्नता का, ब्रिटिश राज्यों के नागरिकों की अपेक्षा, अभाव था। ऐसी परिस्थिति में प्रजा-तन्त्रात्मक प्रणाली के प्रचलित करने का कार्य कठिन अवश्य था किन्तु ये देशी राज्यों की समस्या के समाधान के लिए वाञ्छनीय भी था।

समस्याओं का समाधान

देशी रियासतों की समस्याओं को स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात्, सुलझाने का कार्य सरदार पटेल ने किया। हम प्रथम अध्याय में इस महान व्यक्ति

के सम्बन्ध मे उल्लेख कर चुके हैं तथा यह भी बता चुके हैं कि सरदार पटेल का नाम रियासतों की समस्याओं के समाधान के कारण सदा जीवित रहेगा। अँग्रेजी सरकार ने जब सार्वभौम सत्ता रियासतों से हटाई तो स्वाभाविक था कि राजाओं तथा नवाबों में अपनी सत्ता स्थापित करने का विचार उत्पन्न होता, यह तो सत्य है कि अधिकाश राजाओं ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय भावना का ही साथ दिया तथा उन्होंने यह अनुचित समझा कि देश की एकता को भंग करें किन्तु उनमें कुछ ऐसे भी शासक थे जो कि इस विचार के समर्थक नहीं थे। वे अपनी निजी सत्ता स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे। हैदराबाद, ट्रावन्कोर, भूपाल तथा काश्मीर के शासकों ने विशेष रूप से इस विचार को कार्यरूप में परिणित करने का प्रयत्न किया। जूनागढ़ की रियासत ने भी इसी मनोवृत्ति का परिचय दिया।

ऐसी परिस्थिति में भी सरदार पटेल की सूझ-बूझ के कारण सफलता प्राप्त करली गई। इस सम्बन्ध में यह बात स्मरणीय है कि रियासतों की जनता ने भी अपने-अपने शासकों पर विशेष प्रभाव डाला कि निरंकुश शासन का विचार न करके भारत सघ में सम्मिलित हों और प्रजातान्त्रिक राज्य की स्थापना करें। अत सरदार पटेल की नीति, अनेक शासकों का देश प्रेम तथा रियासतों की जनता का सहयोग होने के कारण रियासतों की समस्या सरलता पूर्वक हल की जा सकी।

सरदार पटेल ने रियासतों के मन्त्री की हैसियत से ज्यों ही कार्य-भार संभाला, त्यों ही उन्होंने एक वक्तव्य प्रकाशित किया तथा देशी शासकों को यह समझाया कि भारत ने अपनी स्वतन्त्रता अनेक बार इस लिये नष्ट की थी कि भारतीयों में एकता का अभाव था और वे आपस में मिलकर देश हित के विचार से विदेशियों का सामना न कर सके। स्वार्थ ने उनकी भावनाओं को संकुचित कर दिया था और आपस के झगड़ों ने उन्हे दुर्बल बना दिया। परिणाम स्वरूप भारतीयों ने विदेशियों के सामने घुटने टेक दिये। सरदार पटेल ने यह भी अपील की कि देश की सुरक्षा के लिये सब नरेशों को एक भारतीय सूत्र में बँधना चाहिये ताकि आज के युग में भारत छोटी-छोटी बातों में न पड़कर उन्नति की ओर अग्रसर हो सके। भारत सरकार की ओर से रियासतों को यह बताया गया कि सरकार की सार्व भौम सत्ता स्थापित करने की तनिक भी इच्छा नहीं है। किन्तु ब्रिटिश सार्व भौम सत्ता के हटजाने का यह भी अभिप्राय नहीं हो सकता था कि भारत में प्रत्येक राज्य को स्वतन्त्र करके अराजकता को जन्म दिया जाय। सरदार पटेल ने अपने भाषणों में यह स्पष्ट

कर दिया था कि देशी नरेशों को अंग्रेजी राज्य की बिदाई का यह अर्थ न समझना चाहिये कि अब भारत शक्ति हीन हो गया है उन्होंने यह भी बताया कि केन्द्रीय सरकार समस्त देश का सरक्षण करेगी तथा भारत के किसी भाग में भी अराजकता उत्पन्न न होने देगी।

सरदार पटेल के इस रुख का राजाओं तथा नवाबों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। अधिकतर नरेशों ने यह समझ लिया कि वे अपने राज्यों को स्वतन्त्र नहीं रख सकेंगे अत उन्होंने बिना किसी प्रकार की अड़चन डाले हुए ही भारत-संघ में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार भारत को स्वतन्त्रता मिलने से कुछ दिन पहिले ही लगभग चार सौ रियासतें भारत-सघ में शामिल हो गई थी। इनमें मैसूर, बड़ौदा, कोल्हापुर, पटियाला, उदयपुर तथा जयपुर राज्य भी सम्मिलित थे। ट्रावनकोर की जनता ने अपने शासक को विवश किया कि वह भारत-सघ में प्रवेश करे लेकिन जनता के विरोध का यह फल निकला कि इस रियासत के दीवान को अपना पद छोड़ना पड़ा और वह रियासत से बाहर भी चला गया तथा ट्रावनकोर भारत-संघ में आ गया। काश्मीर में कबायलियों ने आक्रमण कर दिया और वहाँ लूट-मार आरम्भ हो गई। ये कबाइली पाकिस्तान द्वारा उकसाये गये थे और इनके आक्रमण एक योजना के अनुसार हुये थे। अत. काश्मीर की दशा बिगड़ने के कारण वहाँ के राजा ने भारतीय सघ में सम्मिलित होने की स्वीकृति दे दी और उसे भारत सरकार द्वारा सैनिक सहायता भी प्राप्त हो गई। किन्तु काश्मीर के मामले में पाकिस्तान से टक्कर थी। शान्ति प्रिय भारत न सैनिक शक्ति अधिक होते हुये भी यह उचित समझा कि ससार की शान्ति-रक्षक भावना यह चाहती है कि काश्मीर के मामले का सयुक्त-राष्ट्र-सघ द्वारा हल कराया जाय। काश्मीर की समस्या अभी तक पूर्णतया हल नहीं हुई है। वास्तव में यह ऐसे उदाहरण को प्रकट करती है कि वहाँ के राजा के बहुत देर में भारत-सघ में प्रविष्ट होने के कारण, देश का कितना अहित हुआ है। यदि भारतीय देश-भक्त नरेशों के समान काश्मीर का शासक भी समय पर जागृत हो जाता तो काश्मीर के सामने व्यर्थ एक जटिल समस्या न आ जाती।

जूनागढ को ठीक मार्ग पर लाने के लिये, आवश्यक कार्यवाही करनी पड़ी, परन्तु वहाँ का नवाब भाग गया और जूनागढ भारत-सघ में बिना झगड़े के सम्मिलित हो गया। हैदराबाद की रियासत ने अपनी साम्प्रदायिकता की नीति का परिचय दिया। उस समय समस्त भारत में हैदराबाद के प्रश्न पर सनसनी फैल गई थी। अत वहाँ पुलिस कार्यवाही करनी पड़ी और सरदार पटेल की

असाधारण योग्यता के कारण यह समस्या विशेष रूप से जटिल न बन सकी। अन्त में हैदराबाद भी भारत-संघ में शामिल हो गया। नवाब भूपाल जो इन सब में चतुर था, यह समझ गया कि स्वतन्त्र इकाई के रूप में रहना अथवा पाकिस्तान में सम्मिलित होना उसके और उस की जनता के लिए हितकर न होगा अतः भूपाल भी भारत-संघ में सम्मिलित हो गया।

देशी रियासतों के भारत-संघ में शामिल कराने के साथ-साथ यह भी आवश्यक था कि छोटी रियासतों को मिलाकर बड़े राज्यों का निर्माण किया जाय। यह कार्य दो प्रकार से विलयन (Merger) तथा एकीकरण (Integration) के द्वारा सम्पन्न किया गया। देशी रियासतों को बड़े राज्योंमें परिवर्तित किए बिना उनकी आन्तरिक समस्यायें हल नहीं की जा सकतीं थीं। उनमें शासन की सुविधाएँ भी कायम नहीं की जा सकती थीं। इन रियासतों की आयबहुत कम थी अतः इनका शासन स्तर तभी ठीक हो सकता था जबकि उन का विलयन एव एकीकरण हो जाय। कुछ छोटी रियासतें अपने पड़ौसी राज्यों में मिला दी गईं। उदाहरणार्थ गुजरात और दक्षिण की कुछ रियासतें बम्बई राज्य में मिला दी गईं और मद्रास प्रेसीडेन्सी की रियासतें मद्रास राज्य में जोड़ दी गईं। उड़ीसा, मध्यभारत और उत्तर प्रदेश में भी ऐसा ही किया। जयपुर, उदयपुर, धौलपुर, भरतपुर तथा जोधपुर आदि रियासतों का एकीकरण करके एक राजस्थान नामक राज्य का निर्माण किया गया। सौराष्ट्र राज्य का निर्माण काठियावाड़ की रियासतों से किया गया और जो रियासतें पूर्वी पंजाब में स्थित थीं उनमें से कुछ तो पूर्वी पंजाब के राज्य में मिला दी गईं और कुछ पटियाला से मिला दी गईं। शिमला की पहाड़ी रियासतों को हिमाचल प्रदेश में शामिल किया गया। इन्दौर, ग्वालियर और मालवे की रियासतों को मिला कर मध्य भारत का निर्माण किया गया। बुंदेलखण्ड की रियासतों से विन्ध्य प्रदेश बनाया गया। भूपाल और त्रिपुरा पर केन्द्रीय सरकार द्वारा शासन की व्यवस्था की गई है। हैदराबाद, मैसूर तथा काश्मीर काफी बड़ी रियासतें थीं इसलिये, उनमें से हर एक की इकाई अलग-अलग निर्धारित की गई। त्रावनकोर-कोचीन का भी एक संघ बनाया गया। इस प्रकार लगभग ६०० रियासतों के स्थान पर कुछ गिन-चुने बड़े राज्य ही रह गये हैं।

रियासतों के एकीकरण से ही उनकी समस्याओं का समाधान नहीं हुआ। आवश्यकता इस बात की भी थी कि उनमें लोकतंत्रात्मक राज्य की स्थापना की जाय। वास्तव में जब ब्रिटिश राज्य-क्षेत्र में राष्ट्रीय आन्दोलन

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उद्देश्य से प्रगति के साथ चलाये जा रहे थे तो उनका प्रभाव देशी रियासतों पर भी पड़ा और उनमें भी जागृति उत्पन्न हुई। रियासत की जनता को अपने अधिकारों का ज्ञान हो गया और वे भी उन्नति की दौड़ में किसी से पीछे नहीं रहना चाहती थीं। कई रियासतों में छोटे रूप में आन्दोलन भी चलाये गये। ब्रिटिश राज्य-क्षेत्र के नेताओं ने अपने वक्तव्यों द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि देशी राजाओं तथा नवाबों की रियासतों में उन्नति दिखाई नहीं देती है और उनको समस्यानुसार कार्य करना चाहिये। अतः जब भारत को स्वतन्त्रता हस्तातरित हुई तो सरदार पटेल ने रियासतों के भारत-सघ में प्रवेश करने तथा देशी रियासतों के एकीकरण के साथ-साथ लोकतन्त्रीकरण के कार्य को भी पूरा किया। वहाँ व्यवस्थापिका सभाओं तथा कार्यपालिकाओं की स्थापना का प्रबन्ध किया गया और उनको एक सीमा तक पृथक रखने का भी प्रयास किया गया। रियासतों में जनतन्त्रात्मक राज्य की परम्पराओं तथा अनुभव का बहुत अभाव था। इसलिये, यह संभावना थी कि रियासतों में लोकतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना में कठिनाई होगी। किन्तु चूँकि प्रजातान्त्रिक राज्य गलतियों द्वारा दिन प्रति दिन सुधारता रहता है, अत यह आशा की जाती है कि देशी रियासतों में भी ऐसा ही होगा और जन-तन्त्रात्मक राज्य की भी उन्नति होगी।

भारत का नया संविधान

(२६ जनवरी सन् १९५०)

अध्याय ६

नए संविधान की विशेषताएं

संसार के कुछ अन्य स्वतन्त्र देशों की भाँति, भारतवर्ष की शासन प्रणाली में भी संविधान ही देश का आधारभूत कानून और अधिकार का उद्गम है। यह केन्द्रीय एवं प्रान्तीय शासन के कार्य क्षेत्र को निर्धारित करता है और इसकी तीन शाखाओं—शासन, कानून-निर्माण तथा न्याय-विभागों–को उनके विशिष्ट कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व सौंपता है। इसी के द्वारा भारतीय जनता अर्थात् मतदाताओं को अन्तिम अधिकार प्राप्त होते हैं। अतः इसके अध्ययन से पूर्व इसमें विदित मौलिक महत्व की निम्न विशेषताओं का ज्ञान आवश्यक है।

लिखित संविधान :

भारतवर्ष का संविधान लिखित है और यह एक विस्तृत रूप में लिखा गया है। इसमें ३९५ अनुच्छेद और ८ अनुसूचियाँ हैं। इसलिए अन्य देशों के संविधानों की अपेक्षा इसका क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है। इसका एक कारण यह है कि इस देश की जनसंख्या अधिक होने के साथ-साथ विभिन्न जातियों एवं वर्गों में बँटी हुई है। संविधान के रचयिताओं के सम्मुख छुआ-छूत, जाति-पाँत, दलित जातियों के उद्धार आदि की अनेक जटिल समस्याएं उपस्थित थीं जिनका निवारण आवश्यक था। उन समस्याओं का उपचार नियमित करने के लिये उन्होंने अनेक विशेष अनुच्छेदों का समावेश किया है। किसी देश में जटिल समस्याओं का प्राधान्य होने पर उसके संविधान का विस्तृत हो जाना स्वाभाविक है।

मिश्रित स्वरूप :

संविधान की दूसरी विशेषता उसका मिश्रित स्वरूप है। संसार के लगभग सभी स्वतन्त्र देशों के संविधानों द्वारा नागरिकों के हितों की रक्षा करने वाली धाराओं का हमारे संविधान में अनुकरण किया गया है। आलोचकों ने इसके इस स्वरूप का गलत अर्थ समझकर संविधान को "उधार लिए गए चिथड़ों से भरे थैले" की संज्ञा दी है। परन्तु इस प्रकार का दृष्टिकोण दूषित है। प्राचीन काल में भारतीय जनतन्त्र की कैसी ही परम्परा क्यों न रही हो, यह सत्य है कि सदियों की दासता के युग में देशवासियों ने उसे भुला दिया था। दूसरे, जनतन्त्र की आधुनिक परम्परा भी प्राचीन परम्परा से पूर्णतया भिन्न नहीं है।

अत संविधान के रचयिताओं का विधान-रचना के समय अन्य जनतन्त्र संविधानों के कार्यकरण से लाभ उठाने का प्रयत्न अनुचित नहीं कहा जा सकता है। उन्होंने अमरीका, फ्रांस, इङ्गलैंड, अस्ट्रेलिया, कनाडा तथा अन्य स्वतन्त्र देशों की शासन-प्रणालियों के अनुभव से लाभ उठाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसा करने में उन्होंने देश की परम्परा की उपेक्षा की है। संविधान में नेहरू रिपोर्ट तथा सन् १९३५ के अधिनियम की धाराओं का यथोचित सम्मिश्रण इस बात का प्रमाण है। वास्तव में अन्य संविधानों की सहायता केवल उनके कार्यकरण के अनुभव से लाभ उठाने के उद्देश्य से ली गई है।

संघात्मक शासन

हमारा संविधान संघात्मक है। इसमें केन्द्रीय शासन के अतिरिक्त प्रान्तीय शासन की भी व्याख्या की गई है। परन्तु इसके अन्तर्गत संघ-शासन अन्य देशों की प्रणालियों से कई प्रकारों में भिन्न है। जबकि साधारणत' कई स्वतन्त्र राज्यों को एक समूह में संगठित करके संघ शासन की स्थापना की जाती है, हमारे देश में एकात्मक शासन को तोड़कर इस उद्देश्य की पूर्ति की गई है। अंग्रेजी राज्यकाल में प्राय एक ही केन्द्र द्वारा भारतवर्ष पर राज्य होता था और यद्यपि शासन की सुविधा के लिए देश प्रान्तों में विभक्त था तथापि शासन का स्वरूप एकात्मक ही था। अत स्वतन्त्रता मिल जाने के पश्चात् उसी एकात्मक शासन को संघात्मक शासन में बदल दिया गया है। इस प्रकार अपनी निर्माण की विधि में भारतीय संघ अन्य देशों के संघों से विभिन्न है। संघ के निर्माता इसकी इकाइयों की अधिक एकता के पक्ष में थे। अत उन्होंने संविधान की भाषा में 'फेड्रेशन" के स्थान पर "यूनियन" शब्द का ही प्रयोग किया है।

भारतीय संघ की अन्य विशेषता यह है कि इसमें केन्द्रीय सरकार को अधिक शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया गया है। इसी कारण अवशिष्ट शक्तियां केन्द्र को सौंपी गई हैं। समस्त विधानीय विषयों को सूचीबद्ध कर दिया गया है और इस प्रकार तीन विषय-सूचियाँ बन गई हैं—संघ-सूची, राज्य-सूची और समवर्ती-सूची। विषयों का केन्द्र तथा राज्यों में विभाजन कनाडा की शासन प्रणाली से मिलता-जुलता है। परन्तु इसमें भी अन्तर है। जबकि कनाडा की समवर्ती सूची में—कृषि तथा देशान्तरवास केवल दो ही विषय सम्मिलित किये गए हैं, हमारे संविधान में इस प्रकार के ४७ विषय हैं। विधानीय विषयों की ये सूचियाँ अमरीका की सूचियों से भी भिन्नता रखती हैं। अमरीका की शासन प्रणाली में राज्यों की इकाइयों को विशेष स्थान दिया गया है और अवशिष्ट अधिकार

उन्हीं को सौंप दिये गये हैं। परन्तु हमारे देश में यह अधिकार केन्द्र को सौंप कर उसे शक्तिशाली बना दिया है।

राष्ट्रपति की आपत्तिकालीन शक्तियाँ भी भारतीय संघ की एक विशेषता है। आकस्मिक आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय कार्यकारिणी समस्त शक्तियों को ग्रहण कर सकती है और राष्ट्रपति संघ की इकाइयों का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त कर सकता है। परन्तु इस प्रकार की आकस्मिक आवश्यकताओं का भी विधान में उल्लेख कर दिया गया है। किसी शत्रु द्वारा बाहरी आक्रमण होने पर, अथवा देश में आंतरिक उपद्रव या आर्थिक संकट उत्पन्न होने की दशाओं में इन शक्तियों का उपयोग किया जा सकता है। अन्य देशों के संघ शासन इस हद तक परिवर्तनशील नहीं हैं। यह भारतीय संघ की अपनी ही विशेषता है।

इकहरी नागरिकता

भारतीय संविधान में इकहरी नागरिकता की व्यवस्था की गई है। इस दृष्टिकोण से हमारे संविधान में अमेरिका के संविधान से एक और भिन्नता है। अमरीका में जन्मे हुए तथा उस शासन के अधीन सभी व्यक्ति अमरीका के, और जिन राज्य के वे निवासी हैं उसके, नागरिक होते हैं और इस प्रकार उनकी नागरिकता दोहरी होती है। परन्तु भारत में इस प्रणाली को मान्यता न देकर इकहरी नागरिकता की विधि को अपनाया गया है। इसका कारण यह है कि संविधान के रचयिता संघ को दृढ बनाने के लिये केन्द्र तथा प्रान्त की आधारभूत बातों में एकता रखना चाहते थे।

संसद-प्रधान प्रणाली

भारतीय संविधान संसद-प्रधान है और इस प्रकार अमरीका के संविधान से भिन्न है क्योंकि वहाँ पर अध्यक्ष-प्रधान प्रणाली स्थापित है। इस प्रकार की प्रणाली में कार्यकारिणी, विधायिनी-सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं होती और न उसके अविश्वास प्रस्ताव द्वारा हटाई जा सकती है। परन्तु संसदीय-प्रधान शासन में कार्यकारिणी विधायिनी सभा के प्रति उत्तरदायी होती है और उसके द्वारा अविश्वास-प्रस्ताव पास कर दिये जाने पर पद त्याग कर देती है। भारतीय संविधान के अनुसार भी केन्द्रीय मन्त्रि-परिषद् विधायिनी सभा के प्रति उत्तरदायी है। विधायिनी-सभा के बहुमत में विरोधी मतदान द्वारा उसे पद से हटाया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से हमारा संविधान इंगलैंड की शासन-प्रणाली से समानता रखता है क्योंकि वहाँ पर संसद की प्रधानता शासन का मुख्य आधार है।

संशोधन की विधि

संविधान के निर्माता यह जानते थे कि यदि विधान को स्थायी रखना है और राष्ट्र की वृद्धि के साथ-साथ चलना है तो इसमें समय-समय पर परिवर्तन करने पड़ेंगे। तो भी वे यह नहीं चाहते थे कि परिवर्तन की विधि इतनी सरल हो जाय कि कोई संशोधन शीघ्रता से, बिना किसी पूर्ण विचार के और जनता के बहुमत के अभाव में हो जाय। वे यह भी नहीं चाहते थे कि कुछ अल्पसंख्यक लोगों को अभीष्ट परिवर्तन के मार्ग में विघ्न डालने की सुविधा प्राप्त हो जाय। फलत संविधान में संशोधन का अधिकार केन्द्रीय विधायिनी-सभा को दिया गया है। परन्तु उसको विषयों के विभाजन के संबंध में संशोधन करने का पूर्ण अधिकार नहीं है क्योंकि ऐसा अधिकार मिल जाने पर इसके दुरुपयोग द्वारा संघ की इकाइयों से स्वतन्त्रता का अपहरण कर सकती थी। शक्तियों के विभाजन के सम्बन्ध में, अभीष्ट संशोधन विधायिनी सभा तभी कर सकती है जबकि संघ की इकाइयों का कम से कम आधा भाग उसके पक्ष में हो। स्वयं राज्यों को किसी प्रकार का वैधानिक संशोधन करने का अधिकार नहीं है आस्ट्रेलिया और कनाडा में राज्य की इकाइयाँ स्वयं संगठित होकर संविधान में संशोधन कर सकने का अधिकार रखती हैं परन्तु भारतीय संविधान में इस प्रकार की व्यवस्था को मान्यता नहीं दी गई है। संवैधानिक संशोधन विधायिनी-सभा के किसी भी आगार में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इसके लिये यह आवश्यक है कि उपस्थित सदस्यों का दो-तिहाई मत और कुल सदस्यों का बहुमत उसके पक्ष में हो।

धर्म-निरपेक्षता ·

धर्म-निरपेक्षता नये संविधान की महत्वपूर्ण विशेषता है। इसका अर्थ यह है कि संविधान के अन्तर्गत किसी धर्म विशेष को राजकीय धर्म नहीं माना गया है और सभी धर्मों के अनुयायियों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करदी गई है। बिना किसी धार्मिक भेद भाव के प्रत्येक भारतीय को एक निश्चित आयु प्राप्त कर लेने पर वोट देने का अधिकार मिल जाता है। सरकारी पदों पर नियुक्तियों में भी धर्म आदि के आधार पर भेद को दूर करके इस उद्देश्य की पूर्ति की गई है। वास्तव में धर्म को राजनीति से पृथक करने के उद्देश्य से ऐसा किया गया है। धर्म को निजी साधना का क्षेत्र बनाने के लिये राज्य ने किसी विशेष धर्म को अपनाने का प्रयास नहीं किया। धार्मिक-निरपेक्षता की संविधान में मान्यता धार्मिक तटस्थता की नीति की परिचायिका है। इस प्रकार के दृष्टिकोण पर हमारे देश में अधिक जोर दिया जाता है और निस्सन्देह भारतवासी धार्मिक-निरपेक्षता के सिद्धान्त को आवश्यकता से अधिक मान्यता

देते हैं, जब कि विदेशों में इस सिद्धान्त का इतना आदर नहीं होता। इङ्गलैंड में ऐंग्लीस धर्म राजकीय धर्म है ; अन्य देशों में भी प्रायः किसी न किसी धर्म को राज्य का संरक्षण दिया जाता है परन्तु भारत में ऐसा नहीं किया गया।

कदाचित यह कहना असत्य न होगा कि धर्म को राजनीति से बिल्कुल पृथक करने के अनुचित विचार द्वारा संविधान में बहुसंख्यक जाति के अधिकारों पर आघात किया गया है। इस पर भी आश्चर्य है कि इस सिद्धान्त के पक्षपाती धर्म को प्रधानता देने वाले व्यक्तियों को 'हिन्दू महासभा' अथवा 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ' के दलगत विचारों का बतला कर इस विषय को टालने का प्रयत्न करते हैं। यह सत्य है कि राष्ट्र का कर्तव्य समाज को एकसार करना है जिससे कि लोगों के रहन-सहन के ढंग किसी अंश तक एक से हो जायँ और साम्प्रदायिक विभिन्नता दूर हो जाय परन्तु इसके लिये बहुसंख्यक जाति के सांस्कृतिक उन्नति के मार्ग का अवरोधन करना अनुचित है।

निर्वाचन-पद्धति

नवीन संविधान में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व तथा पृथक निर्वाचन-पद्धति को स्थान नहीं दिया गया है। सन् १९०९, १९१९ तथा १९३५ के अधिनियमों द्वारा मुसलमानों तथा अल्पसंख्यक जातियों को जो इस प्रकार के अधिकार दिये गए थे उनसे देशवासियों को अनेक दुष्परिणामों का सामना करना पड़ा है। सन् १९०९ के शासन सुधारों से साम्प्रदायिक निर्वाचन अविष्टकारी प्रथा को मान्यता प्राप्त हुई। सन् १९१९ के अधिनियम ने भी उसपर अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी और सन् १९३५ के विधान में इसे और भी बढ़ा दिया गया। इस प्रकार की पद्धति से राष्ट्रीयता का गला किस प्रकार घुटता रहा और अल्पसंख्यक जातियों में परस्पर मनमुटाव किस प्रकार स्थिर होते गए, यह सर्वविदित है। अतः नए विधान में पृथक निर्वाचन पद्धति का अन्त कर दिया गया है। यद्यपि पिछड़ी हुई जातियों के लोगों को दस वर्ष के समय के लिये सुरक्षित स्थान तथा विशेष सुविधाएँ अवश्य दी गई हैं परन्तु वह केवल इसलिये कि उनका स्तर सामान्य जनता के बराबर हो जाय और उनमें जागृति उत्पन्न हो जाय ताकि वे भी अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये समान अवसरों का उपभोग कर सकें। पिछड़ी हुई जातियों के लिए, विशेष सुविधाओं का यह काल बढ़ाया भी जा सकता है परन्तु उनमें अभीष्ट उन्नति हो जाने पर इसे समाप्त कर दिया जायेगा।

सम्पूर्ण-प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य :

संविधान की प्रस्तावना से उसकी एक अन्य विशेषता प्रदर्शित होती है।

इसके द्वारा भारतवर्ष की शासन प्रणाली को सत्ताधारी लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का रूप दिया गया है। प्रस्तावना का साराश यह है कि "भारत को एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतत्रात्मक गणराज्य बनाने तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक आर्थिक एव राजनीतिक न्याय ; विचार अभिव्यक्ति, विश्वास धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता , प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने तथा व्यक्ति की गरिमा एव राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता को बढाने के दृढ सकल्प से सविधान को अधिनियमित किया गया है।" इस प्रकार यह प्रस्तावना सर्वप्रथम भारत को एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य घोषित करती है। अर्थात् यह स्पष्ट करती है कि भारत पर किसी विदेशी सत्ता का दवाव नहीं है और भारतवासी अपने देश में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। दूसरे यह भारत को एक लोकतत्रात्मक स्वरूप प्रदान करती है। इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय नागरिकों को अपने प्रतिनिधियों द्वारा शासन को निर्धारित करने का पूर्ण अधिकार है। केन्द्र तथा राज्य सरकारों में विधायिनी-सभाओं की व्यवस्था की गई है और कार्यकारिणी को विधायिनी सभा के प्रति उत्तर-दायी बनाया गया है। तीसरे भारत एक गणराज्य है अर्थात् इसमें सर्वोच्च राज्याधिकारी इङ्गलैंड के शासक के समान वशानुगत नहीं है बल्कि कुछ समय के लिये निर्वाचित होता है। इङ्गलैंड में जनतन्त्र राज्य होते हुए भी उसमें राज्यतन्त्र का अश सम्मिलित रखा गया है। परन्तु भारत में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं की गई। यहाँ का राष्ट्रपति एक निश्चित अवधि के लिये जनता द्वारा चुना जाता है।

मूल-अधिकार

नागरिकों के व्यक्तित्व के स्वच्छन्द विकास के लिये सविधान में उनके मूल-अधिकारों की व्याख्या बड़ी हितकर होती है। इसी उद्देश्य से सयुक्त राष्ट्र सघ के भी 'मानवीय अधिकारों के रूप में मनुष्य के कुछ मूलभूत अधिकारों को सरक्षण देने का प्रयास किया है। अत अमरीका, फ्रास, तथा रूस के सविधानों की अनुरूपता में भारत के सघात्मक सविधान में भी नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख कर दिया गया है। यद्यपि यह हमारे सविधान की अनुपम विशेषता तो नहीं है क्योंकि अन्य देशों के सविधानों में भी उनका उल्लेख किया गया है परन्तु फिर भी यह संविधान की एक महत्व-पूर्ण विशेषता है। नागरिकों के ये मूल अधिकार न्यायालय द्वारा सुरक्षित रखे गये हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि सविधान में मूल-अधिकारों का केवल वर्णन ही नहीं है अपितु उनको वास्तविकता प्रदान करने की प्रक्रिया भी सम्मिलित की गई है।

राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्त :

संविधान के निर्माता भारत को एक आदर्श राज्य बनाने के इच्छुक थे। इसीलिए उन्होंने इसमें राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, जो संविधान की एक अलग विशेषता के रूप में हमारे सामने आते है। जिस प्रकार की उन्नति की हम साधारणतया कल्पना करते हैं वही संविधान में निर्देशक सिद्धांतों में वर्णित है जिससे कि राज्य अपने अन्तिम आदर्श की पूर्ति का प्रयत्न करता रहे। परन्तु यह निर्देशक सिद्धांत न्यायालय द्वारा विचारणीय नहीं हैं। इनका महत्व केवल सत्ताधारियों को निर्देशन देने में है जिनके पालन द्वारा एक आदर्श राज्य की स्थापना की संभावना कल्पित की गई है।

अमरीका तथा इङ्गलैण्ड के शासन-विधानों से भिन्नता

अमरीका तथा इङ्गलैण्ड के संविधान से समानता रखते हुए भी हमारा संघात्मक संविधान उन दोनों से कई प्रकारों में भिन्न है। ऊपरी तौर पर भारत का शासन-विधान संघात्मक होने के कारण अमरीका के समान प्रतीत होता है परन्तु दोनों को सविस्तार देखने पर काफी अन्तर प्रगट होते है। अमरीका में स्वातन्त्र प्रिय राज्यों ने स्वयं संघ के निर्माण का प्रयास किया था, जबकि भारत में केन्द्रीय सरकार के अधिकारों को राज्य को देकर संघ की स्थापना हुई है। भारतीय संविधान के अनुसार संघ के अवशिष्ट अधिकार केन्द्र को दिये गए हैं जबकि अमरीका में वे संघ की इकाइयों को मिले हुए हैं। आकस्मिक आवश्यकता पड़ने पर भारतीय संघात्मक संविधान को एकात्मक रूप में परिवर्तित किया जा सकता है परन्तु अमरीका तथा अन्य संघात्मक राज्यों में इस प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। अमरीकी नागरिकों को दोहरी नागरिकता प्राप्त है जिसके कारण वे अमरीका के तथा जिन राज्य के निवासी होते हैं उसके, नागरिक होते हैं, परन्तु भारतीय संविधान में केवल इकहरी नागरिकता की व्यवस्था है। अमरीका का संविधान अध्यक्ष-प्रधान है परन्तु भारतीय संविधान केन्द्र तथा राज्यों में संसद-प्रधान शासन-प्रणाली की स्थापना करता है। अमरीका में राज्यों की स्वतन्त्रता पर विशेष ध्यान रक्खा गया है, जब कि भारत में केन्द्र को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया गया है। अमरीका में 'शक्ति के विभाजन' तथा 'रोक व सन्तुलन' के सिद्धान्त शासन के आधार है परन्तु भारत में इनको कोई मान्यता नहीं दी गई है।

ब्रिटेन की शासन प्रणाली से अनुरूपता रखते हुए भी भारतीय संविधान उससे कुछ प्रकारों में भिन्न है। सबसे बड़ा अन्तर, तो दोनों में यह है कि हमारा संविधान लिखित है और ब्रिटेन का अलिखित। ब्रिटेन में संसद-

प्रधान प्रणाली के होते हुए भी एकात्मक राज्य स्थापित है, जब कि भारतीय संविधान संघात्मक है। ब्रिटेन में संसद् सर्वशक्तिमान है और उसके द्वारा पास किये गए नियम को वहाँ का कोई न्यायालय अमान्य घोषित करने का अधिकार नहीं रखता परन्तु भारतीय संविधान के अनुसार न्यायालयों को संसद द्वारा बनाए गए मूल अधिकारों की अवहेलना करने वाले नियमों को अवैध घोषित करने का अधिकार दिया गया है। ब्रिटेन में वैधानिक प्रमुख एक वंशानुगत शासक है, जब कि भारत में एक निर्वाचित अध्यक्ष राष्ट्र का प्रधान होता है और वह निश्चित काल तक राज्यपद ग्रहण करता है।

सन् १९३५ के अधिनियम से तुलना

स्वतंत्र भारत का संविधान सन् १९३५ के अधिनियम का अत्यन्त ऋणी है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह सभी बातों में उससे मिलता-जुलता है। सन् १९३५ का अधिनियम एक विदेशी संसद की देन थी। इसलिये उसमें भारतीयों की भावनाओं का अभाव स्वाभाविक ही था, जब कि नया संविधान भारतीयों द्वारा निर्मित होने के कारण उनकी भावनाओं से युक्त है। परन्तु फिर भी दोनों विधानों में कुछ समानताएँ हैं। नए संविधान का संघात्मक स्वरूप बहुत कुछ सन् १९३५ के अधिनियम पर आधारित है। यद्यपि सन् १९३५ के अधिनियम में भारत को एक विशुद्ध संघ राज्य में परिणित नहीं किया गया था तथापि उसमें यह व्यवस्था थी कि आकस्मिक आवश्यकता पड़ने पर उसको एकात्मक स्वरूप दिया जा सके और यही व्यवस्था नए संविधान की भी विशेषता है। सन् १९३५ के अधिनियम में देशी राज्यों को पूर्णतः सम्मिलित करने की कोई ठोस योजना विहित नहीं थी परन्तु नवीन संविधान में उनका एकीकरण कर दिया गया है। सन् १९३५ के अधिनियम द्वारा 'मन्त्रिमण्डल प्रणाली' का कार्यकरण आरम्भ नहीं हुआ था, जबकि नया संविधान संसदीय पद्धति से युक्त होने के कारण इस प्रणाली पर आधारित है। नए संविधान में गवर्नरों तथा राजप्रमुखों को इस प्रकार के विशेष अधिकार नहीं दिये गए हैं जैसे कि सन् १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय गवर्नरों को मिले हुए थे। पुराने शासन विधान में भारतीय संसद पूर्ण सत्ताधारी नहीं थी क्योंकि वह ब्रिटेन की संसद के अधीन थी, परन्तु नए संविधान में उसकी विधायिनी-शक्तियों का क्षेत्र बहुत बढ़ा दिया गया है। सन् १९३५ के अधिनियम के अनुसार भारतीय जनता के एक अल्पांश में वोट देने का अधिकार मिला हुआ था परन्तु नए संविधान में यह दोष दूर कर दिया गया है और एक निश्चित आयु प्राप्त कर लेने पर प्रत्येक वयस्क मत देने का

अधिकारी हो जाता है। सन् १९३५ के अधिनियम में मौलिक अधिकारों तथा निर्देशक सिद्धान्तों का कोई वर्णन नहीं था, जबकि नये सविधान की ये महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। नये संविधान में न्यायालय को जो शक्तियाँ मिली हुई हैं उनकी सन् १९३५ के अधिनियम में कल्पना नहीं की जा सकती थी। परन्तु यह सब भेद होते हुए भी नए सविधान में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों में विषयों का विभाजन बहुत कुछ सन् १९३५ के अधिनियम के अनुसार किया गया है। इस अधिनियम के अनुसार ही विधानीय विषयों की तीन पृथक् सूचियाँ बनाई गई हैं और अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को सौंपी गई हैं।

प्रधान प्रणाली के होते हुए भी एकात्मक राज्य स्थापित है, जब कि भारतीय संविधान संघात्मक है। ब्रिटेन में संसद सर्वशक्तिमान है और उसके द्वारा पास किये गए नियम को वहाँ का कोई न्यायालय अमान्य घोषित करने का अधिकार नहीं रखता परन्तु भारतीय संविधान के अनुसार न्यायालयों को संसद द्वारा बनाए गए मूल अधिकारों की अवहेलना करने वाले नियमों को अवैध घोषित करने का अधिकार दिया गया है। ब्रिटेन में वैधानिक प्रमुख एक वंशानुगत शासक है, जब कि भारत में एक निर्वाचित अध्यक्ष राष्ट्र का प्रधान होता है और वह निश्चित काल तक राज्यपद ग्रहण करता है।

सन् १६३५ के अधिनियम से तुलना

स्वतंत्र भारत का संविधान सन् १६३५ के अधिनियम का अत्यन्त ऋणी है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह सभी बातों में उससे मिलता-जुलता है। सन् १६३५ का अधिनियम एक विदेशी संसद की देन थी। इसलिये उसमें भारतीयों की भावनाओं का अभाव स्वाभाविक ही था, जब कि नया संविधान भारतीयों द्वारा निर्मित होने के कारण उनकी भावनाओं से युक्त है। परन्तु फिर भी दोनों विधानों में कुछ समानताएँ है। नए संविधान का संघात्मक स्वरूप बहुत कुछ सन् १६३५ के अधिनियम पर आधारित है। यद्यपि सन् १६३५ के अधिनियम में भारत को एक विशुद्ध संघ राज्य में परिणित नहीं किया गया था तथापि उसमें यह व्यवस्था थी कि आकस्मिक आवश्यक्ता पड़ने पर उसको एकात्मक स्वरूप दिया जा सके और यही व्यवस्था नए संविधान की भी विशेषता है। सन् १६३५ के अधिनियम में देशी राज्यों को पूर्णत सम्मिलित करने की कोई ठोस योजना विहित नहीं थी परन्तु नवीन संविधान में उनका एकीकरण कर दिया गया है। सन् १६३५ के अधिनियम द्वारा 'मंत्रिमंडल प्रणाली' का कार्यकरण आरम्भ नहीं हुआ था, जबकि नया संविधान संसदीय पद्धति से युक्त होने के कारण इस प्रणाली पर आधारित है। नए संविधान में गवर्नरों तथा राजप्रमुखों को इस प्रकार के विशेष अधिकार नहीं दिये गए हैं जैसे कि सन् १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय गवर्नरों को मिले हुए थे। पुराने शासन विधान में भारतीय संसद पूर्ण सत्ताधारी नहीं थी क्योंकि वह ब्रिटेन की संसद के अधीन थी, परन्तु नए संविधान में उसकी विधायिनी-शक्तियों का क्षेत्र बहुत बढ़ा दिया गया है। सन् १६३५ के अधिनियम के अनुसार भारतीय जनता के एक अल्पांश में वोट देने का अधिकार मिला हुआ था परन्तु नए संविधान में यह दोष दूर कर दिया गया है और एक निश्चित आयु प्राप्त कर लेने पर प्रत्येक वयस्क मत देने का

अधिकारी हो जाता है। सन् १९३५ के अधिनियम में मौलिक अधिकारों तथा निर्देशक सिद्धान्तों का कोई वर्णन नहीं था, जबकि नये संविधान की ये महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। नये संविधान में न्यायालय को जो शक्तियाँ मिली हुई हैं उनकी सन् १९३५ के अधिनियम में कल्पना नहीं की जा सकती थी। परन्तु यह सब भेद होते हुए भी नए संविधान में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों में विषयों का विभाजन बहुत कुछ सन् १९३५ के अधिनियम के अनुसार किया गया है। इस अधिनियम के अनुसार ही विधानीय विषयों की तीन पृथक् सूचियाँ बनाई गई हैं और अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को सौंपी गई हैं।

अध्याय ७

नागरिकता

प्रत्येक राज्य में मुख्यत दो प्रकार के व्यक्ति निवास करते हैं—प्रथम-- नागरिक जिनका सम्बन्ध राज्य से स्थायी होता है और जिनको राजनीतिक अधिकार मिले होते हैं और दूसरे वे जो राज्य में थोड़े समय के लिये रहते हैं। दोनों प्रकार के व्यक्तियों को राज्य से सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार होता है और दोनों ही राज्य के नियमों का पालन करते हैं। परन्तु नागरिकों को विदेशियों की अपेक्षा कुछ विशेष अधिकार मिले होते हैं, हालांकि स्वशासन की स्वतन्त्रता और सुविधाओं के साथ उनके उत्तरदायित्व भी विशेष होते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक होता है कि नागरिकों के अधिकारों का सविधान में वर्णन कर दिया जाये, जिससे कि उनमें तथा विदेशियों में अन्तर किया जा सके।

स्वतन्त्र भारत के सविधान में भी नागरिकता का एक अलग अध्याय में उल्लेख किया गया है। इसमें कुछ ऐसे प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण किया गया है जिनको सविधान के प्रचिलित होने के समय से नागरिकता दे दी गई है। परन्तु नागरिकता किस प्रकार अर्जित की जा सकेगी या किस प्रकार समाप्त हो सकती है, सविधान में इसका वर्णन नहीं है। तथापि केन्द्रीय विधायिनी सभा को इस विषय पर विधि बनाने का अधिकार दिया गया है।

सविधान के ५ से ११ तक अनुच्छेदों में व्यक्तियों के उन समूहों का वर्णन है जिनको इसके प्रचिलित होने के समय से नागरिकता का अधिकार मिला है। इनमें प्रथम प्रकार के व्यक्ति वे हैं जिनका भारत राज्य-क्षेत्र में अधिवास हो तथा जो भारत राज्य-क्षेत्र में जन्मा हो अथवा जो सविधान के प्रारम्भ से ठीक पहिले कम से कम पाँच वर्ष तक भारत राज्य-क्षेत्र में सामान्यतया निवासी रहे हों।[1]

इसके अतिरिक्त उन व्यक्तियों को भी नागरिकता प्रदान की गई है जो सविधान के कार्यान्वित होने के समय तक पाकिस्तान के अन्तर्गत राज्य-क्षेत्र

---

1 Article, 5

से भारत राज्य-क्षेत्र में प्रव्रजन कर आये हैं। परन्तु उनके सम्बन्ध में एक शर्त यह है कि उनके जनकों अथवा महाजनकों में से कोई अविभाजित भारत में जन्मा हो। इस प्रयोजन के लिये भारतवर्ष की सीमा भारत-शासन-अधिनियम सन् १९३५ की परिभाषा के अनुसार मानली गई है। लेकिन पाकिस्तान राज्य क्षेत्र से प्रव्रजन कर आने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में एक तिथि निश्चित करके उनको नागरिकता प्रदान करने की प्रक्रिया में अन्तर कर दिया गया है। जो लोग सन् १९४८ की जुलाई के उन्नीसवें दिन से पूर्व भारत राज्य-क्षेत्र में आकर सामान्यतया निवास करने लगे हैं वे बिना किसी विशेष अन्य प्रक्रिया के नागरिकता के अधिकारी हो गए हैं। परन्तु जो व्यक्ति ऐसे हैं जिन्होंने इस तिथि को अथवा इसके पश्चात् भारत राज्य-क्षेत्र में प्रव्रजन किया है, उनको भारत डोमिनियम की सरकार द्वारा विहित प्रपत्र पर और रीति से, इस प्रयोजन के लिये नियुक्त पदाधिकारी के कार्यालय में, आवेदन-पत्र द्वारा रजिस्टर करा लेने पर नागरिकता प्रदान की गई है। परन्तु इस प्रकार के प्रार्थियों के लिये यह आवश्यक था कि वे आवेदन-पत्र देने से ठीक पहिले कम से कम ६ महीने तक भारत-राज्य-क्षेत्र में सामान्यतया निवासी रहे हों।[1]

अनुच्छेद ५ तथा ६ में किसी बात के होते हुए भी जो व्यक्ति भारत राज्य क्षेत्र से पाकिस्तान के अन्तर्गत राज्य-क्षेत्र को प्रव्रजन कर गए हैं, उनको भारत का नागरिक नहीं समझा जायगा। परन्तु जो लोग पाकिस्तान चले जाने के बाद भी भारत राज्य-क्षेत्र में ऐसी अनुज्ञा के अधीन लौट आए हैं जो उनको पुनर्वास के लिये अथवा स्थायी रूप से लौटने के लिये किसी विधि के अधीन दी गई है, उनके साथ वही प्रक्रिया लागू होगी जो सन् १९४८ की जुलाई के उन्नीसवें दिन के पश्चात् आने वाले व्यक्तियों के साथ लागू हुई है।[2]

संविधान में भारत के बाहर रहने वाले भारतीय उद्भव के कुछ व्यक्तियों को भी नागरिकता प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। उनके लिये यह आवश्यक है कि वे स्वयं या उनके जनकों अथवा महाजनकों में से कोई सन् १९३५ के अधिनियम में परिभावित भारत में जन्मा हो और उन्होंने संविधान के प्रचिलित होने से पूर्व या बाद में भारत डोमिनियन सरकार या भारत सरकार द्वारा विहित प्रपत्र पर और रीति से, नागरिकता प्राप्ति के आवेदन-

1. Article, 6 2. Article, 7

पत्र द्वारा उस देश में स्थित राजनियक अथवा वाणिज्य प्रतिनिधि द्व
अपने को भारत का नागरिक रजिस्टर करा लिया हो।[1]

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि यदि किसी व्यक्ति ने स्वेच्छ
किसी विदेशी राज्य की नागरिकता अर्जित करली है तो वह पूर्वोक्त अनुच्छेद
के आधार पर भारत का नागरिक नहीं होगा और न अनुच्छेद ६
अनुच्छेद ८ के आधार पर वह भारत का नागरिक समझा जायगा।[2]

प्रत्येक व्यक्ति जिसने उपरोक्त उपबन्धों में से किसी के अधीन नागरिव
प्राप्त की है या नागरिक समझा जाता है वह वैसा ही नागरिक बना रहेगा
संसद द्वारा निर्मित विधियों के उपबन्ध उस पर लागू होंगे।[3] संसद विधि द्व
नागरिकता के अधिकार का विनियमन करेगी। उपरोक्त उपबन्धों में की
बात नागरिकता के अर्जन और समाप्ति के तथा नागरिकता से सम्बद्ध अ
सब विषयों के बारे में उपबन्ध बनाने की संसद की शक्ति का अल्पीकरण न
करेगी।[4]

अध्याय ८

मूल-अधिकार

संविधान में भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों का व्यापक रूप से वर्णन किया गया है। नागरिकों के विकास तथा उनकी राजनीतिक, आर्थिक तथा मानसिक उन्नति के लिये मूल-अधिकार अत्यन्त आवश्यक हैं। अल्पसंख्यक तथा बहुसंख्यक दोनों दलों के सदस्यों के लिये इन अधिकारों का होना जरूरी है। इसके अतिरिक्त, वे इस बात का प्रमाण हैं कि राज्य, नागरिकों की भलाई करने के लिये तथा उनके व्यक्तित्व के विकास करने का समान अवसर प्रदान करने के लिये स्थापित है। संसार के अन्य देशों के राजनीतिक अनुभवों से भी मूल-अधिकारों की आवश्यकता प्रदर्शित हुई है। सन् १७८९ की फ्रांस की राज्यक्रान्ति के पश्चात् मनुष्य के मूल-अधिकारों का महत्व निरन्तर बढ़ता गया है। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ही अमरीका में अधिकार-पत्र (बिल आफ राइट्स) संविधान में संयुक्त किये गये। तत्पश्चात् प्रजातान्त्रिक आदर्शों के प्रसार के साथ अनेक देशों ने अपने शासन विधानों की रचना में नागरिकों के मूल अधिकारों को महत्व दिया है। आधुनिक-काल में लिखित विधान वाले देशों में बहुधा किसी न किसी रूप में मूल-अधिकारों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। आयरलैंड, फ्रांस, रूस आदि ऐसे देशों के उदाहरण हैं। मूल-अधिकारों की ऐसी परम्परा से भारतीय संविधान के निर्माताओं का भी प्रभावित होना स्वाभाविक था। लोकतन्त्रात्मक राज्य में नागरिकों के मूल-अधिकारों का विवरण तथा उनका संरक्षण अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इस प्रकार का शासन शासित जनों की भलाई के उद्देश्य पर आधारित होता है। अतः भारत को लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का रूप देने के समय संविधान के कर्णधारों ने नागरिकों के मूल अधिकारों की भी व्यवस्था की है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि सन् १९१९ तथा सन् १९३५ के भारत-शासन-अधिनियमों में नागरिकों के मूल-अधिकारों का परिगणन नहीं किया गया था। इसका कारण यह था कि ये अधिनियम भारतीय जनता को राज-

नीतिक स्वतन्त्रता देने के अभिप्राय से नहीं लगाये गये थे। विदेशी संसद द्वारा थोपे गये इन अधिनियमों का उद्देश्य देशवासियों के विरुद्ध कार्यकारिणी को शक्तिशाली बनाना था। फिर भी भारत-शासन-अधिनियम सन् १९३५ की धारा २९८ तथा २९९ में इस प्रकार के अधिकारों का एक अल्पांश दृष्टिगोचर होता है। इनका सारांश यह था कि भारतीयों को नौकरियाँ प्रदान करने में इनके साथ धर्म अथवा जाति के आधार पर किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जायगा और न उनकी सम्पत्ति पर सरकार अवैध रूप से अधिकार करेगी।

हमारे संविधान में मूल-अधिकारों को वास्तविक बनाने का भी पूर्ण प्रयत्न किया गया है। राज्य द्वारा उनके उलंघन किये जाने पर नागरिक न्याय-विभाग की शरण ले सकते हैं। इस प्रकार हमारे संविधान के मूल-अधिकार सम्बन्धी प्रावधान ब्रिटेन की वैधानिक परम्परा से भिन्न हैं। वहाँ पर संसद की सर्वोपरि सत्ता पर विशेष जोर दिया गया है और उसके द्वारा पास किये गए नियम को देश का कोई भी न्यायालय अमान्य घोषित करने का अधिकार नहीं रखता। दूसरी ओर भारत में यदि संसद कोई ऐसा नियम बनाती है जो संविधान में परिगणित मूल-अधिकारों के विपरीत है तो सर्वोच्च न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है। यह प्रबन्ध हमारे शासन विधान में अमेरिका की शासन-प्रणाली के आधार पर किया गया है।

हमारे संविधान में जिन मूल-अधिकारों की व्यवस्था की गई है, वे पूर्ण अथवा अबाधित नहीं है। अबाधित अधिकारों से देश का हित नहीं होता। क्योंकि आधुनिक युग के गतियुक्त और प्रगतिशील समाज में प्रत्येक स्थिति उसकी निरन्तर बढ़ती हुई आवश्यकताओं के अनुरूप रखनी पड़ती है। जनता की भलाई तथा शासन की सुरक्षा का ध्यान रखते हुए हमारे संविधान में मूल-अधिकारों का रूप निश्चित किया गया है। असाधारण परिस्थितियों के लिए शासन के कार्यकारिणी विभाग को असाधारण अधिकार दे देने पड़ते हैं और सुरक्षा के प्रयोजन से मूल अधिकारों के पूर्ण उपभोग पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं। इसलिये हमारे संविधान में भी नागरिकों के मूल अधिकारों पर कुछ आवश्यक प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं।

संविधान के १२ से ३५ तक के अनुच्छेदों में मूल-अधिकारों का उल्लेख किया गया है। सामान्यतया, वे दो विभागों में विभाजित किये जा सकते हैं। प्रथम प्रकार उन अधिकारों की है जो प्रायः अन्य देशों के संविधानों में भी परिगणित हैं और आधारभूत सिद्धान्तों जैसे स्वतन्त्रता, समानता आदि के प्रतिरूप हैं। द्वितीय प्रकार के अधिकार वे हैं जो देश की आर्थिक तथा सामाजिक

परिस्थितियों से सम्बन्ध रखने के कारण विशेष कहे जा सकते हैं। सविधान में मूल-अधिकार निम्नलिखित भागों में विभाजित हैं :—

(१) साधारण अधिकार (अनुच्छेद १२—१३)
(२) समता-अधिकार (अनुच्छेद १४—१८)
(३) स्वातन्त्र्य-अधिकार (अनुच्छेद १६—२२)
(४) शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद २३—२४)
(५) धर्म-स्वातंत्र्य अधिकार (अनुच्छेद २५—२८)
(६) सस्कृति और शिक्षा सम्बधी अधिकार (अनुच्छेद २६—३०)
(७) सम्पत्ति के अधिकार (अनुच्छेद ३१)
(८) सवैधानिक उपचारों के अधिकार (अनुच्छेद ३२—३५)

अब हम इनका सविस्तार वर्णन करेंगे।

साधारण अधिकार :

सविधान में यह स्पष्ट किया गया है कि मूल-अधिकारों के अध्याय में "राज्य" शब्द के अन्तर्गत भारत की सरकार और ससद् तथा राज्यों में प्रत्येक की सरकार और विधान-मण्डल तथा भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर अथवा भारत सरकार के नियत्रण के अधीन सब स्थानीय और अन्य अधिकारी, सम्मिलित हैं।[1] "भारत सरकार के नियत्रण के अधीन" शब्द ऐसे क्षेत्रों के लिये हैं जो सविधान के प्रचलित होने के समय भारत राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत न हों परन्तु जिन पर भारत सरकार का केवल नियत्रण हो अथवा बाद में कोई क्षेत्र सरकार के नियन्त्रण में आ जाये। उपर्युक्त सभी प्रकार के क्षेत्रों में नागरिकों को सविधान द्वारा परिगणित मूल-अधिकार प्राप्त होंगे।[2]

साधारण अधिकारों के अन्तर्गत इस सविधान के प्रारम्भ होने से ठीक पहिले भारत राज्य-क्षेत्र में सब प्रवृत्त विधियाँ उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक कि वे मूल-अधिकारों के उपबधों से असंगत हैं। साथ ही राज्य पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया है कि वह ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो सविधान द्वारा दिये गये मूल-अधिकारों को छीनती हो। यदि इन अधिकारों के उल्लंघन में कोई विधि बनादी जावेगी तो वह उल्लघन की मात्रा तक शून्य होगी। भारत राज्य-क्षेत्र में विधि के समान प्रभावी कोई अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम, (Regulation) अधिसूचना (Notification), रूढि अथवा प्रथा "विधि" के अतर्गत होगी। सविधान के प्रचलित होने से पूर्व पारित अथवा निर्मित विधि भी "प्रवृत्त विधियों" के

1 Article, 12 2 Article, 13

अन्तर्गत होगी। इस उपबंध से यह स्पष्ट है कि न्याय-विभाग ऐसे नियमों को अवैध घोषित करने का अधिकारी है जो संविधान के लागू होने से पूर्व अथवा बाद में बनाये गये हैं और संविधान में उल्लिखित मूल-अधिकारों के विरुद्ध हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे इस सम्बंध में न्याय-विभाग की निष्पक्षता प्रकट होती है। निवारक निरोध नियम (Preventive Detention Act, 1950) की धारा १४ को अमान्य घोषित कर इस विभाग ने संविधान की धारा २२ (५) तथा ३२ के अन्तर्गत दिए गए अधिकारों की रक्षा की है। केशवन माधव मेनन बनाम बम्बई सरकार (S C 201, 1951) के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि संविधान की धारा १३ (१) सभी पुराने कानूनों को अवैध नहीं ठहरा सकती और न उसका बीती बातों पर प्रभाव हो सकता है। अभिप्राय यह है कि संविधान के प्रचलित होने से पूर्व-काल में किये गए कार्यों पर पुराने नियम इसी प्रकार लागू होंगे जैसे कि संविधान से पहिले होते थे।

समानता का अधिकार :

संविधान में भारत के प्रत्येक नागरिक को कानून के सामने समानता दी गई है। भारत राज्य-क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से अथवा विधियों के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वञ्चित नहीं किया जायेगा।[1] दूसरे शब्दों में राज्य को यह अधिकार नहीं है कि वह नियमों के कार्यकरण में नागरिकों के बीच पक्षपातपूर्ण व्यवहार करे। इसके अतिरिक्त, राज्य द्वारा बनाये गये नियमों से भारत क्षेत्र में रहने वाले सभी व्यक्तियों को समान संरक्षण प्राप्त होगा। कोई भी व्यक्ति राज्य द्वारा पक्षपात अथवा अन्याय के निवारण के लिये न्याय-विभाग की सहायता ले सकता है। पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम अनवरअली सरकार के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने इस निर्णय द्वारा कि पश्चिमी बंगाल स्पेशल कोर्ट नियम (१९५०) की धारा ५ (१) मूल-अधिकारों के विरुद्ध होने के कारण अमान्य है, अनुचित पक्षपात के विरुद्ध एक अच्छा कदम उठाया है। उपर्युक्त नियम के अनुसार पश्चिमी बंगाल के न्यायालय को यह अधिकार दिया गया था कि वह एक-सी परिस्थितियों में अपराध करने वाले अथवा एक ही अपराध करने वाले विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार के दण्ड दे सकेगा। इस प्रकार की व्यवस्था संविधान की धारा १४ के विपरीत होने के कारण दूषित थी। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि नागरिकों के साथ उचित पक्षपात अवश्य किया जा

1 Article, 14

सकेगा, जैसे कि यदि राज्य धनी अथवा निर्धनों के बीच भेद-भाव रखते हुए नियम बनाये तो वह अवैध नहीं होंगे।

उपर्युक्त समानता के अतिरिक्त, राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।[1] इनमें से किसी के आधार पर कोई नागरिक दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश करने के बारे में किसी निर्योग्यता अथवा निर्बन्धन के अधीन न होगा और न इनमें से किसी के आधार पर कोई नागरिक पूर्ण या आंशिक रूप में राज्य-निधि से पोषित अथवा साधारण जनता के उपयोग के लिये समर्पित कुओं, तालाबों, स्नान घाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपयोग के बारे में किसी निर्योग्यता, दायित्व, निर्बन्धन अथवा शर्त के अधीन होगा।[2] अभिप्राय यह है कि सभी नागरिकों को चाहे वे किसी जाति, धर्म या स्थान के हों, दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में जाने का समान अधिकार है, चाहे वे सरकार द्वारा घोषित हों अथवा किसी व्यक्ति द्वारा निजी सम्पत्ति के रूप में संचालित हों। यदि कोई व्यक्ति इस विषय में अनुचित भेद भाव करता है तो वह संविधान के अनुसार अपराधी होगा। परन्तु इस उपबन्ध की किसी बात से राज्य स्त्रियों और बालकों के लिये कोई विशेष नियम बनाने में बाधित नहीं होगा। सामाजिक तथा शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए सामाजिक वर्गों अथवा परिगणित जातियों तथा अनुसूचित परिगणित जातियों की उन्नति के लिये भी विशेष उपबन्ध बनाने में राज्य को इस उपबन्ध से कोई बाधा नहीं होगी।[3] इस प्रकार के प्रावधानों से यह स्पष्ट है कि संविधान में भारत की प्रमुख समस्याओं का अन्त करने का उचित प्रयत्न किया गया है। भारतीय समाज सुधारक सदा से ही जाति-पाति के विभेदों तथा दलित जातियों के उद्धार के लिये प्रयत्न करते रहे हैं और विशेष कर महात्मा गांधी के विचारों की छाप इस उपबन्ध में स्पष्ट है।

यह स्मरणीय है कि मूल संविधान में पिछड़ी जातियों और अनुसूचित परिगणित जातियों के लिये विशेष उपबन्धों का वर्णन न था। सन् १९५१ में प्रथम संशोधन द्वारा यह बात संविधान में जोड़ दी गई है। संशोधन की आवश्यकता प्रकट करने वाली समस्या मद्रास में उत्पन्न हुई। यहाँ की

---

1 Article 15 Clause (1) 2 Article 15 (2)
3 Article 15 Cl (3) & (4)

सरकार के एक आदेशानुसार मद्रास राज्य के विद्यालयों में जाति के आधार पर विद्यार्थियों की भर्ती की व्यवस्था की गई थी। मद्रास के उच्च न्यायालय ने राज्य के इस आदेश को अमान्य घोषित कर दिया। दलित जातियों के उद्धार के लिये भी विशेष उपबन्ध करने का कोई अधिकार न रहा। यह त्रुटि प्रतीत होने पर संविधान में दलित जातियों के लिये, संशोधन किया गया।

राज्याधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के संबन्ध में भी नागरिकों को अवसर की समता प्रदान की गई है।[1] केवल धर्म मूलवश, जाति, लिङ्ग, उद्भव, जन्म, स्थान, निवास अथवा इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक के लिये राज्याधीन नौकरी या पद के लिये अपात्रता न होगी और न विभेद किया जायगा।[2] परन्तु इस विधि में कुछ अपवाद हैं। संसद को ऐसी विधि बनाने में कोई बाधा न होगी जो संविधान की प्रथम अनुसूची में उल्लिखित किसी राज्य के अथवा उस राज्य में किसी अधिकारी के अधीन किसी नौकरी में या पद पर नियुक्ति के सम्बन्ध में नियुक्ति के पूर्व राज्य के अन्दर निवास विषयक कोई अपेक्षा निर्धारित करती हो।[3] संविधान के निर्माताओं का यह विचार ठीक ही था कि कुछ नौकरियों या पदों पर नियुक्तियों के लिये विशेष जानकारी सहित व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ेगी। इसी लिये उन्होंने संविधान में इस उपबन्ध का समावेश किया। परन्तु यह बात महत्त्वपूर्ण है कि इस सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार कार्यकारिणी को न देकर संसद् को दिया गया है ताकि कार्यकारिणी नियुक्तियों के सम्बन्ध में अनुचित भेद-भाव न कर सके। दूसरा अपवाद यह है कि राज्य, पिछड़े हुए किसी नागरिक वर्ग के पक्ष में जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्याधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के रक्षण के लिये उपबन्ध करने में बाधित नहीं होगा[4]। संविधान में यह उपलब्ध अत्यन्त आवश्यक था क्योंकि दलित जातियों के उद्धार की समस्या देश की एक बड़ी समस्या है। संविधान में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इस उपबन्ध की किसी बात का ऐसी किसी विधि के प्रवर्तन पर कोई प्रभाव न होगा जो उपबन्धित करती हो कि किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक संस्था के कार्य से सम्बद्ध कोई पदधारी अथवा उसके शासकीय विभाग का कोई सदस्य किसी विशिष्ट धर्म का अनुयायी अथवा किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का ही हो।[5] यह प्रबन्ध नागरिकों को धर्म एवं साधना की स्वतन्त्रता देने के लिये किया गया है।

---

1 Article 16 Cl. (1)   3 Article 16 Cl (3)
2 Article 16 Cl (2)   4 Article 16 Cl (4)

अस्पृश्यता का अन्त और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध कर दिया गया है। यदि कोई व्यक्ति "अस्पृश्यता" से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करेगा तो वह अपराधी होगा और उसे विधि के अनुसार दण्ड दिया जायगा।[1] संविधान में इस उपबन्ध के समावेश द्वारा देश की एक बड़ी कुरीति को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया है। इस उपबन्ध पर महात्मा गांधी के विचारों का प्रभाव स्पष्ट है।

समानता के अधिकार को वास्तविक बनाने के उद्देश्य से राज्य के लिये यह व्यवस्था कर दी गई है कि वह सेना या विद्या-सम्बन्धी उपाधि के सिवाय कोई खिताब प्रदान नहीं करेगा। भारत का कोई नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई खिताब स्वीकार नहीं कर सकेगा। कोई ऐसा व्यक्ति जो भारत का नागरिक नहीं है, राज्य के अधीन लाभ या विश्वास के किसी पद को धारण करते हुए राष्ट्रपति की सम्मति के बिना किसी विदेशी राज्य से खिताब स्वीकार करने का अधिकारी नहीं हो सकता है। न कोई व्यक्ति राज्य के अधीन लाभ-पद या विश्वास-पद पर आसीन रहते हुए किसी विदेशी राज्य से या उसके अधीन कोई भेंट, उपलब्धि या पद राष्ट्रपति की सम्मति के बिना स्वीकार करेगा[2] परन्तु राष्ट्रपति के एक आदेश (२६ जनवरी १९५०) के अनुसार भारतीय नागरिक ब्रिटिश राष्ट्र संघ में सम्मिलित किसी भी देश के द्वारा प्रदान की गई उपाधि धारण कर सकेंगे।

स्वातन्त्र्य अधिकार—

संविधान के अन्तर्गत सब भारतीय नागरिकों को वाक्य-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया है। परन्तु राज्य को अपमान-लेख, अपमान-वचन, मानहानि, न्यायालय-अपमान से सम्बन्ध रखने वाले अथवा शिष्टाचार या सदाचार पर आघात करने वाले अथवा राज्य की सुरक्षा को दुर्बल करने या राज्य को उलटने की प्रवृत्ति वाले किसी विषय से सम्बन्धित नियम को लागू रखने तथा नया नियम बनाने का अधिकार होगा। सभी नागरिकों को किसी स्थान पर शान्ति पूर्वक तथा निरायुध सम्मिलित होने का अधिकार है। परन्तु इस सम्बन्ध में भी राज्य सार्वजनिक हितों में युक्तियुक्त निर्बन्धन लगाने वाले नियमों को प्रचलित रखने अथवा नए नियम बनाने में बाधित नहीं होगा। संस्था या संघ बनाने का अधिकार भी भारतीय नागरिकों को इस अनुच्छेद के अन्तर्गत दिया गया है। किन्तु सार्वजनिक व्यवस्था या सदाचार के हितों में युक्तियुक्त निर्बन्धन लगाने वाले नियमों को लागू रखने तथा इस सम्बन्ध में नए नियम

1 Article 17 2 Article 18

बनाने के राज्य के अधिकार में कोई बाधा नहीं पहुँचेगी। इनके अतिरिक्त नागरिकों को भारत राज्य क्षेत्र में अबाध सञ्चरण का उसके किसी भाग में निवास करने और बस जाने का तथा सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का अधिकार है। इस सम्बन्ध में भी राज्य साधारण-जनता के हितों अथवा किसी अनुसूचित आदिम जाति के हितों के संरक्षण के लिये युक्ति-युक्त निर्बन्ध लगाने वाले नियमों को लागू कर सकेगा और नये नियम बना सकेगा। भारतीय नागरिक कोई भी वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने का अधिकारी है। परन्तु राज्य को यह अधिकार है कि वह साधारण जनता के हितों में युक्तियुक्त निर्बंधन लगाने वाले तथा नागरिकों के लिये आवश्यक वृत्तिक या शिल्पिक योग्यताओं को निर्धारित करने वाले नियमों को लागू रख सके तथा उस सम्बन्ध में नए नियम बना सके।[1]

अपराधों के लिये दोष-सिद्ध के विषय में भी नागरिकों को संरक्षण प्रदान किया गया है। कोई भी व्यक्ति किसी अपराध के लिये सिद्ध-दोष नहीं ठहराया जा सकेगा, जब तक कि उसने अपराधारोपित क्रिया करने के समय किसी प्रवृत्त नियम का अतिक्रमण न किया हो और न वह उससे अधिक दण्ड का पात्र होगा जो उस अपराध करने के समय प्रवृत्त विधि के अधीन दिया जा सकता था।[2] इसका अभिप्राय यह है कि यदि कोई अपराध नये नियम के बनने से पूर्व हुआ है तो वह अपराध विषयक पुराने नियम के अनुसार ही विचारणीय होगा। किसी अपराधी अथवा अपराधी-वर्ग को अधिक दण्ड देने के लिये प्रचलित नियम के अतिरिक्त राज्य को नये नियम बनाने की संविधान आज्ञा नहीं देता। अमेरिका और आयरलैंड के संविधानों में भी इस प्रकार के उपबंध किये गए हैं। इस सम्बंध में यह भी व्यवस्था की गई है कि कोई व्यक्ति एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक अभियोजित और दण्डित नहीं किया जायेगा।[3] संविधान के विधेयक में "अभियोजित" शब्द का प्रयोग नहीं किया गया था परन्तु वाद विवाद के पश्चात् यह निर्णय हुआ कि ऐसा न करने पर बहुत से कर्मचारी अपराधी, विभागीय दण्ड की आड़ लेकर न्यायालय के दण्ड से बच जायेंगे। अत अभियोजन की बात स्पष्ट करदी गई। इस विधि का अब यह अर्थ है कि जिस व्यक्ति पर किसी अपराध के लिये मुकदमा चल चुका है और उसे एक बार न्यायालय द्वारा दण्डित किया जा चुका है तो उसे दोबारा न्यायालय द्वारा दण्ड नहीं दिया जायगा। संविधान में यह भी स्पष्ट

---

1 Article 19 2 Article 20 Cl (1)

3 Article 20 Cl. (2)

कर दिया गया है कि किसी अपराध में अभियुक्त कोई व्यक्ति स्वय अपने विरुद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य नहीं किया जायगा।[1] यह व्यवहार-शास्त्र का एक अटल सिद्धान्त है कि किसी अपराधी को अपने विरुद्ध गवाही देने को विवश नहीं किया जाना चाहिये वरन् उसे अपनी रक्षा करने में बाधा होगी और कानून की शरण लेने में उसका अभिप्राय ही हल नहीं होगा। भारतीय दण्ड-प्रक्रिया-संहिता (Criminal Procedure Code) में भी इस प्रकार की व्यवस्था की गई है क्योंकि प्रत्येक अभियोजित व्यक्ति उस समय तक निर्दोष समझा जाता है जब तक कि उसके विरुद्ध कोई विशेष अपराध सिद्ध न हो जाये।

संविधान के अन्तर्गत नागरिकों को प्राण और दैहिक स्वाधीनता का संरक्षण भी प्राप्त है। यह निर्दिष्ट कर दिया गया है कि किसी व्यक्ति को अपने प्राण अथवा दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य प्रकार वंचित न किया जायेगा।[1] किन्तु यह स्मरणीय है कि इस अनुच्छेद में "विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर" शब्द-समूह व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता तथा प्राण-रक्षा के अधिक संरक्षण नहीं हैं। इससे संसद को यह विशेष अधिकार मिल जाता है कि वह इस सम्बन्ध में नियम बना सके और न्याय-विभाग को इस प्रकार के नियम की वैधता पर विचार करने का अधिकार नहीं है। गोपालन बनाम मद्रास राज्य (१९५०) नामक मुकदमे से इस अनुच्छेद के आशय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। साम्यवादी दल के नेता श्री ए० के० गोपालन को मद्रास राज्य की सरकार ने निवारक-निरोध नियम के अन्तर्गत नजरबन्द कर लिया था। इस पर उन्होंने न्यायालय का आश्रय लिया और यह बात उठाई कि संविधान का अनुच्छेद २१ नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर एक प्रतिबन्ध है और प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों द्वारा इस अनुच्छेद की व्याख्या होने पर इसका प्रवर्त्तन उचित है। परन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि इस सम्बन्ध में "विधि" का अर्थ केवल राज्य द्वारा बनाये गये नियमों से ही है और श्री गोपालन की बन्दी-प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) का आवेदन-पत्र अस्वीकार कर दिया गया।

संविधान में नागरिकों को कुछ अवस्थाओं में बन्दीकरण और निरोध से संरक्षण प्रदान करने की भी व्यवस्था है। कोई व्यक्ति जो बन्दी किया गया है, ऐसे बन्दीकरण के कारणों से यथा समय शीघ्र अवगत कराये बिना हवालात में निरुद्ध नहीं किया जा सकेगा और न अपनी रुचि के विधि-व्यवसायी से परामर्श करने तथा प्रतिरक्षा कराने के अधिकार से वंचित किया जायगा। इस सम्बन्ध

---

1 Article 20 Cl. (3)

में यह बात ध्यान में रखने की है कि शब्द "यथा शक्य शीघ्र" बड़े अस्पष्ट हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिये स्वतन्त्रता का महत्व अधिक होता है। उसका अपहरण होने पर उसे शीघ्रातिशीघ्र उसके कारणों से अवगत करा देना चाहिये। सविधान के इस अनुच्छेद में यह समय निश्चित नहीं किया गया है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति जो बन्दी किया गया है और हवालात में निरुद्ध किया गया है, बन्दीकरण के स्थान से दण्डाधिकारी के न्यायालय तक यात्रा के लिये आवश्यक समय को छोड़कर, ऐसे बन्दीकरण से २४ घण्टे की कालावधि में निकटतम दण्डाधिकारी के समक्ष पेश किया जायेगा तथा ऐसा कोई व्यक्ति उक्त कालावधि के आगे दण्डाधिकारी के अधिकार के बिना हवालात में निरुद्ध नहीं किया जायेगा।[1] लेकिन ये उपबन्ध उन व्यक्तियों पर लागू नहीं होंगे जो तत्समय शत्रु अन्य देशीय होंगे अथवा निवारक निरोध उपबन्धित करने वाली किसी विधि के अधीन बन्दी या निरुद्ध किये जायेंगे।[2] सविधान की यह व्यवस्था उचित है कि बन्दी बनाये जाने के २४ घण्टों के अन्दर कैदी व्यक्ति को निकटतम न्यायालय के अधिकारी के सम्मुख पेश किया जाये और इन २४ घटों का हिसाब लगाने के लिये, न्यायालय तक जाने के लिये आवश्यक समय को छोड़ देना भी आपत्तिजनक नहीं हैं। वास्तव में इन उपबन्धों द्वारा नागरिकों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सरक्षण दिया गया है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि निवारक निरोध उपबन्धित करन वाली कोई विधि किसी व्यक्ति को तीन महीने से अधिक कालावधि के निरुद्ध किया जाना प्राधिकृत तब तक न करेगी जब तक कि —(१) ऐसे व्यक्तियों से जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश रह चुके हैं या नियुक्त होने की योग्यता रखते हैं, मिलकर बनी मत्रणामण्डली ने तीन महीने की उक्त कालावधि की समाप्ति के पूर्व प्रतिवदिन नहीं किया है कि ऐसे निरोध के लिये उनकी राय में पर्याप्त कारण हैं, परन्तु इस प्रकार बढाई गई कालावधि उस कालावधि से अधिक नहीं होगी जो ससद स्वय अपनी विधि द्वारा किसी विशेष प्रकार के मामलों के सम्बन्ध में निरोध के लिये निर्धारित करेगी, (२) ऐसा व्यक्ति निवारक-निरोध सम्बन्धी ससद निर्मित किसी विधि के उपबन्धों के अनुसार निरुद्ध नहीं है।[3]

परन्तु निवारक-निरोध उपबन्धित करने वाली किसी विधि के अधीन दिये गये आदेश के अनुकरण में जब कोई व्यक्ति निरुद्ध किया जाता है तब आदेश देने वाला अधिकारी यथा शक्य शीघ्र उस व्यक्ति को जिन आधारों पर वह

---

1 Article 22, Cl (2) 2 Article 22, Cl (3)

3 Article, 22 clause (4)

आदेश दिया गया है उनको बतायेगा तथा उस आदेश के विरुद्ध अभ्यावेदन करने के लिये उसे शीघ्रातिशीघ्र अवसर देगा, लेकिन इस उपबन्ध की किसी बात से आदेश देने वाले प्राधिकारी के लिए ऐसे तथ्य को प्रकट करना आवश्यक नहीं होगा जिनका कि प्रकट करना वह लोकहित के विरुद्ध समझता है।[1]

प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों के लिये संसद विधि द्वारा निवारक-निरोध की अधिकतम कालावधि निर्धारित कर सकती है। उसे विधि द्वारा यह विदित करने का अधिकार है :—(१) किन परिस्थितियों के अधीन तथा किस प्रकार या प्रकारों के मामलों में किसी व्यक्ति को निवारक-निरोध को उपबन्धित करने वाली किसी विधि के अधीन तीन महीने से अधिक कालावधि के लिए मन्त्रणा-मण्डली की राय प्राप्त किये बिना निरुद्ध किया जा सकेगा, (२) किस प्रकार या प्रकारों के मामलों में कितनी अधिकतम कालावधि के लिये कोई व्यक्ति निवारक-निरोध उपबन्धित करने वाली किसी विधि के अधीन निरुद्ध किया जा सकेगा तथा (३) किस प्रकार की प्रक्रिया का अनुकरण मन्त्रणा-मण्डली, निरोध की अवधि को तीन महीने से अधिक बढ़ाने के लिए जाँच करते समय करेगी।[2]

बम्बई राज्य बनाम आत्माराम श्रीधर वैद्य नामक मुकदमे की कार्यवाहियों से संविधान के निवारक निरोध-सम्बन्धी उपबन्धों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसमें सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति श्री कैनिया द्वारा किये गए निर्णय के अनुसार निरुद्ध किये जाने वाले व्यक्ति को इन उपबन्धों द्वारा दो अधिकार प्राप्त होते हैं। प्रथम यह कि वह उन कारणों को जान सके जिनके आधार पर उसे निरुद्ध किया गया है और दूसरा यह कि वह इस प्रकार के निरुद्ध अभ्यावेदन करने के लिये उसे शीघ्रातिशीघ्र अवसर दिया जाये। यदि वे कारण जिनके आधार पर उसके निरोध की आज्ञा दी गई है निरुद्ध व्यक्ति को बतला दिये जाते हैं तो उसके प्रथम अधिकार की पूर्ति हो जाती है। द्वितीय अधिकार की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि निरुद्ध व्यक्ति को शीघ्र ही सूचना दी जाये ताकि वह निरोध के विरुद्ध अभ्यावेदन कर सके। यदि वे कारण जिनके आधार पर उसका निरोध किया गया, उचित नहीं हैं तो वह निरुद्ध व्यक्ति अपने दूसरे अधिकार का उपयोग कर सकता है। यदि वह चाहे तो निरोध से सम्बन्ध रखने वाली अन्य बातें भी पूछ सकता है जिससे कि उसे अपने अभ्यावेदन में सहायता मिल सके। इन में से किसी अधिकार के भंग होने पर निरुद्ध व्यक्ति को

1. Article. 22 clause (5) & (6). 2. Article 22 clause (7)

न्यायालय का आश्रय लेने का अधिकार है और केवल दूसरे अधिकार के ही भग होने पर उसे मुक्त होने का अधिकार है।

सत्य तो यह है कि मूल अधिकारों के वर्णन में निरोध इत्यादि की बात करना ही अनुचित है। अन्यच्च, सविधान में निवारक निरोध की परिभाषा भी नहीं की गई है, यह इसका कम दोष नहीं है। किसी भी व्यक्ति को इस प्रकार के नियमों के अन्तर्गत तीन महीने और कभी कभी इसके अधिक समय के लिये बन्दीगृह में डाला जा सकता है। युद्ध-काल में इन नियमों का प्रवर्तन आपत्ति जनक नहीं है परन्तु शान्ति के समय इनका उपयोग सर्वथा अवाञ्छनीय है। वास्तव में तो ये 'पुलिस राज्य' के प्रतीक हैं। इनके सम्बन्ध में केवल यही कहा जा सकता है कि राज्य की सुरक्षा इनका मुख्य प्रयोजन है और भारतवर्ष के परिवर्तन काल में राज्य को विशेष शक्तियों का उपयोग करना कदाचित् आवश्यक ही है। साथ ही यह भी ध्यान में रखने की बात है कि निवारक निरोध (सशोधन) नियम १९५१ ने मूल निवारक-निरोध नियम, १९५० को अधिक उदार बना दिया है और मत्रणा मण्डली का कार्यक्षेत्र विस्तृत करके निरुद्ध व्यक्तियों के लिये अधिक सरक्षण व्यवस्था की गई है।

शोषण के विरुद्ध अधिकार

यह सर्वविदित है कि किस प्रकार हमारे देश में जमींदार तथा प्रभावशाली लोग निर्धन जनों पर अत्याचार करते रहे हैं और उनसे बेगार लेते रहे हैं। अत सविधान के मानव के पण्य और बेगार तथा इसी प्रकार के अन्य जबर्दस्ती लिये हुए श्रम का प्रतिषेध कर दिया है। इस उपबन्ध का कोई भी उल्लघन अपराध होगा और विधि के अनुसार दडनीय होगा।[1] लेकिन 'बेगार' की बात जितनी बढ़ा-चढ़ा कर कही जाती है उतनी सत्य नहीं है। गाँवों में जहाँ जमीदार लोग बेगार लिया करते थे वहाँ इस प्रकार कार्य करने वाले नाई, धोबी इत्यादि जनों को कुछ हक भी मिले हुए थे जिनके अनुसार उन्हें समय समय पर अपने आश्रितों से कुछ आर्थिक सहायता मिलती रहती थी और यह हक ऐसी जटिल परम्परा पर आधारित थे कि उनका साधारणतया उल्लघन करना सभव नहीं था। सविधान का यह उपबन्ध कि मनुष्यों का पण्य अपराध है, अनावश्यक सा प्रतीत होता है, क्योंकि अपने देश में प्राय इस प्रकार की प्रथा कभी नहीं रही। लेकिन ये उपबन्ध हानिकारक नहीं हैं।

बेगार का प्रतिषेध अवश्य कर दिया गया है परन्तु यदि स्वय राज्य सार्वजनिक प्रयोजन के लिये बाध्य सेवा लागू करे तो उसमें रुकावट न होगी।

1 Article 23 clause (1)

ऐसी सेवा लागू करने में केवल धर्म, मूलवंश, जाति या वर्ग या इनमें से किसी के आधार पर राज्य नागरिकों में विभेद नहीं करेगा।[1] बेगार का प्रतिषेध अमेरिका के संविधान में भी किया गया है। उसके १३-वें संशोधन के अनुसार "यूनाइटेड स्टेट्स और उसके शासनाधिकार के अन्तर्गत किसी प्रदेश में किसी अपराध के लिये नियमित रूपसे अपराधी घोषित होने पर दंड के अतिरिक्त दासता अथवा बलात् श्रम के लिये कोई स्थान न होगा।"

शोषण के विरुद्ध अधिकारों में बच्चों की भलाई पर भी ध्यान दिया गया है। संविधान के अनुसार चौदह वर्ष से कम आयु वाले किसी बालक को किसी कारखाने अथवा खान में नौकर न रखा जायेगा और न किसी दूसरी संकटमय नौकरी में लगाया जायेगा।[2] श्रमिकों के हितों को संरक्षण देने के लिये वैसे तो और भी विधियाँ देश मे प्रवृत्त हैं परन्तु संविधान में इस विशेष उपबन्ध द्वारा उनके हितों को अधिक सुरक्षित बनाने का प्रयत्न किया गया है।

धर्म स्वातन्त्र्य का अधिकार

भारतवर्ष एक विशाल देश है और यहाँ अनेक प्रकार के धर्म प्रचलित हैं। इसलिये स्वाभाविकत. संविधान के निर्माता किसी धर्म विशेष को राज्य-धर्म नहीं बना सकते थे। संविधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा मूल अधिकारों के सम्बन्ध में अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए सब व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान अधिकार होगा। परन्तु इस उपबन्ध की कोई बात किसी ऐसी विधि के प्रवर्तन या प्रभाव, अथवा राज्य के लिये किसी ऐसी विधि के बनाने में रुकावट, नहीं डालेगी जो, (१) धार्मिक आचरण से सम्बन्धित किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनैतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं का विनियम अथवा निर्बन्धन करती हो तथा (२) सामाजिक कल्याण और सुधार उपबन्धित करती हो अथवा हिन्दुओं की सार्वजनिक प्रकार की धर्म-संस्थाओं को हिन्दुओं के सब वर्गों और विभागों के लिये खोलती है। इस सम्बन्ध में यह व्याख्या स्मरणीय है कि कृपाण धारण करना तथा लेकर चलना सिक्ख धर्म के मानने का अङ्ग समझा जायगा और हिन्दुओं के प्रति निर्देश में सिक्ख, जैन या बौद्ध धर्म के मानने वाले व्यक्तियों के भी निर्देश अन्तर्गत होंगे

---

1 Article 23 Clause (2) 2 Article 24

और हिन्दू धर्म संस्थाओं के प्रति निर्देश का अर्थ भी तदनुकूल ही किया जायगा ।[1]

सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अथवा उसके किसी विभाग को यह अधिकार होगा कि वह (१) धार्मिक और पूर्ति-प्रयोजनों के लिये संस्थाओं की स्थापना और पोषण करे, (२) अपने धार्मिक कार्यों सम्बन्धी विषयों का प्रबन्ध करे, (३) जंगम तथा स्थावर सम्पत्ति का अर्जन तथा स्वामित्व करे, तथा (४) ऐसी सम्पत्ति का विधि अनुसार प्रशासन करे ।[2] धार्मिक-प्रचार तथा धर्म की उन्नति को प्रोत्साहन देने के लिये संविधान में यह उपबन्ध किया गया है। परन्तु इसमें "धार्मिक कार्यों सम्बन्धी विषयों का प्रबन्ध" इत्यादि शब्द-समूह संदिग्ध हैं। यदि कुछ विरोधी धर्मों के अनुयायी एक ही स्थान पर अपने-अपने धार्मिक कार्यों सम्बन्धी विषयों के प्रबन्ध का अधिकार प्रकट करने लगें तो इससे समाज का बड़ा अनहित होगा ।

धार्मिक कार्यों में राज्य को तटस्थ बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। अत. नागरिकों को किसी विशेष धर्म की उन्नति के लिये करों को देने के बारे में पूर्ण स्वतन्त्रता है। कोई भी व्यक्ति ऐसे करों को देने के लिये बाध्य नहीं किया जायगा जिनके आगम किसी विशेष धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण में व्यय करने के लिये विशेष रूप से विनियुक्त कर दिये गये हों ।[3] अभिप्राय यह है कि राज्य द्वारा किसी मनुष्य को ऐसे कर इत्यादि देने को विवश नहीं किया जायगा, जिनका धन किसी धर्म विशेष की उन्नति में लगाया जायगा ।

भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है। अत यह स्वाभाविक है कि राज्य की ओर से शिक्षा-संस्थाओं में किसी धर्म-विशेष को प्रोत्साहन न दिया जाये। संविधान के अनुसार राज्य-निधि से पूरी तरह पोषित किसी शिक्षा-संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा न दी जायेगी। परन्तु यह उपबन्ध ऐसी शिक्षा संस्था पर लागू न होगा जिसका प्रशासन राज्य करता हो किन्तु जो किसी ऐसे धर्मस्व या न्यास के अधीन स्थापित हुई है जिसके अनुसार उस संस्था में धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक है। परन्तु राज्य से अभिज्ञात अथवा राज्य-विधि से सहायता पाने वाली शिक्षा-संस्था में उपस्थित होने वाले किसी व्यक्ति को ऐसी संस्था में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के लिये अथवा ऐसी संस्था में या उससे संलग्न स्थान में की जाने वाली धार्मिक उपासना में

1 Article, 25, Clause (1) & (2)   2 Article, 26

3 Article 27

उपस्थित होने के लिये बाध्य न किया जायेगा, जब तक कि उस व्यक्ति ने या यदि यह आवश्यक है तो उसके संरक्षक ने, इसके लिये अपनी सम्मति न दे दी हो ।[1] इस प्रकार राज्य स्वयं धार्मिक शिक्षा-संस्थाओं का पोषण नहीं करेगा किन्तु कुछ वैयक्तिक शिक्षा-संस्थाओं में नागरिकों को धार्मिक शिक्षा अथवा धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के विषय में स्वतन्त्रता दी गई है।

संस्कृति और शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार

अल्पसंख्यकों की संस्कृति को संरक्षण देने के उद्देश्य से संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि भारत के राज्य क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी विभाग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा लिपि या संस्कृति है, उसे बनाये रखने का अधिकार होगा। राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य विधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा-संस्था में प्रवेश करने में किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वंचित न रखा जायेगा ।[2] भारतवर्ष जैसे विशाल देश में जहाँ अनेक प्रकार की जातियाँ रहती हैं नागरिकों को शिक्षा एवं संस्कृति सम्बन्धी अधिकार प्रदान करना आवश्यक है ताकि अल्प संख्यक वर्गों की संस्कृति, भाषा, लिपि इत्यादि सुरक्षित रह सकें। विशेषकर विभाजन के पश्चात् इस प्रकार के संरक्षण की अधिक आवश्यकता हो गई क्योंकि मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिकता के विष के कारण देश में विभाजन हुआ था और इस विष को नष्ट न किये जाने पर कुछ और दुष्परिणाम हो सकते थे। अतः अल्प संख्यक जातियों को अपनी संस्कृति के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता दी गई है और शिक्षा संस्थाओं में उनके साथ प्रवेश इत्यादि के सम्बन्ध में भेद-भाव न करने का आदेश दिया गया है।

परन्तु संस्कृति के संरक्षण के लिये प्रत्येक जाति को यह भी अधिकार होना चाहिये कि वह अपनी शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना और उनका प्रशासन करे। अतः संविधान में यह उपबन्ध किया गया है कि धर्म या भाषा पर आधारित सब अल्प संख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा। शिक्षा-संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक-वर्ग के प्रबन्ध में है।[3]

---

1 Article 28 Clause (1) & (3)
2 Article 29 Clause (1) & (2)
3 Article 30 Clause (1) & (2)

उदाहरणार्थ यदि उत्तर प्रदेश में बंगाली भाषा की उन्नति के लिये किसी संस्था की स्थापना की जाती है तो राज्य की सरकार शिक्षा-संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने में ऐसी संस्था के साथ भेद-भाव नहीं करेगी।

इन अधिकारों के सम्बन्ध में यह खास बात है कि कहीं-कहीं इनकी भाषा में अस्पष्ट शब्दों का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिये, संस्कृति को 'बनाये रखने का अधिकार' (Right to conserve) आदि शब्दों का कोई कानूनी महत्व प्रदर्शित नहीं होता है। इसके अतिरिक्त, इन उपबन्धों से राष्ट्रीय एकता में भी बाधा पहुँचती है क्योंकि राष्ट्रीय भाषा, राष्ट्रीय संस्कृति आदि का विकास तब तक संभव नहीं है जब तक कि राष्ट्र में एक जातीयता उत्पन्न न हो जाये।

सम्पत्ति का अधिकार

नागरिकों को अधिकार है कि बिना विधि के अधिकार के अपनी सम्पत्ति से वंचित न किये जायँ।[1] यह उचित ही है कि राज्य को सार्वजनिक हित के लिए व्यक्तियों की सम्पत्ति लेने का अधिकार होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं कि नागरिकों के व्यक्तिगत अधिकारों का अतिक्रमण हो और बलात् उनसे उनकी सम्पत्ति छीन ली जाये। पूँजीवादी राज्यों में सम्पत्ति का बड़ा महत्व होता है और जब तक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का गौरव रखने का अवसर प्राप्त नहीं करता, तब तक उसके व्यक्तित्व का विकास प्राय संभव नहीं होता। इसलिये संविधान में "विधि के अधिकार के बिना" शब्दों का प्रयोग किया गया है और इसी उद्देश्य से प्रतिकर की व्यवस्था की गई है। कोई स्थावर या जंगम सम्पत्ति, जिसके अन्तर्गत किसी वाणिज्यिक या औद्योगिक उपक्रम में या उसकी स्वामिनी किसी कम्पनी में कोई अंश भी है, ऐसी विधि के अधीन जो ऐसा कब्जा या अर्जन करने का अधिकार देती है, सार्वजनिक प्रयोजन के लिये कब्जाकृत या अर्जित तब तक नहीं की जायगी जब तक कि वह विधि कब्जाकृत या अर्जित सम्पत्ति के लिए प्रतिकर का उपबन्ध न करती हो और या तो प्रतिकर की राशि को नियत न कर दे या इन सिद्धान्तों और रीति का उल्लेख न कर दे जिनसे प्रतिकर निर्धारित होना है और दिया जाना है।[2] यह स्मरणीय है कि विधि द्वारा ही प्रतिकर के निर्धारित की व्यवस्था की गई है जिसका अभिप्राय यह है कि राज्य द्वारा सम्पत्ति के ले लिये जाने पर जो भी प्रतिकर दिया जायगा उसके विरुद्ध न्यायालय को यह विचार करने का अधिकार नहीं है कि वह पर्याप्त है अथवा कम। राज्यों के विधानमण्डल

1 Article, 31 clause (1) 2 Article 31 clause (2)

प्रतिकर निर्धारित करने में पूर्ण स्वतन्त्र होंगे और उनका निर्णय अन्तिम होगा। इस प्रकार न्यायालयों को इस सम्बन्ध में अधिकारों से वंचित करने का प्रभाव हो सकता है कि नागरिकों के साथ उचित न्याय न हो।

परन्तु राज्य के विधान-मण्डल द्वारा बनाई गई ऐसी कोई विधि जो सम्पत्ति को कब्जाकृत या अर्जित करने तथा उसके लिये प्रतिकर का उपबन्ध करती हो तब तक प्रभावी नहीं होगी जब तक कि ऐसी विधि को राष्ट्रपति के विचार के लिये रक्षित किये जाने के पश्चात्, उसकी अनुमति न मिल गई हो।[1] राष्ट्रपति की अनुमति का प्रतिबन्ध लगाकर इस उपबन्ध द्वारा प्रतिकर को न्यायोचित बनाने की सम्भावना की गई है। लेकिन यदि इस संविधान के प्रारम्भ पर किसी राज्य विधान-मण्डल के सामने किसी लम्बित विधेयक को, ऐसे विधान-मण्डल द्वारा पास किये जाने के पश्चात् राष्ट्रपति के विचार के लिये रक्षित किया जाता है तथा उसकी अनुमति मिल जाती है तो संविधान में किसी बात के होते हुए भी इस प्रकार अनुमत विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जायेगी कि वह पूर्वोक्त खंड (२) के उपबन्धों का उल्लंघन करती है[2] अथवा प्रतिकर का उपबन्ध नहीं करती है और या प्रतिकर की राशि नियत नहीं करती है या उन सिद्धान्तों और रीति का उल्लेख नहीं करती जिनसे प्रतिकर निर्धारित हुआ है और दिया जाना है। यह उपबन्ध कुछ असाधारण है और केवल विवादों को रोकने के लिये संविधान में सम्मिलित किया गया है। किन्तु इसका उद्देश्य पूरा नहीं हुआ और इस प्रकार अनुमत अनेकों विधियों का उच्च न्यायालयों में निषेध किया गया। पटना के उच्च न्यायालय ने यह निर्णय किया कि सन् १९५० का 'बिहार भूमि-सुधार नियम' अधिकार बाह्य (ultra vires) है क्योंकि वह संविधान द्वारा दिये गये विधि के समक्ष समता के अधिकार (अनुच्छेद १४) का अतिक्रमण करता है। परन्तु दूसरी ओर अलाहाबाद और नागपुर के उच्च-न्यायालयों की सम्मति में इस प्रकार के नियम मान्य थे।

अतः इस प्रकार की संदिग्ध व्यवस्था को मिटाने तथा जमींदारी उन्मूलन एवं भूमि-सुधार को शीघ्र सम्पन्न करने के लिये संविधान में प्रथम संशोधन (१९५१) किया गया। यह निर्दिष्ट किया गया कि सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में जो कुछ पहिले कहा गया है, उसके रहते हुए भी राज्य द्वारा निर्मित सम्पत्ति अथवा तत्सम्बन्धी अधिकार प्राप्त करने वाली अथवा अधिकारों को घटाने वाली कोई भी विधि इस आधार पर अमान्य या अवैध नहीं ठहराई

1 Article, 31 clause (3) 2 Article, 31 clause (4)

जायेगी कि वह इस भाग में दी हुई धाराओं का उल्लघन करती है, अथवा अपहरण करती है अथवा उन्हें सीमित करती है। यदि किसी राज्य का विधान-मण्डल ऐसी कोई विधि बनाता है तो इस उपबन्ध की धाराएँ उस विधि पर तब तक लागू नहीं होंगी जब तक कि वह राष्ट्रपति के विचाराधीन नहीं आती और राष्ट्रपति उसे अपनी अनुमति नहीं दे देता। इसमें 'सम्पत्ति' तथा 'अधिकार' शब्दों को भी स्पष्ट कर दिया गया है। 'सम्पत्ति' शब्द का अर्थ किसी स्थान में वही लगाया जायेगा जो कि वर्तमान विधि में किसी स्थान मे भूमि-प्रणालियों के सम्बन्ध में लगाया जाता है। इसमें किसी भी स्थान में जागीर, इनाम, मुआफी अथवा इसी प्रकार की अन्य देन भी सम्मिलित रहेगी। 'अधिकार' शब्द में वे अधिकार सम्मिलित किये गए हैं जो किसी जमींदार अथवा किसान अथवा शिकमी किसान अथवा ऐसे ही अन्य व्यक्तियों को प्राप्त होंगे।[1]

सशोधन के साथ-साथ अनुसूची ६ में जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि-सुधार सम्बन्धी नियम भी जोड़ दिये गए हैं जो विभिन्न राज्यों ने सविधान के प्रचलित होने के पूर्व अथवा बाद में बनाये थे और जिनके सम्बन्ध में अधिकाश न्यायालयों ने विरोधी निर्णय दिये थे। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि उपर्युक्त सशोधन का प्रभाव पिछले नियमों (Retrospective) पर भी होगा और इसका विरोध किये बिना अनुसूची ६ में दिये गए कोई भी नियम अमान्य नहीं समझे जायेंगे। उन्हें इस आधार पर अमान्य नहीं कहा जा सकता कि वे मूल-अधिकारों सम्बन्धी उपबधों का उल्लघन करते हैं। किसी भी न्यायालय को उनकी वैधता पर विचार करने का अधिकार नहीं होगा। सविधान के चतुर्थ सशोधन द्वारा जो विचाराधीन है, ससद एव राज्यों के विधान-मण्डलों को इस सम्बन्ध मे और भी अधिक अधिकार मिल जायेंगे।

सविधान में इस बात का भी उल्लेख कर दिया गया है कि —

(१) जो विधि सविधान के प्रचलित होने से १८ महीने से अधिक पहिले अधिनियमित हुई हो और जिस पर राष्ट्रपति ने सविधान के प्रारम्भ से ३ महीने के अन्दर लोक अधिसूचना द्वारा प्रमाणन दे दिया हो, उसको छोड़कर अन्य विधि पर।

(२) जो विधि किसी राज्य द्वारा कर या अर्थ-दण्ड के आरोपण या उद्ग्रहण के प्रयोजन के लिये बनाई गई है उसके उपबन्धों पर ;

(३) जो विधि राज्य द्वारा सार्वजनिक स्वास्थ्य की उन्नति के अथवा

---

1 Article 13 (A) Const (Amendment) Act, 1951
2 Article 13 (B) Const (Amendment) Act, 1951

प्राण या सम्पत्ति के सकट-निवारण के लिये बनाई गई है उसके उपबन्धों पर ; तथा

(४) जो विधि भारत डोमिनियन की अथवा भारत की सरकार और अन्य देश की सरकार के बीच किये गए करार (Agreement) के अनुसरण में अथवा अन्यथा विधि द्वारा निष्क्राम्य (Evacuee) घोषित की गई सम्पत्ति के लिये बनाई गई है उसके उपबन्धों पर ;

पूर्वोक्त खण्ड (२) के प्रतिकर-सम्बन्धी उपबन्ध लागू नहीं होंगे।[1]

विभिन्न राज्यों के जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि-सुधार सम्बन्धी नियमों को स्वीकृति देने के उद्देश्य से सविधान में यह प्रबन्ध किया गया है कि राज्य की कोई विधि, जो संविधान के प्रारम्भ से अठारह महीने से अनधिक पहिले अधिनियमित हुई हो, सविधान के प्रारम्भ से तीन महीने के अन्दर राष्ट्रपति के समक्ष उसके प्रमाणक के लिये रखी जा सकेगी और ऐसा होने पर लोक-अधिसूचना द्वारा राष्ट्रपति ऐसा प्रमाण दे सकता है कि किसी न्यायालय में उस पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जायेगी कि वह खण्ड (२) के (प्रतिकर सम्बन्धी) उपबन्धों का उल्लघन करती है अथवा भारत-शासन-अधिनियम १९३५ की धारा २९९ की उपधारा (२) के (सम्पत्ति के अपहरण सम्बन्धी) उपबन्धों का उल्लंघन कर चुकी है।[2]

संवैधानिक उपचारो के अधिकार

केवल मूल-अधिकारों के उपबन्ध से ही नागरिकों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। इन अधिकारों को वास्तविकता का आधार देने के लिये यह आवश्यक है कि इनके उल्लघन की दशा में नागरिकों को न्यायालय की सहायता लेने का अधिकार दिया जाये। अत हमारे सविधान में भी मूल-अधिकारों का अतिक्रमण होने पर नागरिकों को विभिन्न संवैधानिक उपचारों के अधिकार दिये गए हैं। मूल-अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिये उच्चतम न्यायालय को समुचित कार्यवाहियों द्वारा प्रचलित करने का अधिकार, प्रत्याभूत (Guaranteed) किया गया है। इसके लिये उच्चतम न्यायालयों को अधिकार है कि वह ऐसे निर्देश या आदेश या लेख जिनमें बन्दी प्रत्यक्षीकरण, (Habeas Corpus) परमादेश, (Mandamus) प्रतिषेध (Prohibition), अधिकार-पृच्छा (Quo-Warranto) और उत्प्रेषण (Certiorari) के लेख भी हैं, निकाल सके। परन्तु उच्चतम

---

1 Article 31, Clause (5) 2 Article 31 Clause (6)

न्यायालय की इन शक्तियों पर बिना प्रतिकूल प्रभाव डाले संसद, विधि द्वारा किसी दूसरे न्यायालय को अपने क्षेत्राधिकार की स्थानीय सीमाओं के भीतर उच्चतम न्यायालय द्वारा प्रयोग की जाने वाली सब अथवा किसी शक्ति का प्रयोग करने की शक्ति दे सकेगी। साथ ही यह भी निर्दिष्ट कर दिया गया है कि, संविधान द्वारा अन्यथा उपबन्धित अवस्था को छोड़कर इस उपबन्ध द्वारा प्रत्याभूत अधिकार विलम्बित नहीं किया जायगा।[1] अर्थात् नागरिकों का उच्चतम न्यायालय की सहायता से मूल अधिकारों को प्रवर्तित कराने का, अथवा उच्चतम न्यायालय का इस प्रयोजन के लिये निर्देश या आदेश निकालने का अधिकार उसी दशा में निलम्बित किया जायेगा जिसके लिये संविधान में अन्यथा उपबन्ध किया गया हो।

इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण आदि के लेखों का स्पष्टीकरण कर दिया जाये। जब किसी नागरिक के मूल-अधिकारों का उल्लंघन किया जाये तो वह न्यायालय की शरण ले सकता है और उसकी सहायता से एक लेख निकलवा सकता है जिसके द्वारा मूल-अधिकारों की रक्षा होती है और उनका दुरुपयोग रोका जाता है। संविधान में निम्नलिखित लेखों की व्यवस्था की गई है।

(१) बन्दी-प्रत्यक्षीकरण का लेख (The Writ of Habeas Corpus) —यह लेख व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बड़ा संरक्षक है। यदि कोई नागरिक अवैधिक रूप से बन्दी बना लिया जाता है तो वह न्यायालय द्वारा इस प्रकार का लेख निकलवा कर स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। यह लेख उस व्यक्ति के नाम निकाला जाता है जो किसी अन्य व्यक्ति को अपनी हिरासत में बन्दी किये होता है और इस लेख द्वारा उसे कैदी को न्यायालय में उपस्थित करने की आज्ञा दी जाती है। यदि न्यायालय की सम्मति में बन्दी किया गया व्यक्ति निर्दोष है तो वह शीघ्र ही उसकी मुक्ति की आज्ञा दे देता है अथवा उसके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जाती है। स्वयं कैदी अथवा उससे सम्बन्धित कोई अन्य व्यक्ति इस लेख के लिये प्रार्थना-पत्र दे सकता है। भारतीय-दण्ड-व्यवहार-संहिता की धारा ४९१ में भी इस प्रकार के लेख की व्यवस्था की गई है। संविधान में इसके उपबन्ध से यह अधिकार और भी सुनिश्चित हो गया है। ब्रिटेन में यह लेख नागरिकों की स्वतन्त्रता का आधार स्वरूप है। लेकिन वहाँ न्यायालयों का यह अधिकार विधान की प्राचीन

---

2 Article 32, Clauses (1), (2), (3), (4)

परम्पराओं पर आधारित है, जबकि भारतीय न्यायालयों को यह अधिकार संविधान द्वारा मिला हुआ है।

(२) परमादेश का लेख (The Writ of Mandamus) :—इस लेख द्वारा न्यायालय किसी अधीन न्यायालय, किसी व्यक्ति अथवा संस्था को उचित कर्त्तव्य करने की आज्ञा देता है। अर्थात् यदि कोई अधिकारी इस प्रकार कार्य करता है जिससे किसी अन्य नागरिक के वैयक्तिक-अधिकारों का उल्लंघन होता है तो न्यायालय परमादेश द्वारा उसे ऐसा कार्य करने से रोक सकता है। विशेष-दादरसी-विधान (Special Relief Act) की धाराएँ भी नागरिकों को इसी प्रकार के अधिकार प्रदान करती हैं।

(३) प्रतिषेध का लेख (The Writ of Prohibition) :—यह वह लेख है जिसके द्वारा कोई उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालय को किसी मुकद्दमे की कार्यवाही स्थगित करने की आज्ञा इस आधार पर देता है कि वह न्यायालय अपने अधिकार-क्षेत्र का अतिक्रमण कर रहा है अथवा स्वाभाविक न्याय के सिद्धान्तों के विरुद्ध कार्य कर रहा है। यदि इस प्रकार की आज्ञा के पश्चात् भी कोई न्यायाधीश उस मुकद्दमे की कार्यवाही जारी रखता है तो प्रतिषेध का लेख निकालने वाला न्यायालय उसके विरुद्ध, न्यायालय-अपमान का मुकद्दमा चला सकता है। यदि कोई न्यायाधीश किसी ऐसे मुकद्दमे की कार्यवाही करता है जिसमें उसका स्वार्थ छिपा हुआ है अथवा वह स्वयं स्वाभाविक न्याय के नियमों का उल्लंघन कर अनुचित कार्य करता है तो उसके विरुद्ध भी उच्च न्यायालय प्रतिषेध का लेख जारी कर सकता है जिसके फलस्वरूप वे कार्यवाहियाँ तत्काल स्थगित कर दी जायेंगी।

(४) उत्प्रेषण का लेख (The Writ of Certiorari) :—यह लेख प्रायः प्रतिषेध के लेख के साथ ही साथ जारी किया जाता है। इसका अभिप्राय भी निम्न न्यायालय को अधिकार-बाध्य कार्य करने से रोकना होता है। इसके अनुसार निम्न न्यायालय को यह आज्ञा दी जाती है कि वह अमुक मुकद्दमे को उच्च न्यायालय में भेज दे। प्रतिषेध के लेख से इसमें अन्तर यह है कि यह लेख किसी मुकद्दमे की प्रारम्भिक अवस्था पर ही लागू किया जाता है और इस प्रकार यह भी उपचारात्मक न होकर अधिकांश में प्रतिषेधात्मक है।

(५) अधिकार-पृच्छा का लेख (The writ of Quo-warranto) :—जब कोई व्यक्ति अवैधिक रूप से किसी सार्वजनिक पद को या मत देने के अधिकार को प्राप्त करता है अथवा अनुचित रूप से किसी अन्य प्रकार की स्वतन्त्रता हड़पता है तो न्यायालय अधिकार-पृच्छा के लेख

द्वारा उससे यह पूछ सकता है कि किस प्राधिकार के अधीन उसने अमुक पद अथवा अधिकार प्राप्त किया है। अवैधिक रूप से किसी पद के ग्रहण करने पर न्यायालय अधिकार-पृच्छा के लेख द्वारा उस व्यक्ति को उस पद से हटा सकता है।

संविधान के उपर्युक्त उपबन्ध (अनुच्छेद ३२) मूल-अधिकारों के उल्लघन पर नागरिकों को उनके उपचार का अधिकार प्रदान करते हैं। सर्वोच्च न्यायालय को इन अधिकारों का संरक्षक बनाया गया है। यदि कोई व्यक्ति इन उपबन्धों के अन्तर्गत कानूनी कार्यवाही करना चाहता है तो उसे दो बातें सिद्ध करनी होती हैं। प्रथम यह कि, संसद अथवा विधान-मंडल द्वारा निर्मित अमुक नियम-अधिकार-क्षेत्र का अतिक्रमण करके बनाया गया है और दूसरी यह कि इस प्रकार निर्मित नियम संविधान द्वारा संरक्षित मूल अधिकारों का उल्लघन करता है। सर्वोच्च न्यायालय किसी व्यक्ति द्वारा मूल-अधिकारों के उल्लघन होने पर दिये गए प्रार्थना-पत्र को स्वीकार करने से मना नहीं कर सकता है।

प्रत्येक राज्य में सैनिकों के कर्तव्य विशिष्ट होते हैं और उनके पालन के लिये दृढ़ अनुशासन की आवश्यकता होती है। अत यह भी आवश्यक होता है कि उनके दिये गये अधिकारों की प्रयुक्ति की अवस्था में साधारण नागरिकों की अपेक्षा कुछ रूपभेद किया जाय। संविधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि संसद, विधि द्वारा निर्धारण कर सकेगी कि इस भाग में दिये गए अधिकारों में से किसी को सशस्त्र बालों अथवा सार्वजनिक व्यवस्था भार-वाले सदस्यों के लिये प्रयोग होने की अवस्था में किस मात्रा तक निर्बन्धित या निराकृत किया जाये ताकि उनके कर्तव्यों का उचित पालन तथा उनमें अनुशासन बना रहना सुनिश्चित रहे।[1] ब्रिटेन में भी सैनिकों के कर्तव्य साधारण नागरिकों की अपेक्षा अधिक होते हैं।

आपत्तिकाल में जब देश के किसी क्षेत्र में सेना-विधि (Martial Law) प्रवृत्त हो जाती है तो अधिकारियों इत्यादि को राज्य के हित में उचित एवं अनुचित विशेष प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। अत· इन कार्यों के लिये उनको सामान्य जनता के विरुद्ध संरक्षण देने के उद्देश्य से संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि मूल-अधिकारों के उपबन्धों में किसी बात के होते हुए भी संसद विधि द्वारा संघ या राज्य की सेवा में के किसी व्यक्ति को, अथवा किसी अन्य व्यक्ति को, किसी ऐसे कार्य के विषय में तारण दे सकेगी जो उसने भारत राज्य-

1 Article 33

क्षेत्र के भीतर, किसी ऐसे क्षेत्र मे जहाँ सेना-विधि प्रवृत्त थी, व्यवस्था के बनाये रखने या पुनः स्थापन के सम्बन्ध में किया है अथवा ऐसे क्षेत्र में सेना-विधि के अधीन किसी दिये गये दडादेश, दिये गए दंड, आदेश की हुई जब्ती, अथवा किये गए अन्य कार्य को मान्य कर सकेगी।[1] ब्रिटेन में भी सेवा-विधि प्रवृत्त होने की दशा में, अधिकारियों द्वारा किए गये कार्यों को क्षतिपूर्वक नियमों (Indemnity Act) द्वारा तारण दिया जाता है।

सघात्मक राज्य में नागरिक दो सरकारों—केन्द्रीय तथा राज्यीय—के अधीन होता है। अतः भारत के सविधान में भी सघात्मक होने के कारण यह निर्दिष्ट करना आवश्यक था कि मूल-अधिकारों के सम्बन्ध में विधि बनाने का अधिकार संसद को होगा अथवा राज्यों के विधान-मण्डलों को। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सविधान में किसी बात के होते हुए भी केवल ससद ही, न कि राज्यों के विधान-मण्डल, निम्नलिखित विषयों के सम्बन्ध में विधि बनायेगी :—

(१) प्रथम अनुसूची में उल्लिखित राज्यों में नौकरियों या पद पर नियुक्ति के विषय में नौकरी या नियुक्ति के पूर्व उस राज्य के अन्दर निवास विषयक अपेक्षा विहित करने के लिये ;

(२) किसी दूसरे न्यायालय को अपने क्षेत्राधिकार की सीमाओं के भीतर उच्चतम न्यायालय द्वारा प्रयोग की जाने वाली सब अथवा किसी शक्ति का प्रयोग करने की शक्ति देने के लिये ;

(३) सशस्त्र बलों को दिये गए अधिकारों की प्रयुक्ति की अवस्था में रूप-भेद करने के लिये ;

(४) सेवा-विधि की प्रवृत्त होने की स्थिति में मूल अधिकारों पर निर्बन्धन के लिये ; तथा

(५) मूल-अधिकारों के भाग में अपराध-घोषित कार्यों के दण्ड विहित करने के लिये।

इस बात का भी उल्लेख कर दिया गया है कि संसद सविधान के प्रारम्भ के पश्चात् यथाशीघ्र उपर्युक्त उपबन्धों में निर्दिष्ट कार्यों के सम्बन्ध में दण्ड विहित करने के लिये बनाएगी।

यह स्मरणीय है कि उपर्युक्त विषयों में से किसी से सम्बन्ध रखने वाली अथवा अपराध घोषित कार्यों के लिए दण्ड विहित करने वाली कोई प्रवृत्त

---

1 Article 34

विधि जो भारत राज्य-क्षेत्र में इस सविधान के प्रारम्भ होने से ठीक पहिले
थी, उसमें दिये गए निर्बन्धनों के तथा सविधान के उपबन्धों के अधीन
किए गए किन्हीं अनुकूलनों और रूप-भेदों के अधीन रह कर ही तब तक
बनी रहेगी जब तक कि वह ससद द्वारा परिवर्तित या सशोधित न करदी ज
प्रवृत्त विधि का अर्थ इस सम्बन्ध में सविधान के अनुच्छेद ३७२ के अनुकू
होगा, [1] जिसके अनुसार वर्तमान विधियों के प्रवृत्त रहने और उनके अनु
की व्यवस्था की गई है।

अध्याय ६

राज्य की नीति के निर्देशक तत्व

संविधान के भाग ४ में, अनुच्छेद ३६ से लेकर ५१ तक राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों का वर्णन किया गया है। ये वे सिद्धान्त हैं जिनके आधार पर कार्य करने पर देश की सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक समस्याओं के सुलझाने की सम्भावना प्रत्याशित की गई है। इनमें कुछ ऊँचे आदर्श समाविष्ट हैं जो राज्य के अधिकारियों को सदा उनके कर्त्तव्यों का ध्यान दिलाते रहेंगे और इनका अनुकरण देश की प्रगति में सहायक होगा। परन्तु न्यायालय इन सिद्धान्तों का किस सीमा तक पालन कर सकता है, देश के शासन में इनको आधारभूत बनाने के लिए किस सीमा तक इनकी व्याख्या कर सकता है अथवा नागरिक किस सीमा तक इन उपबन्धों की शरण ले सकते हैं, इन बातों का संविधान में उल्लेख नहीं किया गया है। अनुच्छेद ३७ के अनुसार "इस भाग में दिये गए उपबन्धों को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता न दी जा सकेगी, किन्तु तो भी इनमें दिये हुये तत्व देश के शासन में मूल भूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा।" साधारणतया, राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक कार्य-साधक रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक-प्रयास की उन्नति करे।[1] अर्थात् लोक-कल्याण की उन्नति के लिये राज्य सामाजिक व्यवस्था बनायेगा। वैसे तो राज्य के पथ-प्रदर्शक के लिये ये शब्द ही पर्याप्त थे परन्तु, संविधान के निर्माताओं को कदाचित् निर्देशक-तत्वों की विशद व्याख्या करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः उन्होंने विस्तृत रूप में इनका संविधान में समावेश किया है। निर्देशक तत्वों के आदेशानुसार राज्य अपनी नीति का विशेषतया इस प्रकार सञ्चालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से—

(१) प्रत्येक नर और नारी नागरिक को जीविका के साधन प्राप्त करने का

---

1 Article 38

समान अधिकार प्राप्त हो, (२) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो, (३) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्व-साधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो, (४) पुरुषों और स्त्रियों दोनों का समान कार्य के लिये समान वेतन हो। (५) श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों का स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों को न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हों, तथा (६) शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से तथा नैतिक, आर्थिक परित्याग से सरक्षण हो।[1] ये उपबन्ध देश की आर्थिक दशा तथा सम्पत्ति के असामान्य वितरण को सुधारने के लिये किये गए हैं। इसके अतिरिक्त, अन्य निर्देशक तत्व भी देश की प्रगति के प्रयोजन से समाविष्ट किये गए हैं।

ग्राम पचायतें देश के शासन-प्रबन्ध में बड़ा महत्व रखती हैं। कारण यह है कि भारत ग्रामों का देश है और यहाँ की अधिकाश जनता ग्रामों में रहती है। मुसलमानों के शासन काल में भी ग्रामों की निजी समस्यायें ग्रामों में ही हल करली जाती थीं और उनके बहुत कम मुकदमे केन्द्रीय सरकार के समक्ष आया करते थे। अत नए सविधान में भी यह व्यवस्था की गई है कि राज्य, ग्राम पचायतों का सगठन करने के लिये अग्रसर होगा तथा उनको ऐसी शक्तियाँ और अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिये आवश्यक हों।[2]

श्रमिकों एव निम्न स्तर के लोगों की आर्थिक दशा सुधारने के लिये सविधान में यह निर्देश किया गया है कि राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर काम पाने के, शिक्षा पाने के तथा बेकारी, बुढापा, बीमारी और अङ्गहानि तथा अन्य अनर्ह अभाव की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पाने के, अधिकार को प्राप्त कराने का कार्यसाधक उपबन्ध करेगा।[3] काम की न्यायपूर्ण और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिये तथा प्रसूति-सहायता के लिये भी राज्य उपबन्ध करेगा।[4] उपयुक्त विधान या आर्थिक सगठन द्वारा अथवा और किसी दूसरे प्रकार से राज्य कृषि के, उद्योग के या अन्य प्रकार के सब श्रमिकों को काम, निर्वाह मजदूरी, शिष्ट जीवन-स्तर, तथा अवकाश का सम्पूर्ण उपयोग सुनिश्चित करने

1 Article 39 2 Article 40
3 Article 41 4 Article 42

वाली काम की दशायें तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त करने का प्रयास करेगा तथा विशेष रूप से ग्रामों में कुटीर उद्योगों को वैयक्तिक अथवा सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगा।[1] जीवन स्तर को ऊँचा करने तथा लोक स्वास्थ्य सुधार को राज्य अपने प्राथमिक कर्त्तव्यों में से मानेगा और विशेषतया स्वास्थ्य के लिये हानिकर मादक पेयों और औषधियों के औषधीय प्रयोजन से अतिरिक्त उपभोग का प्रतिषेध करने का प्रयास करेगा।[2]

लोकतन्त्रात्मक शासन के सुचारु तथा प्रगतिशील कार्यकरण के लिये अन्य बातों के अतिरिक्त नागरिकों का शिक्षित होना भी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इस प्रकार का शासन शासकों की आलोचना पर आधारित होता है और इसके लिये सगठित जनमत की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति शिक्षित नागरिकों द्वारा ही हो सकती है। अतः सविधान में नागरिकों की शिक्षा के लिये निर्देशक तत्वों में यह भी उपबन्ध किया गया है कि राज्य, सविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की कालावधि के भीतर सब बालकों को चौदह वर्ष की अवस्था-समाप्ति तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिये उपबन्ध करने का प्रयास करेगा।[3] जनता के दुर्बलतर विभागों के, विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों की शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की राज्य विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकार के शोषण से उनका सरक्षण करेगा।[4]

यह भी निर्देशित किया गया है कि राज्य कृषि और पशु-पालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों से सघटित करने का प्रयास करेगा तथा विशेषतः गायों और बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक ढोरों की नस्ल के परिरक्षण और सुधारने के लिये तथा उनके वध का प्रतिषेध करने के लिये अग्रसर होगा।[5] कृषि इस देश का पेशा है और इसी पर भारतवासी जीते है। मुस्लिम काल में भी शासकों ने विशेषकर अलाउद्दीन, शेरशाह, अकबर, शिवाजी ने कृषकों की ओर विशेष ध्यान दिया था। अतः सविधान के निर्माताओं ने भी कृषि का महत्व समझ कर उसे प्रोत्साहित करने की व्यवस्था की है।

---

1 Article 43
2 Article 47
3 Article 45
4 Article 46
5 Article 48

शासन के सुचारु कार्यकरण के लिये यह भी आवश्यक है कि, समाज जहाँ तक हो सके, इकसार हो जाये और व्यावहारिक नियमों को सर्वत्र एकसा कर देने से यह कमी किसी सीमा तक पूरी हो सकती है। अत. अनुच्छेद ४४ में यह निर्दिष्ट किया गया है कि भारत के समस्त राज्य-क्षेत्र में नागरिकों के लिये राज्य एक समान व्यवहार-सेहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा। सविधान का यह उपबन्ध कानून के समक्ष समता-अधिकार से मिलता-जुलता है।

राष्ट्रीय महत्व के स्मारकों, स्थानों और चीजें देश की सास्कृतिक उन्नति के लिये बड़ी महत्वपूर्ण होती हैं। इसलिये सविधान में इनके सरक्षण की भी व्यवस्था की गई है। राज्यों को ये निर्देश दिया गया है कि वे ससद से, विधि द्वारा, राष्ट्रीय महत्व वाले घोषित कलात्मक या ऐतिहासिक अभिरुचि वाले प्रत्येक स्मारक, या स्थान या चीज की यथास्थिति विसयन विनाश- अपनयन, व्ययन अथवा निर्यात से रक्षा करें।[1] भारत में ऐतिहासिक महत्व की वस्तुओं के बाहुल्य के कारण यह उपबन्ध भी प्राय आवश्यक ही था।

अनुच्छेद ५० में यह कहा गया है कि राज्य अपनी लोक सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करने के लिये अग्रसर होगा। जनता में राज्य के प्रति विश्वास उत्पन्न करने के लिये न्यायालय की स्वतन्त्रता आवश्यक है। लोगों को यह विश्वास होना चाहिये कि वह कार्यपालिका के अनुचित दबाव से मुक्त है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये सविधान में यह उपबन्ध किया गया है।

इसके अतिरिक्त, निर्देशक तत्वों द्वारा भारत को शाति प्रिय नीति की परम्परा को सुरक्षित रखने का भी आदेश दिया गया है। इतिहास साक्षी है कि अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति से भारत ने सदा शाति की स्थापना के लिये प्रयत्न किया है। राज्य को विस्तृत बनाने के उद्देश्य से भारतीय शासकों ने कभी विदेशों पर आक्रमण नहीं किया। अत. इस परम्परा को स्थायी रखने के लिये सविधान में व्यवस्था की गई है कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति का, राष्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाये रखने का, सघटित लोगों के एक दूसरे से व्यवहारों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि और सधि-बन्धनों के प्रति आदर बढाने का, तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों की मध्यस्थता द्वारा निबटारे के लिये प्रोत्साहन देने का प्रयास करेगा।[2] फ्रास के नए

1 Article 49 2 Article 51

शासन विधान में भी इससे मिलते-जुलते उपबन्ध का समावेश किया गया है जिसके अनुसार फ्रांस की सरकार ने आक्रामक युद्धों में भाग न लेने का आयोजन किया है।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, ये निर्देशक तत्व न्यायालय द्वारा विचारणीय नहीं हैं। इनका पालन न होने पर कोई व्यक्ति इस आधार पर न्यायालय की शरण नहीं ले सकता है। अत प्रश्न यह उठता है कि ऐसी दशा में इनका महत्व ही क्या है? वास्तव में ये राज्य के सम्मुख केवल एक आदर्श उपस्थित करते हैं जिनका पालन करना या न करना उसकी मर्जी पर निर्भर है। लेकिन राज्य की आलोचना करने के लिये सर्वसाधारण को इनमें अच्छे आधार मिल जाते हैं। यद्यपि इनका कोई कानूनी महत्व नहीं है तो भी जनमत को सगठित करने में ये बड़े सहायक हो सकते हैं। इनके सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि ये राज्य के सम्मुख राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति का एक कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं और अपने वास्तविक स्वरूप में ये किसी राजनीतिज्ञ द्वारा चुनाव आन्दोलन में जारी किये गए घोषणा-पत्र के समान प्रतीत होते हैं।

अध्याय १०

कार्यपालिका

भारतवर्ष की कार्यपालिका संसद प्रधान है। यह राष्ट्रपति और मन्त्रिमण्डल दो तत्वों से मिलकर बनती है। अमेरिका की कार्यपालिका में भी प्रबन्धक शक्ति एक अध्यक्ष प्रेसीडेन्ट को सौंपी जाती है परन्तु अध्यक्ष-प्रधान होने के कारण वह हमारे देश की कार्यपालिका से भिन्न है। यद्यपि कार्य-काल तथा अप्रत्यक्ष-निर्वाचन के सम्बन्ध में दोनों देशों के प्रधानों में कुछ समानता दिखाई देती है, शक्तियों के क्षेत्र में दोनों में पर्याप्त विषमता है। अमेरिका के प्रेसीडेन्ट का पद संसार के सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावशाली पदों में से एक है, जबकि भारत के राष्ट्रपति का पद ब्रिटेन के राजा की भाँति नाम-मात्र का है। वास्तव में, हमारे देश की कार्यपालिका की रचना ब्रिटेन की वैधानिक परम्परा के आधार पर की गई है। ब्रिटेन के शासक की भाँति, राष्ट्रपति एक वैधानिक प्रधान है। अन्तर केवल यह है कि ब्रिटिश राजसिंहासन का अधिकार-वंशागत है और राष्ट्रपति का अधिकार जनता द्वारा निर्वाचन पर आधारित है। राष्ट्रपति का कार्य काल संविधान द्वारा निश्चित कर दिया गया है, ब्रिटेन का शासन पार्लियामेण्ट की इच्छानुसार समय तक राज्याधिकार से वञ्चित नहीं किया जाता है। इस प्रकार, भारत की कार्यपालिका के निर्माण में ब्रिटेन तथा अमेरिका दोनों देशों की वैधानिक परम्पराओं का समावेश किया गया है।

राष्ट्रपति

निर्वाचन की रीति .

राष्ट्रपति के पद के लिये अप्रत्यक्ष-निर्वाचन-प्रणाली की व्यवस्था की गई है। यह निर्वाचन एक ऐसे निर्वाचक-गण के सदस्य करेंगे जिसमें संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य सम्मिलित होंगे। राष्ट्रपति के निर्वाचन में भिन्न भिन्न राज्यों का प्रतिनिधित्व एक से मापमान से करने का प्रबन्ध किया गया है।[1] राज्यों में आपस में ऐसी एकरूपता तथा समस्त राज्यों और संघ में समतुल्यता

1 Articls 54 & 55

प्राप्त कराने के लिये संसद तथा प्रत्येक राज्य की विधान-सभा का प्रत्येक निर्वाचित सदस्य इस निर्वाचन में जितने मत देने का हकदार है उनकी संख्या इस प्रकार निर्धारित की जायेगी—

(क) किसी राज्य की विधान-सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के उतने मत होंगे, जितने कि एक हजार के गुणित, उस भागफल में हों जो राज्य की जनसंख्या को उस राज्य की उस सभा के निर्वाचित सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या से, भाग देने से आये ;

(ख) एक हजार के उक्त गुणितों को लेने के बाद यदि शेष पाँच सौ से कम न हो तो राज्य की विधान-सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या में एक और जोड़ दिया जायगा ;

(ग) संसद के प्रत्येक सदन के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या वही होगी जो समस्त राज्यों की विधान-सभाओं के लिये नियत सम्पूर्ण मत-संख्या को संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की सम्पूर्ण जन-संख्या से भाग देने से आये, जिसमें आधे से अधिक भिन्न को एक गिना जायेगा और अन्य भिन्नों की उपेक्षा की जायेगी।

राष्ट्रपति का निर्वाचन, अनुपाती प्रतिनिधित्व (Proprotional Representation) प्रणाली के अनुसार एकल-संक्रमणीय मत द्वारा होगा तथा ऐसे निर्वाचन में मतदान गूढ़-शलाका द्वारा होगा। इस सम्बन्ध में ऐसी अन्तिम पूर्वगत जनगणना में निश्चित की गई जनसंख्या अभिप्रेत है, जिसके तत्सम्बन्धी आँकड़े प्रकाशित हो चुके हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि संविधान के निर्माताओं ने यह भरसक प्रयत्न किया है कि कहीं संसद, राष्ट्रपति के चुनाव में, राज्यों के साथ समानाधिकार से वञ्चित न हो जाये। यदि प्रत्येक राज्य की विधान-सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य का एक ही मत होता और यही व्यवस्था संसद के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के लिये की जाती, तो राज्यों के मतों का महत्व राष्ट्रपति के निर्वाचन में अधिक होता और संसद का निर्णय नगण्य बन जाता। संविधान के निर्माताओं को यह भी भय था कि कहीं अधिक जनसंख्या वाले राज्य राष्ट्रपति के निर्वाचन में अधिक प्रभावशाली न हो जाये जिससे कि कम जनसंख्या वाले राज्यों के मतों की अवहेलना हो। अतः उन्होंने विधान-सभा के निर्वाचित सदस्यों के मत निश्चित करने के लिये संविधान में उक्त प्रणाली का समावेश किया जिसके अनुसार अधिक तथा कम जनसंख्या वाले राज्यों के मतों में अत्यधिक अन्तर नहीं होता है। अमेरिका में अधिक जनसंख्या वाले प्रदेश

ही प्रेसीडेण्ट के निर्वाचन का अन्तिम निर्णय करते हैं। इस पद के लिये उम्मेदवारों का निश्चय करते समय वहाँ के राजनैतिक दल ऐसे राज्यों पर आधारित रहते हैं जिनकी जनसख्या अधिक है और जिसके कारण प्रतिनिधि भवन (House of Representatives) में उनकी सख्या अधिक होती है। क्योंकि अमरीका के शासन-विधान के अनुसार प्रेसीडेण्ट के निर्वाचन के समय निर्वाचन-गण बनाने के लिये प्रत्येक राज्य के मतदाता काग्रेस में अपने-अपन राज्य के प्रतिनिधिया और सेनेटरों की सम्मिलित सख्या के बराबर होते हैं, अत राजनैतिक दल ऐसे राज्यों से प्रेसीडेण्ट के पद के लिये उम्मेदवार चुनते हैं जिनसे अधिक सख्या में काग्रेस में सदस्य भेजे जाते हैं और कम जनसख्या वाले राज्यों का महत्व प्राय नगण्य होता है। हमारे सविधान के निर्माताओं को इस सम्भावना का ज्ञान था। अत उन्होंने सघ के सब राज्यों में आपस में एकरूपता करने का प्रयत्न किया ताकि ससद का महत्व राष्ट्रपति के निर्वाचन में राज्यों की अपेक्षा कम न हो सके तथा समस्त राज्यों और सघ में भी समतुल्यता प्राप्त कराने की व्यवस्था की है ताकि कुछ थोड़े से ही राज्य मिलकर राष्ट्रपति के चुनाव का निर्णय न कर लें। राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध में यह बात स्मरणीय है कि निर्वाचन से उत्पन्न या ससक्त मत शकाओं और विचारों की जाँच और विनिश्चय उच्चतम न्यायालय करेगा और उसका विनिश्चय अन्तिम होगा।[1]

राष्ट्रपति की पदावधि

राष्ट्रपति अपने पद ग्रहण की तारीख से पाँच वर्ष की अवधि तक पद-धारण करेगा। परन्तु कोई व्यक्ति जो राष्ट्रपति के रूप में पद धारण कर रहा है अथवा कर चुका है सविधान के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए, इस पद के लिये पुनर्निर्वाचन का पात्र होगा। अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर वह अपने उत्तराधिकारी के पद-ग्रहण तक पद धारण किये रहेगा अथवा उपराष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा राष्ट्रपति पद त्याग कर सकता है। परन्तु यह आवश्यक है कि इस प्रकार उपराष्ट्रपति को सम्बोधित किसी त्याग-पत्र की सूचना उसके द्वारा लोक-सभा के अध्यक्ष को अविलम्ब दे दी जाये।

राष्ट्रपति पर महाभियोग

राष्ट्रपति को अपने कार्य-काल की समाप्ति से पूर्व भी पद-च्युत किया जा सकता है। सविधान का अतिक्रमण करने पर उस पर ससद द्वारा महाभियोग

---

1 Article 71 Cl. (1)

उम्मीदवार के लिए कम से कम ३५ वर्ष का होना आवश्यक है। परन्तु एक आश्चर्य की बात है। हमारे सविधान के निर्माताओं ने, इतने विस्तृत सविधान में भी जिसमें सन्देह के लिये कम से कम सभावना छोड़ी गई है, राष्ट्रपति के पद के लिये शिक्षा सम्बन्धी अनर्हता का उल्लेख नहीं किया है। यह तो खैर सौभाग्य की बात है कि देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतवर्ष के अत्यन्त योग्य पुरुष इस पद पर आसीन हुए हैं। परन्तु यदि सविधान में इस सम्बन्ध में कोई उपबन्ध कर दिया जाता तो योग्य राष्ट्रपतियों की परम्परा की प्रत्याशा अवश्य हो जाती।

राष्ट्रपति के पद के लिये शर्तें :

राष्ट्रपति न तो ससद के किसी सदन का, और न किसी राज्य के विधान-मण्डल के सदन का सदस्य होगा तथा यदि ससद के किसी सदन का, अथवा किसी राज्य के विधान-मण्डल के सदन का, सदस्य राष्ट्रपति निर्वाचित हो जाये तो यह समझा जायेगा कि उसने उस सदन का अपना स्थान राष्ट्रपति के रूप में अपने पद-ग्रहण की तारीख से रिक्त कर दिया है। दूसरे, राष्ट्रपति अन्य कोई लाभ का पद धारण न करेगा। उसे बिना किराया दिये, अपने पदावासों के उपयोग का हक होगा तथा उस को उन उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों का भी, जो ससद-निर्मित विधि द्वारा निर्धारित किये जाय और जब तक उस विषय में इस प्रकार उपबन्ध नहीं किया जाता तब तक ऐसी उपलब्धियों, भत्तों तथा विशेषाधिकारों का भी, जैसे कि द्वितीय अनुसूची में उल्लिखित हैं, हक होगा।[1] अर्थात् उसे १०,०००) प्रतिमास दिया जायगा और ऐसे भत्ते भी दिये जायेंगे जैसे कि भारत डोमिनियन के गवर्नर-जनरल को इस सविधान से ठीक पहिले दिये थे। साथ ही राष्ट्रपति को ऐसे विशेषाधिकारों का भी हक होगा जैसे कि सविधान के प्रचलित होने से ठीक पहिले गवर्नर जनरल को थे।[2] राष्ट्रपति की ये उपलब्धियाँ और भत्ते आदि उसके पद की अवधि में घटाये नहीं जायेंगे।[3]

राष्ट्रपति-पद की रिक्तता पूर्ति :

राष्ट्रपति की पदावधि की समाप्ति से हुई रिक्तता की पूर्ति के लिये निर्वाचन अवधि-समाप्ति से पूर्व ही पूर्ण कर लिया जाता है। परन्तु मृत्यु, पदत्याग या पद से हटाये जाने अथवा अन्य कारण से हुई उसके पद की रिक्तता की

---

1 Article 59 Cl (1) (2) & (3)
2 Schedule II, part 1 Cl (1) (2) & (3)
3 Article 59 Cl (4)

पूर्ति के लिए निर्वाचन, रिक्तता होने की तारीख के पश्चात् यथा सम्भव शीघ्र और हर अवस्था में छः मास बीतने के पहिले किया जायेगा, तथा रिक्तता-पूर्ति के लिये निर्वाचित व्यक्ति पदावधि सम्बन्धी उपबन्धों के अधीन रहते हुए अपने पद-ग्रहण की तारीख से पाँच वर्ष की पूरी अवधि के लिए पद धारण करने का हकदार होगा।[1]

राष्ट्रपति की कार्य-शक्ति

राष्ट्रपति की शक्तियों का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। उसे विविध प्रकार की शक्तियाँ दी गई हैं। सुविधा के लिए इनका विभाजन पाँच भागों में किया जा सकता है—कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ, विधायिनी शक्तियाँ, न्याय-शक्तियाँ, वित्तीय शक्तियाँ एव आकस्मिकता सम्बन्धी शक्तियाँ। इनका विवरण इस प्रकार है।

कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ

सविधान में यह स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दिया गया है कि सघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी और वह इसका प्रयोग सविधान के अनुसार या तो स्वय और या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करेगा। इस उपबन्ध पर बिना प्रतिकूल प्रभाव डाले सघ के रक्षा-बलों का सर्वोच्च समादेश राष्ट्रपति में निहित होगा और उसका प्रयोग विधि से विनियमित होगा। परन्तु राष्ट्रपति की इन शक्तियों के दो अपवाद हैं। प्रथम यह है कि जो कृत्य किसी वर्तमान विधि ने किसी राज्य की सरकार अथवा अन्य प्राधिकारी को दिये हैं वे कृत्य राष्ट्रपति को हस्तान्तरित किये हुए नहीं समझे जायेंगे। दूसरे, राष्ट्रपति के अतिरिक्त अन्य प्राधिकारियों को विधि द्वारा कृत्य देने में ससद् को बाधा न होगी।[2] सघ के रक्षा-बलों के प्रधान की हैसियत से राष्ट्रपति को युद्ध एव सन्धि की घोषणा करने का अधिकार होगा। अमेरिका के प्रेसीडेण्ट के समान, राष्ट्रपति के सधि घोषणा के अधिकार पर ससद् के किसी सदन की स्वीकृति का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है।

इसके अतिरिक्त, भारत की समस्त कार्यपालिका कार्यवाही राष्ट्रपति के नाम से की हुई कही जायेगी। राष्ट्रपति भारत सरकार का कार्य अधिक सुविधा पूर्वक किये जाने के लिये तथा मन्त्रियों में कार्य के बँटवारे के लिये

1 Article 62 Cl (1) & (2)
2 Article 53 (1) (2) & (3)

नियम बनायेगा ।[1] प्रधानमंत्री का यह कर्तव्य होगा कि वह संघ कार्यों के प्रशासन सम्बन्धी मंत्रि-परिषद् के समस्त विनिश्चयों की सूचना राष्ट्रपति को पहुँचाये और प्रशासन सम्बन्धी तथा विधान-विषयक प्रस्थापनाओं सम्बन्धी जिस जानकारी को राष्ट्रपति मंगावे उस को दें।[2] राष्ट्रपति के नाम से दिये और निष्पादित आदेशों और अन्य लिखितों का प्रमाणीकरण उस रीति से किया जायेगा जो राष्ट्रपति द्वारा बनाये जाने वाले विषयों में उल्लिखित हो।[3]

कार्यपालिका के प्रधान की हैसियत से राष्ट्रपति अनेक महत्वपूर्ण संघीय पदों पर व्यक्तियों की नियुक्ति भी करना है। संविधान में यह निर्दिष्ट कर दिया गया है कि राष्ट्रपति प्रधान-मंत्री की नियुक्ति करेगा और उसकी मंत्रणा से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करेगा। राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त मंत्री अपने पद धारण करेंगे। किसी मंत्री के अपने पद-ग्रहण करने से पहिले राष्ट्रपति उससे संविधान की तृतीय अनुसूची में इसके लिये दिये हुए प्रपत्रों के अनुसार पद की तथा गोपनीयता की शपथें करायेगा।[4] इंग्लैंड के शासक तथा अमेरिका के प्रेसीडेण्ट को भी प्रमुख पदों पर नियुक्तियाँ करने की शक्ति प्राप्त है। अमेरिका में प्रेसीडेण्ट कार्यकारिणी विभागों के प्रमुखों को चुनता है और संघ के महत्वपूर्ण पदों पर व्यक्तियों की नियुक्ति करता है। परन्तु यह स्मरणीय है कि कार्यकारिणी विभागों के हजारों कर्मचारियों की नियुक्तियाँ अब सिविल सर्विस द्वारा चुन कर की जाती हैं। इसकी व्यवस्था के अनुसार लोगों को एक परीक्षा पास करनी पड़ती है जिससे यह प्रकट हो कि वे जिस पद पर नियुक्त होना चाहते हैं, वे उसके योग्य हैं। यह सब होते हुए भी प्रेसीडेण्ट को स्वेच्छा से व्यक्तियों को कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य प्रदान करने का अधिकार है। लेकिन प्रेसीडेण्ट द्वारा इस प्रकार की गई नियुक्तियों के लिये सेनेट की स्वीकृति आवश्यक है। हमारे राष्ट्रपति की इस शक्ति पर इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

विधायिनी शक्तियाँ :

राष्ट्रपति को विधायिनी सभा से सम्बन्धित विस्तृत शक्तियाँ दी गई हैं। उसे अधिकार है कि संसद के सदनों को अथवा किसी सदन को ऐसे समय तथा स्थान पर जैसा वह उचित समझे, अधिवेशन के लिये आहूत करे अथवा उनका सत्रावसान करे। वह लोक-सभा का विघटन भी कर सकेगा। परन्तु

---

1 Article 77
2 Article 78
3 Article 77 Cl (2)
4 Article 75 Cl. (1) (2) & (4)

राष्ट्रपति की इन शक्तियों पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया है कि संसद के सदनों को प्रति वर्ष कम से कम दो बार अधिवेशन के लिये आहूत किया जायेगा तथा उनके एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा आगामी सत्र की अन्तिम बैठक के लिये नियुक्त तारीख के बीच ६ मास का अन्तर न होगा।[1]

राष्ट्रपति संसद के किसी सदन को, अथवा साथ सम्भवत दोनों सदनों को सम्बोधित कर सकेगा तथा इस प्रयोजन के लिये सदस्यों की उपस्थिति की अपेक्षा कर सकेगा। प्रत्येक सत्र के आरम्भ में एक साथ समवेत संसद के दोनों सदनों को वह सम्बोधन करेगा तथा संसद को उसके आह्वान का कारण बतायेगा।[2]

राष्ट्रपति संसद में उस समय लम्बित किसी विधेयक विषयक अथवा अन्य विषयक सन्देश संसद के किसी सदन को भेज सकेगा तथा जिस सदन को कोई सन्देश इस प्रकार भेजा गया हो वह सदन उस सन्देश द्वारा अपेक्षित विचारणीय विषय पर यथा सुविधा शीघ्रता से विचार करेगा।[3]

जब संसद के दोनों सदनों द्वारा कोई विधेयक पास कर दिया गया हो तब वह राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये भेजा जायगा। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह इस पर अपनी अनुमति दे अथवा रोक लेने की घोषणा करे। परन्तु अनुमति के लिये रोके गये विधेयक को, यदि वह धन विधेयक नहीं है, राष्ट्रपति सदनों को सन्देश के साथ लौटा सकेगा कि वे उस विधेयक पर अथवा उसके किसी उल्लिखित उपबन्धों पर पुनर्विचार करें तथा विशेषतः किन्हीं ऐसे संशोधनों के पुरःस्थापन की वाञ्छनीयता पर विचार करें जिनकी उसने अपने सन्देश में सिफारिश की हो। जब विधेयक इस प्रकार लौटा दिया गया हो तब सदन विधेयक पर तदनुसार विचार करेंगे और यदि वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा संशोधन-सहित या रहित पुनः पास हो जाता है और राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिये रखा जाता है तो वह उस पर अनुमति न रोकेगा।[4]

संसद के विश्रान्ति-काल में यदि किसी समय का समाधान हो जाये कि तुरन्त कार्यवाही करने के लिये उसे बाधित करने वाली परिस्थितियाँ वर्तमान हैं तो वह ऐसे अध्यादेशों (Ordinance) का प्रख्यापन कर सकेगा जो उसे परिस्थितियों में आवश्यक प्रतीत हों। इस प्रकार प्रख्यापित अध्यादेश का वही

1 Article 85 Cl. (1) & (2)
2 Article 86 Cl (1) & 87 Cl. (1)
3 Article 86 Cl (2)
4 Article 111

बल और प्रभाव होगा जो ससद के अधिनियम का होता है। परन्तु प्रत्येक अध्यादेश दोनों सदनों के समक्ष रखा जायेगा और समद के पुन॰ समवेत होने से ६ सप्ताह की समाप्ति पर प्रवर्तन में न रहेगा। यदि ६ सप्ताह की अवधि से पूर्व ही ससद के दोनों सदन उसके निरनुमोदन के सकल्प पास कर देते हैं तो इनमें से दूसरे संकल्प के पास होने पर वह अध्यादेश समाप्त हो जायगा। इस सम्बन्ध में यह व्याख्या भी स्मरणीय है कि जब ससद के सदन भिन्न-भिन्न तारीखों में पुन॰ समवेत होने के लिये आहूत किये जाते हैं तो ६ सप्ताह की कालावधि की गणना उन तारीखों में से पिछली तारीख से की जायेगी। राष्ट्रपति अध्यादेश को किसी समय वापिस ले सकता है। परन्तु यदि ऐसा अध्यादेश कोई इस प्रकार का उपबन्ध करता है जिसे अधिनियम करने की शक्ति स्वय ससद को सविधान के अन्तर्गत नहीं है तो वह आरम्भ से ही शून्य होगा।[1]

राज्यों के सम्बन्ध में भी राष्ट्रपति को कुछ विधायिनी शक्तियाँ दी गई हैं। यथा, राज्यपाल द्वारा जब कोई विधेयक राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर लिया जायेगा तब राष्ट्रपति यह घोषित करेगा कि वह विधेयक पर या तो सम्मति देता है या सम्मति रोक लेता है। राष्ट्रपति राज्यपाल को यह आदेश दे सकेगा कि वह विधेयक को राज्य के विधान-मण्डल के सदनों को पुनर्विचार के लिये अथवा सशोधन के प्रर॰स्थापन की वाछनीयता पर विचार करने के लिये लौटा दे। इस प्रकार लौटा दिये गये विधेयक पर ६ महीने की कालावधि के अन्दर सदन या सदनों द्वारा फिर से विचार किया जायेगा और सशोधन-सहित या रहित दोबारा पास हो जाने पर राष्ट्रपति के समक्ष उसके विचार के लिये पुन उपस्थित किया जायेगा।[2] राष्ट्रपति के अनुदेशों के बिना राज्यपाल ऐसे अध्यादेश प्रस्थापित न करेगा जिनके उपबन्धों से सम्बन्धित किसी विधेयक के लिये राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता होगी।[3] राष्ट्रपति के अनुदेशों के अनुसरण में राज्यपाल द्वारा प्रस्थापित आदेश राज्य के विधानमण्डल का ऐसा अधिनियम समझा जायेगा जो राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित किया गया था तथा उसके द्वारा अनुमत हो चुका है।[4]

राष्ट्रपति को यह भी अधिकार है कि वह ससद के सदनों में कुछ विशेष वर्ग के व्यक्तियों का नाम-निर्देश करे। राज्य-परिषद् में राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्देशित किये जाने वाले बारह सदस्य होंगे जिनको साहित्य, विज्ञान, कला

---

1 Article 123 Cl. (1), (2) & (3)
2 Article 201 3 Article 213 Proviso Cl (1)
4 Article 213 Proviso Cl. (3)

और सामाजिक सेवा के विषयों के वारे में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव होगा।[1] यदि लोक-सभा में राष्ट्रपति की राय में आंग्ल-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है तो वह उस समुदाय के दो से अनधिक सदस्यों का नाम-निर्देशन कर सकेगा।[2]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राष्ट्रपति की विधायिनी शक्तियों का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। इङ्गलैण्ड के शासक के समान वह ससद के सदनों का आह्वान, और सत्रावसान तथा लोक-सभा का विघटन कर सकता है। परन्तु भारत में निम्न-सदन के विघटन का भावी स्वरूप अभी निश्चित नहीं है। जहाँ तक इङ्गलैण्ड की शासक की शक्ति का प्रश्न है, उसने कुछ अवसरों पर तथा, लायड जार्ज के बजट तथा पार्लियामेन्ट नियम (१६११) के सम्बन्ध में ससद का शान्ति पूर्ण विघटन (Peaceful Dissolution) किया है लेकिन भारत में ससद के विघटन की परम्परा का निश्चय और निर्माण भविष्य ही करेगा। यह सत्य है कि राज्य के कार्य-सञ्चालन में सविधान के अतिरिक्त वैधानिक परम्पराओं का बड़ा महत्व होता है परन्तु वे समय के साथ-साथ वैधानिक अनुभवों द्वारा निश्चित होती हैं। इङ्गलैण्ड का शासक ससद को सम्बोधन करने का अधिकार रखते हुए भी उसका उपयोग नहीं करता। यह भी वैधानिक परम्परा का एक उदाहरण है। राष्ट्रपति की ससद को सन्देश भेजने की शक्ति के वारे में भी यही कहा जा सकता है। यह निश्चित नहीं है ऐसे सन्देशों का प्रभाव अमरीका के प्रेसीडेण्ट द्वारा काग्रेस को भेजे गये सन्देशों के समान होगा अथवा नहीं। इसका भी निर्णय भविष्य ही करेगा।

न्याय-शक्तियाँ :

उच्चतम न्यायालय के, तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों के, ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करके, जिनसे इस प्रयोजन के लिये परामर्श करना राष्ट्रपति उचित समझे, राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधि-पत्र द्वारा उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करेगा।[3] जब भारत के मुख्य न्यायाधिपति का पद रिक्त हो अथवा वह अनुपस्थिति या अन्य कारणों से अपने पद के कर्तव्यों का पालन करने में असमर्थ हो तो राष्ट्रपति न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों में से एक को उस पद के कर्तव्यों का पालन करने के लिये नियुक्त करेगा।[4] भारत के महान्यायवादी (Attorney-General) की नियुक्ति

1 Article 80 Cl (1) & (3)
2 Article 331
3 Article 124 Cl. (2)
4 Article 126

भी राष्ट्रपति करेगा। वह राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त पद धारण करेगा और ऐसा पारिश्रमिक पायेगा जैसा राष्ट्रपति निर्धारित करे।[1]

राष्ट्रपति को यह भी शक्ति दी गई है कि वह निम्नलिखित स्थितियों में सिद्ध-दोष किसी व्यक्ति के दण्ड को क्षमा, प्रविलम्बन, विराम या परिहार करे अथवा दण्डादेश का निलम्बन, परिहार या लघूकरण करे :—

(१) उस अवस्था में, जब कि दण्ड अथवा दण्डादेश सेना-न्यायालय ने दिया हो। परन्तु विधि द्वारा संघ के सशस्त्र बलों के किसी पदाधिकारी की सेना न्यायालय द्वारा दण्डादेश के निलम्बन, परिहार या लघूकरण की शक्ति पर इस उपबन्ध का प्रभाव नहीं होगा।

(२) उन सब अवस्थाओं में जिनमें कि दण्ड अथवा दण्डादेश ऐसे विषय सम्बन्धी किसी विधि के विरुद्ध अपराध के लिये दिया गया हो जिस विषय तक संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है,

(३) उन सब अवस्थाओं में जिनमें दण्डादेश मृत्यु का हो, परन्तु इस उपबन्ध द्वारा तत्समय प्रवृत्त विधि के अधीन राज्य के राज्यपाल या राज-प्रमुख द्वारा प्रयोग की जाने वाली मृत्यु-दण्डादेश के निलम्बन, परिहार या लघूकरण की शक्ति पर कोई बाधा नहीं पहुँचेगी।[2]

इङ्गलैंड के शासक तथा अमेरिका के प्रेसीडेण्ट को भी उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्तियों तथा अपराधियों को क्षमा करने के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण अधिकार हैं। अमेरिका में जो व्यक्ति कोई संघीय कानून तोड़ने के अपराध में दण्डित किया गया हो, उसे अभियोगारोपण के मामले को छोड़कर प्रेसीडेण्ट पूर्ण अथवा सशर्त क्षमा प्रदान कर सकता है। वह किसी अपराध के लिए दिये हुए दण्ड में कारावास का काल अथवा जुर्माने की मात्रा कम कर सकता है। वह मृत्यु-दण्ड की आज्ञा का पालन विलम्बित कर सकता है। हमारे राष्ट्रपति की शक्तियाँ भी इस सम्बन्ध में, अधिकांशत, इसी प्रकार की हैं।

वित्तीय शक्तियाँ

वित्त के क्षेत्र में भी राष्ट्रपति की शक्तियाँ महत्वपूर्ण हैं। प्रत्येक वित्तीय वर्ष के बारे में संसद के दोनों सदनों के समक्ष राष्ट्रपति भारत सरकार की उस वर्ष

---

1 Article 76Cl (1) & (4)
2 Article 72 Cl (1) (2) & (3)

के लिए प्राक्कलित प्राप्तियों और व्यय का विवरण रखवायेगा जिसे संविधान में "वार्षिक-वित्त-विवरण" के नाम से निर्दिष्ट किया गया है।[1]

यदि संविधान के उपबन्धों के अनुसार निर्मित किसी विधि द्वारा किसी विशेष सेवा पर, चालू वित्तीय वर्ष के लिए व्यय किये जाने के लिये प्राधिकृत कोई राशि उस वर्ष के प्रयोजनों के लिए अपर्याप्त पाई जाती है अथवा जब उस वर्ष के वार्षिक वित्त-विवरण में अपेक्षित न की गई किसी नई सेवा पर अनुपूरक अथवा अपर व्यय की आवश्यकता पैदा हो गई है, अथवा किसी वित्तीय वर्ष में किसी सेवा पर, उस सेवा और उस वर्ष के लिए अनुदान की गई राशि से अधिक कोई धन व्यय हो गया है तो राष्ट्रपति यथास्थिति संसद के दोनों सदनों के समक्ष उस व्यय की प्राक्कलित की गई राशि को दिखाने वाला दूसरा विवरण रखवायेगा अथवा लोक-सभा में ऐसी अधिकता के लिए माँग उपस्थित करायेगा।[2]

संविधान में परिभाषित धन विधेयक या संशोधन राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना पुरःस्थापित या प्रस्तावित न किया जायेगा तथा ऐसे उपबन्ध करने वाला विधेयक राज्य-परिषद् में पुरःस्थापित न किया जायेगा। जिस विधेयक के अधिनियमित किये जाने और परिवर्तन में लाये जाने पर भारत की संचित विधि से व्यय करना पड़ेगा वह विधेयक संसद के किसी सदन द्वारा तब तक पास न किया जावेगा जब तक कि ऐसे विधेयक पर विचार करने के लिए उस सदन से राष्ट्रपति ने सिफारिश न की हो।[3] राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना किसी भी अनुदान की माग न की जायेगी।[4]

संसद विधि द्वारा, अग्रदाय के रूप में एक "आकस्मिकता-निधि" की स्थापना कर सकेगी जिसमें विधि द्वारा निर्धारित राशियाँ समय-समय पर डाली जायेंगी और जब तक अनपेक्षित व्यय संसद द्वारा, विधि से प्राधिकृत न हो तब तक ऐसी निधि में से व्यय की पूर्ति के लिए अग्रिम धन देने के लिए राष्ट्रपति को योग्य बनाने के हेतु उक्त निधि राष्ट्रपति के हाथ में रखी जायेगी।[5]

कोई विधेयक या संशोधन राज्यों के हित के सम्बन्ध कर या शुल्क को आरोपित या परिवर्तित करता है, अथवा उन सिद्धान्तों को प्रभावित करता है जिनसे संविधान के उपबन्धों के अधीन राज्यों को धन वितरणीय हैं या हो सकेंगे अथवा जो सघ के प्रयोग के लिये कोई अधिकार आरोपित करता है, राष्ट्रपति

1 Article 112 Cl. (1) 2 Article 115 Cl (1)
3 Article 117 Cl. (1) & (3)
4 Article 113 Cl. (3) 5 Article 267 Cl. (1)

की सिफारिश के बिना संसद् के किसी सदन में न तो पुरःस्थापित और न प्रस्तावित किया जायेगा ।[1]

संविधान के प्रारम्भ से दो वर्ष के भीतर और तत्पश्चात् प्रत्येक पंचम वर्ष की समाप्ति पर, अथवा उससे पहिले ऐसे समय पर जिसे राष्ट्रपति आवश्यक समझे, राष्ट्रपति आदेश द्वारा एक वित्त-आयोग गठित करेगा । अन्य कर्त्तव्यों के अतिरिक्त, वित्त-आयोग राष्ट्रपति द्वारा सौंपे हुए विषयों के बारे में राष्ट्रपति को सिफारिश करेगा ।[2] इस प्रकार राष्ट्रपति को वित्त के क्षेत्र में भी अनेक शक्तियाँ प्राप्त हैं ।

आकस्मिकता-सम्बन्धी शक्तियाँ

स्वतन्त्रता मिलने से पहिले भारत में प्रजातन्त्र-शासन की वैधानिक परम्परा नहीं थी । अतः संविधान के निर्माताओं ने यह उचित अनुमान किया कि आपत्तिकाल की विशेष परिस्थितियों में साधारण वैधानिक रूप से राज्य कार्य चलाना संभव नहीं होगा । इनका मुकाबला करने के लिये उन्होंने राष्ट्रपति को आकस्मिकता सम्बन्धी शक्तियों से सुसज्जित करना आवश्यक समझा । दूसरे, वे यह भी जानते थे कि संघात्मक संविधान में केन्द्र तथा राज्यों के बीच शक्तियों के विभाजन के कारण कोई ऐसी स्थिति भी आ सकती है जब कि राष्ट्रपति के लिये कुछ विशेष शक्तियों के प्रयोग करने की आवश्यकता हो जाये । अतः इस कारण से भी उन्होंने राष्ट्रपति के लिये इन विशेष शक्तियों की व्यवस्था की । ये शक्तियाँ कुछ-कुछ उसी प्रकार हैं जैसी कि भारत शासन-अधिनियम सन् १६३५ के अन्तर्गत वाइसरायों को 'विशेष शक्तियाँ एवं असाधारण अधिकार (Specil Powers & Presigetives) के रूप में मिली हुई थीं ।

संविधान में तीन प्रकार की आकस्मिकताओं का अनुमान किया गया है । ये हैं—(१) युद्ध या वाह्य आक्रमण, अथवा आभ्यन्तरिक अशान्ति या उसके खतरे की आकस्मिकता, (२) राज्यों में सांविधानिक तंत्र के विफल हो जाने की आकस्मिकता तथा (३) वित्तीय आकस्मिकता । इन आकस्मिकताओं के निवारण के लिये राष्ट्रपति को जो विस्तृत अधिकार दिये गये हैं वे निम्नलिखित हैं ।

---

1 Article 264 Cl (1)
2 Article 31 Cl 280 (1) & (3)

(१) युद्ध या वाह्य आक्रमण अथवा आभ्यन्तरिक अशान्ति की आकस्मिकता :

यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाये कि गम्भीर आपात विद्यमान है जिससे कि युद्ध या वाह्य आक्रमण या आभ्यन्तरिक-अशान्ति से भारत या उसके राज्यक्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा सकट में है तो वह आयात की उद्घोषणा कर सकेगा। यदि उसे यह निश्चय हो जाये कि युद्ध या वाह्य आक्रमण या आभ्यन्तरिक अशान्ति का सकट सन्निकट है तो चाहे वास्तव में युद्ध अथवा ऐसा कोई आक्रमण या अशान्ति नहीं हुई हो और भारत की अथवा उसमें किसी भाग की सुरक्षा सकट में है तो उस स्थिति में भी वह आपात की उद्घोषणा कर सकता है।[1] ऐसे समय में प्रत्येक राज्य का सरक्षण करना तथा यह सुनिश्चित करना कि प्रत्येक राज्य की सरकार सविधान के अनुसार चलाई जाये, सघ का कर्त्तव्य होगा।[2]

इस उपबन्ध के अनुसार की गई आपात की उद्घोषणा बाद में एक अन्य उद्घोषणा द्वारा प्रति सहृत की जा सकेगी। इसे ससद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जायेगा और यदि दो महीने की समाप्ति से पहिले ससद् के दोनों सदनों के सकल्पों द्वारा इसे स्वीकृति नहीं मिल जायगी तो इस कालावधि की समाप्ति पर वह प्रवर्तन में नहीं रहेगी।

परन्तु यदि ऐसी उद्घोषणा उस समय निकाली गई है जबकि लोक सभा विघटित हो, अथवा उद्घोषणा के पश्चात् दो माह के अन्दर विघटित हो गई हो और राज्य-परिषद् में उद्घोषणा का अनुमोदन करने वाला सकल्प पास हो चुका हो तथा लोक-सभा ऐसा सकल्प पास न कर पाई हो, तो उद्घोषणा उस तारीख से, जिसमें नई लोक सभा अपने पुनर्गठन के पश्चात् प्रथम बार बैठती है, तीस दिन की समाप्ति पर प्रवर्तन में न रहेगी। लेकिन यदि इस कालावधि की समाप्ति से पहिले लोक-सभा से अनुमोदन का सकल्प पास हो जाता है तो उद्घोषणा जारी रहेगी।[3]

जब आपात की ऐसी उद्घोषणा प्रवर्तन में होगी तब देश का सघात्मक सविधान लगभग एकात्मक हो जायगा क्योंकि उसके निम्नलिखित परिणाम होंगे :

---

1 Article 352 Cl (1) & (3) 2 Article 355
3 Article 352 Cl (2)

(१) संविधान में किसी बात के होते हुए भी, संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को इस विषय में निर्देश देने तक होगा कि वह राज्य अपनी कार्यपालिका शक्ति का किस रीति से प्रयोग करे।

(२) संसद की शक्ति के अन्तर्गत ऐसी विधियाँ बनाने की शक्ति भी होगी, जो उस विषय के बारे में संघ अथवा संघ के अधिकारियों को शक्तियाँ देती तथा कर्तव्य सौंपती हो अथवा शक्तियों का दिया जाना और कर्तव्यों का सौंपा जाना प्राधिकृत करती हो, चाहे फिर वह विषय ऐसा हो जो संघ-सूची में प्रमाणित नहीं है।[1]

(३) राष्ट्रपति आदेश द्वारा निर्देश दे सकेगा कि संविधान में राजस्वों के वितरण सम्बन्धी सब या कोई उपबन्ध, आदेश में उल्लिखित कालावधि में, किन अपवादों या रूपभेदों के अधीन प्रभावी होंगे। आदेश में उल्लिखित यह कालावधि किसी अवस्था में उस वित्तीय वर्ष की समाप्ति से आगे विस्तृत नहीं होगी जिसमें कि उद्घोषणा का प्रवर्तन नहीं रहता है। और ऐसा आदेश उसके दिये जाने के पश्चात् यथा सम्भव शीघ्र संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जायेगा।[2]

(४) संविधान के अनुच्छेद १९ द्वारा दिये गए निम्नलिखित मूल-अधिकार निलम्बित कर दिये जायेंगे :

(क) वाक् स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अधिकार।

(ख) शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का अधिकार,

(ग) सभा या संघ बनाने का अधिकार,

(घ) भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र अबाध सञ्चरण का अधिकार,

(ङ) भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने का अधिकार।

(च) सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का अधिकार, तथा

(छ) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने का अधिकार।[3]

(५) राष्ट्रपति आदेश द्वारा घोषित कर सकेगा कि मूल-अधिकारों में से किन अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिये न्यायालय के प्रचालन का अधिकार होगा। वह आदेश में उल्लिखित अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिये किसी न्यायालय में लम्बित सब कार्यवाहियों को, उद्घोषणा के प्रवर्तन की कालावधि

1 Article 353 2 Article 354 Cl (1) & (2)
3 Article 358

तक अथवा उससे कम समय के लिये स्थगित कर सकता है। इस प्रकार का आदेश समस्त भारत में अथवा उसके किसी भाग पर विस्तृत हो सकेगा परन्तु उसके दिये जाने के पश्चात् यथा-सम्भव शीघ्र संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जायेगा।[1]

(२) राज्यों मे सांविधानिक तंत्र के विफल हो जाने की आकस्मिकता :

यदि किसी राज्य के राज्यपाल या राज्यप्रमुख से प्रतिवेदन मिलने पर या अन्य किसी प्रकार से राष्ट्रपति को यह निश्चय हो जाये कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जिसमें कि उस राज्य का शासन संविधान के उपबन्ध के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है तो, राष्ट्रपति इस आशय की एक उद्घोषणा कर सकता है। यदि राज्य संविधान के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में दिये गए किन्हीं निर्देशों का अनुवर्तन करने में या उनको प्रभावी करने में असफल होगा तो राष्ट्रपति यह मान लेगा कि ऐसी अवस्था उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य का शासन उपबन्धों के अनुरूप नहीं चलाया जा सकता।[2] इस उद्घोषणा के निम्नलिखित परिणाम होंगे :—

(१) राष्ट्रपति उस राज्य की सरकार के सब या कोई कृत्य, और राज्यपाल या राजप्रमुख में, अथवा राज्य के विधान-मण्डल को छोड़कर राज्य के किसी निकाय या अधिकारी में निहित या उनके द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली सब या कोई शक्तियाँ अपने हाथ में ले सकेगा।

(२) राष्ट्रपति घोषित कर सकेगा कि राज्य के विधान-मण्डल की शक्तियाँ संसद् के अधिकार के द्वारा या अधीन प्रयुक्त की जायेंगी।

(३) राष्ट्रपति राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी से सम्बन्धित संविधान के किन्हीं उपबन्धों के प्रवर्तन को पूर्णतः या अंशत. स्थगित करने के लिये ऐसे प्रासंगिक और आनुषंगिक उपबन्ध बना सकेगा जैसे कि उसको उद्घोषणा के उद्देश्य को प्रभावी करने के लिये आवश्यक या वाञ्छनीय दिखाई दें।

परन्तु राष्ट्रपति को यह अधिकार न होगा कि वह उच्च न्यायालय में निहित या उसके द्वारा प्रयोग की जाने वाली शक्तियों में से किसी को अपने हाथ में ले अथवा उच्च न्यायालयों से सम्बद्ध किन्हीं उपबन्धों को पूर्णतः या अंशतः स्थगित कर दे।

---

1 Article 359 Cl. (1) (2) & (3)
2 Article 365

ऐसी उद्घोषणा बाद में की गई दूसरी उद्घोषणा द्वारा प्रतिसंहृत या परिवर्तित की जा सकेगी। यह संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जायेगी और यदि दो महीने के अन्दर दोनों सदनों द्वारा अनुमोदित नहीं हो पाती तो, इस कालावधि की समाप्ति पर प्रभावशून्य हो जायगी।

परन्तु यदि ऐसी उद्घोषणा उस समय निकाली गई है जब कि लोक-सभा का विघटन हो चुका है अथवा वह उद्घोषणा के पश्चात् दो माह के अन्दर बिना उसका अनुमोदन किये विघटित हो गई है और राज्य-परिषद् ने उसके अनुमोदन का संकल्प पास कर दिया है तो नई लोक-सभा की प्रथम बैठक की तारीख से तीस दिन के अन्दर वह उद्घोषणा समाप्त हो जायेगी। यदि इस अवधि की समाप्ति से पहिले लोक सभा ने संकल्प द्वारा उसका अनुमोदन कर दिया है तो वह जारी रहेगी।

संसद के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदित हो जाने पर उदघोषणा के प्रवर्तन की अवधि ६ मास की हो जायगी। इस प्रकार ६ महीने के लिए अनुमोदन के संकल्प बार-बार पास करके इस अवधि को बढाया जा सकता है अस्तु किसी भी अवस्था में यह समय तीन वर्ष से अधिक नहीं बढाया जायेगा।

परन्तु यह और भी कि यदि लोक-सभा उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाये रखने का अनुमोदन करने वाला संकल्प पास किये बिना ६ मास की ऐसी कालावधि में विघटित हो जाती है और राज्य-परिषद में ऐसा संकल्प पास हो जाता है तो नई लोक-सभा की प्रथम बैठक की तारीख से तीस दिन के पश्चात् उद्घोषणा प्रभावशून्य हो जायेगी यदि उस कालावधि से पूर्व ही लोक-सभा उसके अनुमोदन का प्रस्ताव पास न करदे।[1]

यदि ऐसी उद्घोषणा द्वारा यह घोषित किया गया है कि राज्य के विधान-मण्डल की शक्तियाँ संसद के प्राधिकार के द्वारा या अधीन प्रयोग की जायेंगी तो ·

(१) संसद को अधिकार होगा कि राज्य के विधान मण्डल की विधि बनाने की शक्ति राष्ट्रपति को दे दे तथा उसे अधिकृत करदे कि वह ऐसी दी हुई शक्ति किसी अन्य अधिकारी को, ऐसी शर्तों के अधीन जिन्हे वह आरोपित करना चाहे, जिन्हे प्रत्यायोजन करने के लिए देदे।

(२) संसद अथवा राष्ट्रपति एवं उससे अधिकार प्राप्त किसी अन्य प्राधिकारी को यह अधिकार होगा कि संघ अथवा उसके पदाधिकारियों और

---

1 Article 356

प्राधिकारियों को इस विषय में शक्ति प्रदान करे और उनके कर्तव्य आरोपित करे अथवा उनको शक्ति देने तथा कर्तव्य आरोपित करने के लिये प्राधिकृत करे।

(३) राष्ट्रपति, यदि लोक-सभा सत्र में न हो तो व्यय के लिये संसद की मंजूरी स्थगित रहने तक राज्य की संचित निधि में से ऐसे व्यय को प्राधिकृत करने के लिये सक्षम होगा।

राज्य के विधान-मण्डल की शक्ति के प्रयोग में संसद द्वारा अथवा राष्ट्रपति द्वारा या उससे अधिकार-प्राप्त किसी अन्य प्राधिकारी द्वारा निर्मित विधि, उद्घोषणा की समाप्ति के पश्चात् एक वर्ष के अन्दर प्रभाव शून्य हो जायेगी। यदि समुचित विधान-मण्डल ने अधिनियम द्वारा उस अवधि के पहिले ही उसे निरसित कर दिया है या रूपभेदों सहित या वैसे ही अधिनियमित कर दिया है तो उसका रूप दूसरा होगा।[1]

(३) वित्तीय आकस्मिकता :

यदि राष्ट्रपति का यह निश्चित मत है कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जिससे भारत या उसके राज्य-क्षेत्र के किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व या प्रत्यय संकट में है तो वह उद्घोषणा द्वारा उस बात की घोषणा करेगा।

ऐसी उद्घोषणा बाद में की गई, दूसरी उद्घोषणा द्वारा समाप्त की जा सकेगी। यह संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखी जायेगी और दो महीने के अन्दर उनके द्वारा अनुमोदित न होने पर इस कालावधि की समाप्ति पर प्रभावशून्य हो जायेगी।

यदि ऐसी उद्घोषणा उस समय निकाली गई है जबकि लोक-सभा विघटित हो अथवा वह २ महीने की कालावधि में उद्घोषणा के प्रवृत्त बने रहने के अनुमोदन के संकल्प को पास किये बिना विघटित हो गई हो और राज्य-परिषद ने ऐसा संकल्प कर दिया हो तो, ऐसी उद्घोषणा लोक-सभा की प्रथम बैठक की तारीख से तीस दिन की समाप्ति पर समाप्त हो जायेगी। यदि लोक-सभा ने इस कालावधि के अन्दर अनुमोदन का संकल्प पास कर दिया हो तो वह जारी रहेगी।

वित्तीय आकस्मिकता में की गई उद्घोषणा का परिणाम यह होगा कि (१) संघ की कार्यपालिका शक्ति किसी राज्य को वित्तीय औचित्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का पालन करने के लिये निर्देश देने तक, जैसे कि निर्देशों में

---

1 Article 357

उल्लिखित हों तथा अन्य ऐसे निर्देश देने तक, जिन्हें राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिये देना आवश्यक और समुचित समझे, विस्तृत हो जायेगी। इन निदेशों में (अ) राज्यों के कार्यों के सम्बन्ध में सेवा करने वाले व्यक्तियों के सब या किन्हीं वर्गों के वेतनों और भत्तों में कमी की अपेक्षा करने वाले तथा (आ) धन-विधेयकों अथवा राज्यपाल की सिफारिश की अपेक्षा रखने वाले अन्य विधेयकों को राज्य के विधान-मण्डल द्वारा उनके पास किये जाने के पश्चात् राष्ट्रपति के विचार के लिये रक्षित करने के लिये उपबन्ध भी हो सकेंगे।

(२) राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के सहित, संघ के कार्यों के सम्बन्ध में सेवा करने वाले व्यक्तियों के सब या किसी वर्ग के वेतनों और भत्ता में कमी के लिये निर्देश निकालने के लिये सक्षम होगा।[1]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राष्ट्रपति को विस्तृत शक्तियाँ मिली हुई हैं। परन्तु जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, यह निश्चित नहीं है कि उसके पद का महत्व संसार के अन्य देशों के प्रधानों की तुलना में क्या होगा। इस निश्चय के लिये अभी समय लगेगा। यद्यपि राष्ट्रपति की स्थिति इङ्गलैण्ड के शासक तथा अमेरिका के प्रेसीडेण्ट से मिलती जुलती है, फिर भी यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता है कि इन दोनों में से किस देश की परम्परा से अधिक समानता रखने वाली परम्परा का हमारे देश में उद्भव होगा।

उपराष्ट्रपति

भारतीय संघ के लिये एक उपराष्ट्रपति की भी व्यवस्था की गई है। उसका निर्वाचन संयुक्त अधिवेशन में समवेत संसद के दोनों सदनों के सदस्यों द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व-पद्धति द्वारा होगा। राष्ट्रपति के निर्वाचन के समान यह निर्वाचन भी एकल-संक्रमणीय मत द्वारा होगा तथा मतदान गूढ़ शलाका किया जायगा।[2]

उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के लिये अर्हताएँ ·

कोई व्यक्ति उपराष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र न होगा, जब तक कि वह (१) भारत का नागरिक न हो, (२) पैंतीस वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो, तथा (३) राज्य-परिषद के लिये सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता न

---

1 Article 360 2 Article 63 and (66) Cl (1)

रखता हो। यदि कोई व्यक्ति, जो भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा इन सरकारों में से किसी से नियन्त्रित किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण किये हुए है, तो वह उपराष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र न होगा। परन्तु इस प्रयोजन के लिये कोई व्यक्ति लाभ का पद धारण किये हुए केवल इसीलिये नहीं समझा जायेगा कि वह संघ का राष्ट्रपति अथवा उपराष्ट्रपति अथवा किसी राज्य का राज्यपाल या राजप्रमुख या उपराजप्रमुख अथवा संघ का या किसी राज्य का मन्त्री है।[1]

उपराष्ट्रपति के पद के लिये यह भी एक शर्त है कि वह न तो संसद के किसी सदन का, और न किसी राज्य के विधान-मण्डल का, सदस्य होगा तथा यदि संसद के किसी सदन का अथवा किसी राज्य के विधान-मण्डल के सदन का सदस्य उपराष्ट्रपति निर्वाचित हो जाये तो यह समझा जायेगा कि उसने उस सदन का अपना स्थान उपराष्ट्रपति के रूप में अपने पद-ग्रहण करने की तारीख से छोड़ दिया है।[2]

राष्ट्रपति की पदावधि एवं रिक्तपूर्ति

उपराष्ट्रपति अपने पद-ग्रहण की तारीख से पाँच वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा। पद त्याग करने के लिये वह राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख भेजेगा। वह राज्य-परिषद के ऐसे संकल्प द्वारा भी पद से हटाया जा सकेगा, जिसे परिषद के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत ने पास किया हो तथा जिसे लोक सभा ने स्वीकृत किया हो। किन्तु इस प्रयोजन के लिये कोई भी संकल्प तब तक प्रस्तावित न किया जायेगा जब तक कि उसे प्रस्तावित करने के अभिप्राय की सूचना कम से कम चौदह दिन पूर्व न दे दी गई हो। पदावधि समाप्त हो जाने पर, उपराष्ट्रपति अपने उत्तराधिकारी के पद-ग्रहण तक पद धारण किये रहेगा।[3]

उपराष्ट्रपति की पदावधि की समाप्ति से हुई रिक्तता की पूर्ति के लिये निर्वाचन अवधि की समाप्ति से पहिले ही कर लिया जायेगा। परन्तु मृत्यु, पद त्याग या पद से हटाये जाने अथवा अन्य कारण से हुई उसके पद की रिक्तता की पूर्ति के लिये निर्वाचन रिक्तता होने की तारीख के पश्चात् यथा-सम्भव शीघ्र किया जायेगा तथा इस प्रकार निर्वाचित व्यक्ति अपने पद-ग्रहण

---

1 Article 66 Cl (3) & (4)
2 Article 66 Cl (2) 3 Article 67

की तारीख से पाँच वर्ष की पूरी अवधि के लिये पद धारण करने का हकदार होगा। उसकी पदावधि के लिये भी उपर्युक्त उपबन्ध लागू होंगे।[1]

उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न या ससक्त सब शकाओं और विवादों की जाँच और विनिश्चय उच्चतम न्यायालय करेगा और उसका विनिश्चय अन्तिम होगा। यदि उच्चतम न्यायालय द्वारा किसी व्यक्ति के उपराष्ट्रपति के रूप में निर्वाचन को शून्य घोषित कर दिया जाता है तो उस पद की शक्तियों के प्रयोग और कर्तव्य के पालन में किये गये कार्य उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय के कारण अमान्य नहीं होंगे। ससद को अधिकार है कि वह उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बद्ध या ससक्त किसी विषय का विनियमन कर सके। राष्ट्रपति के पद के लिये भी निर्वाचन सम्बन्धी ये उपबन्ध लागू होंगे।[2]

वेतन और भत्ते

उपराष्ट्रपति के लिये वेतन और भत्ते क्रमश ससद विधि द्वारा नियत करेगी जब तक इसका उपबन्ध हो तब तक उपराष्ट्रपति ऐसे भत्तों और विशेषाधिकारों का हकदार होगा जैसे कि क्रमश भारत डोमिनियन में सविधान-सभा के अध्यक्ष को सविधान से ठीक पहिले दिये जाते थे। परन्तु जब उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन करे या उसके रूप में कार्य करे तो उन्हीं भत्तों और विशेषाधिकारों का हकदार होगा जो राष्ट्रपति को देय हैं। परन्तु राष्ट्रपति के पद पर कार्य करते समय वह राज्य-परिषद् के सभापति-पद के कर्तव्यों को नहीं करेगा और न उसे इस पद के लिये विहित वेतन अथवा भत्ता का अधिकार होगा।[3]

उपराष्ट्रपति के कृत्य और अधिकार :

उपराष्ट्रपति पदेन राज्य-परिषद का सभापति होगा तथा अन्य कोई लाभ का पद धारण न करेगा।[4] राष्ट्रपति की मृत्यु, पद-त्याग अथवा पद से हटाये जाने अथवा अन्य कारण से उसके पद में हुई रिक्तता की अवस्था में उपराष्ट्रपति उस तारीख तक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा जिस तारीख को कि नया राष्ट्रपति अपने पद को ग्रहण करता है। यदि अनुपस्थिति, बीमारी तथा अन्य किसी कारण से जब राष्ट्रपति अपने कृत्यों को करने में असमर्थ हो, तब उपराष्ट्रपति उसके कृत्यों का निर्वहन उस तारीख

---

1 Article 68
2 Article 71 Cl (1) (2) & (3)
3 Article 97 & 64 (Proviso) & Schedule II
4 Article 64

तक करेगा जिस तारीख को राष्ट्रपति अपने कर्तव्यों को फिर से सँभाले। उस कालावधि में जब कि वह राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन कर रहा है, उसे राष्ट्रपति की सब शक्तियाँ और उन्मुक्तियां होंगी।[1] राज्य-परिषद् के सभापति के रूप में उसे परिषद् में बोलने तथा अन्य प्रकारों से उसकी कार्यवाहियां में बोलने का अधिकार है।

मन्त्रि-परिषद्

संविधान में यह स्पष्ट शब्दों में निर्दिष्ट कर दिया गया है कि राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने में सहायता और मंत्रणा देने के लिये एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान मन्त्री होगा। क्या मंत्रियों ने राष्ट्रपति को कोई मंत्रणा दी और यदि दी तो क्या दी इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जाँच न की जायेगी।[2] प्रधान मंत्री की नियुक्ति, राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधान मंत्री की मंत्रणा पर करेगा। राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त मंत्री पद धारण करेंगे। यह भी उपबन्ध है कि मंत्रि-परिषद् लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी। मन्त्रियों के वेतन और भत्ते ऐसे होंगे जैसे समय-समय पर संसद् विधि द्वारा निर्धारित करे तथा जब तक संसद इस प्रकार निर्धारित न करे उनको ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायेंगे जैसे कि भारत डोमिनियन के मन्त्रियों को संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहिले दिये जाते थे। किसी मन्त्री के अपने पद-ग्रहण करने से पहिले राष्ट्रपति उससे संविधान की तृतीय अनुसूची में इसके लिए दिये गये प्रपत्रों के अनुसार पद की गोपनीयता की शपथें करायेगा और यदि कोई मन्त्री जो निरन्तर ६ मास की किसी कालावधि तक संसद के किसी सदन का सदस्य न रहे उस कालावधि की समाप्ति पर मन्त्री न रहेगा।[3]

प्रधान मन्त्री को भी उसके पद की विशिष्टता के अनुरूप कर्त्तव्य सौंपे गये हैं। उसके लिए अपेक्षित होगा कि वह (१) संघ कार्यों के प्रशासन-सम्बन्धी मन्त्रि परिषद् के समस्त विनिश्चय तथा विधान के लिए प्रस्थापनाएँ राष्ट्रपति को पहुंचाये, (२) संघ कार्यों के प्रशासन सम्बन्धी तथा विधान-विषयक प्रस्थापनाओं सम्बन्धी जिस जानकारी को राष्ट्रपति मँगाये उसे उसके पास पहुंचाये तथा (३) किसी विषय को, जिस पर किसी मन्त्री ने विनिश्चय कर

1 Article 75 Cl (1) (2) & (3)
2 Article 74 Cl (1) & (2)
3 Article 75 Cl (1) to (6)

दिया हो किन्तु मन्त्रि-परिषद् ने विचार नहीं किया हो, उसे राष्ट्रपति की अपेक्षा करने पर परिषद् के सम्मुख विचार के लिए रखे।[1]

इन उपबन्धों से स्पष्ट है कि मन्त्रि-परिषद् का स्वरूप वैसा ही है जैसा कि एक उत्तरदायी शासन में होना चाहिये। इसमें केबिनेट प्रणाली की प्रायः सभी विशेषतायें वर्तमान हैं। केबिनेट प्रणाली वाले देशों में प्राय: निम्नलिखित विशिष्टितायें समान होती हैं—(१) मन्त्रियों का उत्तरदायित्व, (२) प्रधान-मन्त्री की प्रधानता, तथा (३) मन्त्रियों की परस्पर अधीनता एव सामूहिक प्रदर्शन, तथा (४) लोक-सभा में किसी राजनैतिक दल का बहुमत होना। ये विशेषतायें भारतीय मन्त्रि-परिषद में भी हैं।

अब हम पहिली विशेषता पर विचार करेंगे। यह बात सविधान में ही प्रकट कर दी गई है कि मन्त्रि-परिषद लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी। अत इस सम्बन्ध में किसी प्रकार के सदेह की सम्भावना नहीं हैं। इङ्गलैण्ड में मन्त्रियों का उत्तरदायित्व वैधानिक परम्परा पर आधारित है परन्तु हमारे सविधान में इसका स्पष्ट उल्लेख होने के कारण यह तत्व सुनिश्चित है। यद्यपि यह भी निर्दिष्ट है कि मन्त्रि परिषद् राष्ट्रपति को अपने कार्यों का सम्पादन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिये होगी और राष्ट्रपति किसी मन्त्री के पद ग्रहण करने से पहिले उसे पद की गोपनीयता की शपथें करायेगा और यह कि राष्ट्रपति को दी हुई मन्त्रणा की किसी न्यायालय में जाँच नहीं होगी। तथापि इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राष्ट्रपति मन्त्रियों को उसकी इच्छानुसार कार्य करने को बाध्य कर सकेगा। मन्त्रीगण लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी होंगे। अतः जिन कार्यों के लिये वे उत्तरदायी होंगे उनके सम्पादन करने में उनके स्वय के विवेक की प्रधानता स्वाभाविक है। सविधान का यह उपबन्ध भी कि मन्त्रियों के वेतन और भत्ते ससद विधि द्वारा निर्धारित करेगी, मन्त्रियों को राष्ट्रपति की अपेक्षा ससद के अधिक अधीन बनाता है।

सविधान की भाषा से एक और भी तथ्य प्रकट होता है, वह यह कि मन्त्रियों का उत्तरदायित्व लोक-सभा के प्रति सामूहिक होगा। सामूहिक उत्तरदायित्व का अभिप्राय यह है कि मन्त्री-परिषद एक समूह अथवा निकाय के रूप में लोक-सभा से अपने सम्बन्ध रक्खेगी। यदि अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए किसी एक मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाता है तो वह अविश्वास पूरी मन्त्रि-परिषद् के विरुद्ध समझा जायेगा। यदि कोई मन्त्री कोई प्रस्ताव प्रस्तुत करता है तो वह मन्त्रि-परिषद् का प्रस्ताव समझा

1 Article 78

जायगा। इसका एक अर्थ यह भी है कि मन्त्रि-परिषद् का प्रत्येक मन्त्री, अन्य मन्त्रियों के निर्णय का समर्थन करेगा, चाहे उसके व्यक्तिगत विचार कुछ भी हों और यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसे त्याग-पत्र देना पड़ेगा। यह स्मरणीय है कि यदि कोई मन्त्री भ्रष्ट नीति का पालन करता है तो अपनी असत्यशीलता के लिये वह स्वयं ही उत्तरदायी होगा। उसकी आलोचना पूरी मन्त्रि-परिषद् की आलोचना नहीं समझी जायेगी।

मन्त्रि-परिषद् प्रणाली की दूसरी विशेषता प्रधान-मन्त्री के पद का विशिष्ट महत्व है। संविधान में उल्लिखित प्रधान मन्त्री के कर्त्तव्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शासन-प्रणाली में उसका कितना महत्वपूर्ण स्थान रहेगा। इस उपबन्ध द्वारा, कि राष्ट्रपति अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति प्रधान-मन्त्री की मन्त्रणा पर करेगा, यह तथ्य निर्विवाद हो जाता है कि प्रधान-मन्त्री अन्य मन्त्रियों के साथ बराबरी के स्तर पर नहीं होगा बल्कि उसकी स्थिति मन्त्री-परिषद् के अगुए की होगी, जिसकी रचना, कार्य संचालन तथा विघटन में उसे विस्तृत अधिकार होंगे। यद्यपि ब्रिटेन के शासक की भाँति, राष्ट्रपति के लिये केवल एक शोभा की वस्तु होने की संभावना नहीं है तो भी प्रधान-मन्त्री के पद का महत्व उस सीमा से कम नहीं होगा जितनी कि उत्तरदायी शासन के लिये आवश्यक है।

मन्त्रियों की परस्पर अधीनता और उनके सामूहिक प्रदर्शन की विशेषता उनके सामूहिक उत्तरदायित्व का स्वाभाविक परिणाम है। इसका अर्थ यह है कि यदि किसी विषय के सम्बन्ध में मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों में मतभेद हो तो वह भी गुप्त रखा जाता है। संसद के सब मन्त्री प्रधान-मन्त्री के मत के अनुसार कार्य करते हैं। यदि कोई मन्त्री ऐसा कार्य करे जो मन्त्रि-परिषद् का एकता के विरुद्ध हो तो प्रधान-मन्त्री उस मन्त्री को त्याग-पत्र देने के लिये बाध्य कर सकता है। कोई मन्त्री जनता में कोई ऐसा वक्तव्य नहीं दे सकता है जो मन्त्रि-परिषद की नीति के प्रतिकूल हो अथवा जिसके द्वारा मन्त्रि-परिषद् पर कोई ऐसा कर्त्तव्य-भार आ जाये जो उसे अनुचित प्रतीत होता हो। मन्त्री परस्पर एक दूसरे के विचारों और निर्णयों का समर्थन करते हैं और लोक-सभा तथा बाह्य जगत के लिये एक निकाय के रूप में कार्य करते हैं। मन्त्रि-परिषद् प्रणाली के सुचारु कार्यकरण के लिये इन बातों का होना आवश्यक है। हमारे संविधान में भी इन प्रथाओं का उपयोग उसी प्रकार होगा जिस प्रकार कि मन्त्रि-परिषद् युक्त अन्य शासन प्रणालियों में होता है।

(४) केबिनेट प्रणाली के लिये यह भी आवश्यक है कि संसद के निम्न सदन में किसी एक राजनैतिक दल का बहुमत हो अथवा बहुमत न हो तो

कुछ राजनैतिक दल एकत्रित होकर संयुक्त मन्त्रि-परिषद् का निर्माण कर लेते हैं। इसी प्रकार की वैधानिक व्यवस्था भारतीय शासन में भी है।

साधारणतः यह देखा गया है कि किसी संविधान के प्रचलित होने के समय से जो वैधानिक प्रथा चल पड़ती है वही उस देश की आधारभूत परम्परा बन जाती है। हमारे देश में इस समय राष्ट्रपति एवं प्रधान-मन्त्री के वैधानिक सम्बन्धों से तो यह प्रकट होता है कि, दोनों पदों की स्थिति अन्य देशों की अपेक्षा ब्रिटेन की वैधानिक परम्परा के अधिक निकट होगी। यद्यपि इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद तथा प्रधान मन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के एक दल के होने के कारण उनके पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे हैं और संभवतः विभिन्न दलीय होने पर इन दोनों पदाधिकारियों का वर्तमान सम्बन्ध नहीं रहेगा। लेकिन उस परिस्थिति में भी, प्रथा के एक बार निर्धारित हो जाने पर उसका उल्लंघन करना कदाचित् ही कभी होगा।

मन्त्रि-परिषद् प्रणाली की पूर्वोक्त विशेषतायें ब्रिटेन की वैधानिक परम्परा की देन हैं। वे तो भारतीय मन्त्रि परिषद् में विद्यमान हैं ही, साथ ही मन्त्रियों की सामान्य स्थिति भी ब्रिटेन के मन्त्रियों से मिलती-जुलती है। ब्रिटेन की भाँति, हमारे यहाँ भी मन्त्रि-परिषद् के मन्त्रियों तथा अन्य मन्त्रियों में भेद है। इस समय तीन प्रकार के मन्त्री हैं—मन्त्रि परिषद् की स्थिति वाले, राज्य मन्त्री तथा उप-मन्त्री। राज्य मन्त्रियों का स्तर मन्त्रि-परिषद् के मन्त्रियों की अपेक्षा नीचा होता है और वे तथा उप मन्त्री मन्त्रि-परिषद् की बैठकों में नहीं बुलाये जाते हैं। उनके दिये जाने वाले वेतनों तथा भत्तों से भी उनकी पारस्परिक श्रेणी प्रकट होती है। मन्त्रि-परिषद् की स्थिति के मन्त्री को प्रतिमास ३०००) वेतन तथा ५००) व्यय-विषयक भत्ते के मिलते हैं। राज्य मन्त्री को ३०००) रु० प्रतिमास तथा उप मन्त्री को २०००) प्रतिमास वेतन दिया जाता है। मन्त्रि-परिषद् तथा मन्त्रि मण्डल में वही अन्तर है जो ब्रिटेन में केबिनेट तथा मिनिस्ट्री में है। मन्त्रि-मण्डल में मन्त्रि-परिषद् के स्थिति के मन्त्री, राज्य मन्त्री तथा उप-मन्त्री आदि सभी मन्त्री होते हैं और मन्त्रि-परिषद् में मन्त्रि-मण्डल के मुख्य-मुख्य मन्त्री होते हैं जो विविध राजनैतिक विभागों के अध्यक्ष के रूप में देश शासन-भार का वहन करते हैं।

अध्याय ११

संसद

भारतीय संविधान में संघ के लिए एक द्विगृही विधायिनी सभा की व्यवस्था की गई है। इसका नाम संसद है और यह राष्ट्रपति तथा दो सदनों से मिलकर बनती है जिनमें से निम्न सदन लोक-सभा तथा उच्च सदन राज्य-परिषद् कहा जाता है।[1] संविधान के निर्माता इङ्गलैण्ड तथा अन्य प्रजातान्त्रिक देशों में द्विगृही विधायिनी सभा के अनुभव से भली-भाँति परिचित थे। अतः उन्होंने नियम बनाने की शक्ति एक ही सदन के हाथ में सौंपने का निश्चय नहीं किया। कदाचित् उनका भी यही विचार था कि द्वितीय सदन किसी देश में शासन-नीति की उचित रक्षा करते हुए ऐतिहासिक शृङ्खला को बनाये रखने तथा आकस्मिक परिवर्तन न होने देने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

राज्य-परिषद्

रचना :

राज्य-परिषद् के सदस्यों की संख्या २५० से अधिक नहीं होगी। इसमें बारह सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्देशित किये जायेंगे और दो सौ अड़तीस से अनधिक राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे।[2] राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्देशित किये जाने वाले बारह सदस्य ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला और सामाजिक सेवा के बारे में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव होगा। राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा भरे जाने वाले स्थानों का बँटवारा निम्नलिखित सारिणी के अनुसार होगा :—

भाग 'क' राज्य

राज्य	कुल स्थान
१. आसाम	६
२. उड़ीसा	९
३. पंजाब	८

1 Article 79   2 Article 80 Cl (1) to (3)

४	पश्चिमी बगाल	१४
५	बिहार	२१
६	मद्रास	२७
७	मध्य प्रदेश	१२
८.	बम्बई	१७
९	उत्तर प्रदेश	३१
	कुल	१४५

भाग 'ख' राज्य

१	जम्मू और काश्मीर	४
२	तिरवाकुर-कोचीन	६
३	पटियाला और पूर्वी पजाब राज्य	३
४.	मध्य भारत	६
५.	मैसूर	६
६	राजस्थान	९
७	सौराष्ट्र	४
८	हैदराबाद	११
	कुल	४९

भाग 'ग' राज्य

	राज्य और राज्य समूह	कुल स्थान
१	अजमेर }	१
२	कुर्ग }	
३	कच्छ	१
४.	कोच बिहार	१
५.	दिल्ली	१
६.	बिलासपुर }	१
७	हिमाचल प्रदेश }	
८	भोपाल	१
९	मनीपुर }	१
१०	त्रिपुरा }	
११.	विन्ध्य प्रदेश	४
	कुल	११
	कुल	२०५[1]

1 Schedule IV

विभिन्न राज्यों के बीच स्थानों का उपर्युक्त बँटवारा जनसंख्या के आधार पर किया गया है। यह व्यवस्था अन्य संघीय देशों की प्रणाली से भिन्न है। उदाहरणार्थ अमरीका में उच्च सदन में राज्यों को समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया गया है। प्रत्येक राज्य से उच्च सदन, सीनेट में दो प्रतिनिधि आते हैं चाहे उसकी जनसंख्या कितनी ही हो। परन्तु भारत में समान प्रतिनिधित्व के इस सिद्धान्त की उपेक्षा की गई है।

सदस्यों का निर्वाचन :

राज्य परिषद् में भेजे जाने वाले प्रतिनिधियों के निर्वाचन की विधि में भी अन्तर कर दिया गया है। भाग 'क' तथा 'ख' राज्यों के प्रतिनिधि राज्यों की विधान-सभा के निर्वाचित सदस्यों द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व-पद्धति के अनुसार एकल-संक्रमणीय मत द्वारा निर्वाचित होंगे तथा भाग 'ग' राज्यों के प्रतिनिधि ऐसी रीति से चुने जायेंगे जैसी कि संसद विधि द्वारा निर्धारित करे।[1] इस समय भाग 'ग' राज्यों के प्रतिनिधि इन राज्यों के निर्वाचक गणों द्वारा चुने जाते हैं जिनका निर्माण सन् १९५० के प्रतिनिधित्व कानून (Representation of Peoples Act, 1950) के अनुसार होता है। इन राज्यों में से अधिकांश में राज्यों की विधान सभायें ही निर्वाचक-गण का कार्य करती हैं। जहाँ राज्यों को प्रतिनिधित्व के प्रयोजन के लिये एक-समूह में बद्ध कर दिया गया है वहाँ प्रतिनिधित्व सामान्यतया बारी-बारी से होता है।

सदस्यों की योग्यता :

राज्य-परिषद् में किसी स्थान की पूर्ति के चुने जाने के लिये कोई व्यक्ति अर्ह न होगा जब तक कि वह (१) भारत का नागरिक न हो; (२) कम से कम तीस वर्ष की आयु का न हो और (३) ऐसी अन्य अर्हताएँ न रखता हो जो कि इस सम्बन्ध में संसद-निर्मित किसी विधि के द्वारा या अधीन निर्धारित की जायें।[2]

कार्यावधि :

राज्य-परिषद का विघटन न होगा, किन्तु उसके सदस्यों में से यथाशक्ति निकटतम एक-तिहाई, संसद-निर्मित विधि द्वारा बनाये गये उपबन्धों के अनुसार प्रत्येक द्वितीय वर्ष पर यथासम्भव शीघ्र अपने स्थान रिक्त कर देंगे।[3] वास्तव में इस सदन को स्थायी बनाने का आयोजन किया गया है। अमेरिका में भी उच्च सदन के सदस्यों की कार्यावधि ६ वर्ष है।

---

1 Article 80 Cl (4) & (5)

2 Article 84

3 Article 83 Cl. (1)

पदाधिकारी :

जैसा कि पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है भारत का उपराष्ट्रपति सदैव राज्य-परिषद का सभापति होगा। राज्य-परिषद यथा सभव शीघ्र अपने किसी सदस्य को अपना उपसभापति चुनेगी और जब-जब उपसभापति का पद रिक्त हो तब-तब किसी अन्य सदस्य को अपना उप-सभापति चुनेगी।[1] उप-सभापति के लिये यह आवश्यक है कि वह राज्य परिषद का सदस्य भी रहे अन्यथा उसे अपना पद छोड़ देना पड़ेगा। वैसे भी किसी समय भी अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा जो सभापति को सम्बोधित होगा उप-सभापति किसी भी समय अपना पद त्याग सकेगा अथवा परिषद के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पास किये गए सकल्प द्वारा भी उसे अपने पद से हटाया जा सकेगा। परन्तु ऐसा सकल्प उस समय तक प्रस्तावित नहीं किया जायगा जब तक कि उसके अभिप्राय की कम से कम चौदह दिन की सूचना न दे दी गई हो।[2]

जबकि सभापति का पद रिक्त हो, अथवा जब उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा हो तो उप-सभापति उसके पद के कर्त्तव्यों का पालन करेगा। यदि ऐसी स्थिति में उप-सभापति का पद भी रिक्त है तो राज्य परिषद का कोई एक सदस्य जिसे राष्ट्रपति उस प्रयोजन के लिये नियुक्त करे, सभापति के कर्त्तव्यों का पालन करेगा। राज्य-परिषद की बैठकों मे, सभापति की अनुपस्थिति में उपसभापति, उपसभापति की अनुपस्थिति में ऐसा व्यक्ति जो परिषद की प्रक्रिया के नियमों द्वारा निर्धारित किया जाये, तथा ऐसे व्यक्ति की अनुपस्थिति में ऐसा अन्य व्यक्ति जिसे परिषद निर्धारित करे, सभापति के रूप में कार्य करेगा।[3]

जब राज्य-परिषद की किसी बैठक में उपराष्ट्रपति को अपने पद से हटाने का कोई सकल्प विचाराधीन हो तब सभापति, अथवा जब उपसभापति को अपने पद से हटाने का कोई सकल्प विचाराधीन हो तब उपसभापति, उपस्थित रहने पर भी, पीठासीन न होगा। उपराष्ट्रपति को अपने पद से हटाने का सकल्प राज्य परिषद मे विचाराधीन होने पर भी उसे परिषद में बोलने तथा दूसरी प्रकार से उसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार होगा परन्तु ऐसे सकल्प पर, अथवा ऐसी कार्यवाहियों मे किसी अन्य विषय पर मत देने का बिल्कुल हक न होगा।[4]

---

1 Article 89 Cl (1) & (2) 2 Article 90
3 Article 91 Cl (1) & (2)
4 Article 92 Cl (1) & (2)

लोकसभा

रचना

लोक-सभा की रचना का आधार, उसके निर्वाचन की विधि, सदस्यता इत्यादि राज्य-परिषद से भिन्न रखी गई है और यह ठीक भी है। राजनीति-शास्त्र के सिद्धांतों से परिचित व्यक्ति को विधायिनी-सभा में दोनों सदनों की विभिन्नता की आवश्यकता के विचार में कदाचित् ही कोई आपत्ति होगी। यदि दोनों सदनों का आधार एक ही कर दिया जाय तो दूसरे सदन का अभिप्राय ही नष्ट हो जावेगा। विधायनी सभा के कार्य को यथेष्ट उपयोगी बनाने के लिये उसे द्विगृही बनाया जाता है तथा दोनों सदनों का निर्वाचन भिन्न-भिन्न आधारों पर किया जाता है।

संविधान के अन्य उपबन्धों भाग 'ग' तथा अन्य राज्य-क्षेत्रों एवं आंग्ल समुदाय के प्रतिनिधित्व सम्बन्धी उपबन्ध के अधीन रहते हुए, भारतीय लोक-सभा पाँच सौ से अनधिक सदस्यों से मिलकर बनेगी। इसके सदस्यों का निर्वाचन राज्यों में के मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रीति से किया जायेगा। इस प्रयोजन के लिये राज्यों का प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों में विभाजन, वर्गीकरण या निर्माण किया जायेगा तथा प्रत्येक ऐसे निर्वाचन-क्षेत्रों में बाँट दिये जाने वाले सदस्यों की संख्या इस प्रकार निर्धारित की जायेगी जिससे यह सुनिश्चित रहे कि प्रति साढे सात लाख जनसंख्या के लिये एक से कम सदस्य और प्रति पाँच लाख जनसंख्या के लिये एक से अधिक सदस्य न होगा। प्रत्येक जनगणना की समाप्ति पर लोक सभा में विभिन्न प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व पुनः समायोजित किया जायगा। परन्तु ऐसे समायोजन से लोकसभा में के प्रतिनिधित्व पर तब तक कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा जब तक कि उस समय वर्तमान सदन विघटित न हो जाये। इस समायोजना के लिये अधिकारी का, इसकी रीति का तथा किसी निश्चित तारीख से प्रभावी होने का संसद विधि द्वारा निर्धारण करेगी। संसद को यह अधिकार है कि वह भारत राज्य-क्षेत्र में समाविष्ट किन्तु किसी राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत न होने वाले राज्य-क्षेत्रों का लोक-सभा में प्रतिनिधित्व विधि द्वारा उपबन्धित करे।[1] ऐसे राज्य-क्षेत्रों तथा भाग 'ग' राज्यों में भी संसद निर्वाचन का आधार विधि द्वारा निहित कर सकती है।[2]

लोक-सभा में राज्यों का प्रतिनिधित्व सन् १६५० के प्रतिनिधित्व नियम (Representation of People's Act, 1950) के अनुसार निश्चित किया

---

1 Article 81 2 Article 82

गया है। सामान्यत. सदस्य प्रत्यक्ष-निर्वाचन विधि द्वारा चुनकर लोक-सभा में भेजे जायेंगे परन्तु भाग 'ख' राज्यों के अनुसूचित जन-जातियों के क्षेत्र तथा अण्डमान-निकोबार तथा जम्मू एव काश्मीर के लिये विशेष उपबन्ध किया गया है। इन क्षेत्रों के लिए निर्धारित सदस्यों का राष्ट्रपति नाम-निर्देशन करेगा। प्रतिनिधित्व की सारिणी इस प्रकार है :—

राज्य	कुल स्थान	सुरक्षित स्थानों की सख्या	
		अनुसूचित जातियों के लिए	अनुसूचित जन-जातियों के लिए
भाग 'क' राज्य			
१. आसाम	१२	१	२
२ विहार	५५	७	६
३ बम्बई	४५	४	४
४. मध्य प्रदेश	२९	४	३
५ मद्रास	७५	१२	१
६ उड़ीसा	२०	३	४
७ पजाब	१८	३	....
८ उत्तर प्रदेश	८६	१७	....
९ पश्चिमी बगाल	३४	६	२
भाग 'ख' राज्य			
१ हैदराबाद	२५	४	
२ जम्मू-काश्मीर	६		
३ मध्य-भारत	११	२	१
४ मैसूर	११	२	
५ पेप्सू	५	१	
६ राजस्थान	२०	२	१
७ सौराष्ट्र	६		
८ त्रिवाकुर-कोचीन	१२	१	
भाग 'ग' राज्य			
१ अजमेर	२		.
२ भोपाल	२		
३ बिलासपुर	१		.

४	कुर्ग	१	.	.
५.	दिल्ली	४	१	...
६.	हिमाचल प्रदेश	३	१	...
७	कच्छ	२	....	
८	मनीपुर	२	....	१
९.	त्रिपुरा	२	....	..
१०.	विन्ध्य प्रदेश	६	१	१
क्षेत्र				
(१)	अण्डमान और निकोबार द्वीप-समूह	१	.	...
(२)	भाग 'क' अनुसूचित जनजाति क्षेत्र	१	. .	
	कुल	४९७	७२	२६

परन्तु जैसा कि ऊपर बताया गया है संविधान में प्रत्येक जन-गणना के पश्चात् राज्यों के बीच स्थानों के वितरण की पुनर्व्यवस्था का उपबन्ध किया गया है। अतः सन् १९५१ की जन-गणना के पश्चात् परिसीमन आयोग (Delimitation Commission) ने राज्यों के बीच स्थानों के वितरण में अन्तर कर दिया है। आन्ध्र राज्य को 'क' राज्यों में सम्मिलित कर उसे लोक-सभा में २८ स्थान प्रदान कर दिये गये हैं जिनमें से अनुसूचित जातियों तथा जन-जातियों के लिए क्रमश ४ और १ स्थान सुरक्षित किये गये हैं। बाकी राज्यों के सम्बन्ध में अन्तर इस प्रकार है :—

राज्य	कुल स्थान	सुरक्षित स्थान	
		अनुसूचित जातियों के लिए	अनुसूचित जन जातियों के लिए
भाग 'क' राज्य			
१. बम्बई	४९	६	५
२. मद्रास	४६	८	.
३. उड़ीसा	२०	४	४
४. पंजाब	२७	३	....
५. उत्तर-प्रदेश	८६	१६	...

भाग 'ख' राज्य				
१.	हैदराबाद	२५	..	..
२	मैसूर	१३	२	
३.	राजस्थान	२१	२	
४	त्रिवांकुर कोचीन	१३	१	
भाग 'ग' राज्य				
१	अजमेर	१	..	
२	दिल्ली	३		
३.	हिमाचल प्रदेश	२	...	
४	त्रिपुरा	२		१
५	विन्ध्य प्रदेश	५	१	

जम्मू काश्मीर तथा अण्डमान-निकोबार को जन गणना निकालकर बाकी अन्य राज्यों के स्थान प्रतिनिधित्व नियम (सन् १६५०) के अनुसार ही हैं।

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम-जातियों के लिये लोक-सभा में स्थानों का रक्षण किया गया है। सविधान की भाषा के अनुसार लोक-सभा में (क) अनुसूचित जातियों के लिये, (ख) आसाम के आदिमजाति क्षेत्रों की आदिम जातियों को छोड़कर आदिम जातियों के लिये और (ग) आसाम के स्वायत्तशासी जिलों में की अनुसूचित आदिम जातियों के लिये स्थान रक्षित रहेंगे। परन्तु ऐसे सदस्यों की सख्या का अनुपात लोक-सभा में उस राज्य को बाँट में दिये गये स्थानों की समस्त सख्या से यथाशक्य वही होगा जो उनकी जनसख्या का राज्य की समस्त जनसख्या को है।[1] आंग्ल-भारतीय समुदाय के प्रतिनिधित्व के लिये यह व्यवस्था की गई है कि यदि राष्ट्रपति की राय में उनका प्रतिनिधित्व लोक-सभा में पर्याप्त न हो तो वह उस समुदाय के दो से अनधिक सदस्यों का नाम-निर्देशित कर सकेगा।[2] परन्तु स्थानों के ये रक्षण और विशेष प्रतिनिधित्व के ये उपबन्ध सविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की कालावधि की समाप्ति पर प्रभावी न रहेंगे।[3]

सदस्यों की योग्यताएँ

लोक-सभा में सदस्य निर्वाचित होने के लिये कोई व्यक्ति तभी अर्ह होगा जब कि वह (१) भारत का नागरिक हो, (२) कम से कम पच्चीस वर्ष की आयु

---

1 Article 330 Cl (1) & (2) 2 Article 331
3 Article 334

का हो, तथा (३) ऐसी अन्य अर्हतायें रखता हो जो कि इस बारे में संसद द्वारा किसी विधि के अधीन निर्धारित की जायें।

इन सब बातों को ध्यान में रखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि लोक-सभा के निर्वाचन का आधार भी राज्य-परिषद् के आधार की भाँति जन-संख्या ही है, तथापि दोनों के लिये विहित निर्वाचन-प्रणाली में अन्तर है। राज्य-परिषद् के लिये भाग 'क' तथा 'ख' राज्यों में अनुपाती-प्रतिनिधित्व-पद्धति के अनुसार एकल-संक्रमणीय मत द्वारा निर्वाचन होगा। परन्तु लोक-सभा के निर्वाचन के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा गया है कि इसके लिये मतदान प्रत्यक्ष रीति से किया जायगा। हो सकता है कि संविधान के जनकों ने लोक-सभा को विभिन्न दलों में विभाजित होने से रोकने तथा सामान्य जनता की निरक्षरता के विचार से इस सुगम निर्वाचन-प्रणाली की व्यवस्था की है।

कार्यावधि तथा पदाधिकारी :

लोक-सभा, यदि पहिले ही विघटित न करदी जाये तो अपने प्रथम अधिवेशन की तारीख से पाँच वर्ष तक चालू रहेगी और इससे अधिक नहीं तथा पाँच वर्ष की इस कालावधि का परिणाम लोक-सभा का विघटन होगा। परन्तु यदि आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है तो संसद विधि द्वारा पाँच वर्ष की इस कालावधि को बढ़ा सकेगी जो एक बार एक वर्ष से अधिक न होगी और किसी भी अवस्था में उद्घोषणा के प्रवर्तन का अन्त हो जाने पर ६ मास की कालावधि से अधिक विस्तृत न होगी।[1]

पदाधिकारियों के सम्बन्ध में यह उपबन्ध किया गया है कि लोक-सभा यथा सम्भव शीघ्र अपने दो सदस्यों को अपने अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनेगी तथा जब-जब अध्यक्ष या उपाध्यक्ष का पद रिक्त हो तब तब सभा किसी अन्य सदस्य को अध्यक्ष या उपाध्यक्ष चुनेगी।[2] इन पदाधिकारियों के लिये यह आवश्यक है कि वे लोक-सभा के सदस्य रहें अथवा अपना पद रिक्त कर दें। अन्यथा किसी भी समय अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा, जो एक दूसरे को सम्बोधित हो, अध्यक्ष या उपाध्यक्ष अपना पद त्याग कर सकता है। इसके अतिरिक्त, स्वयं लोक-सभा के तत्कालीन समस्त सदस्य अपने बहुमत से पास किये गये संकल्प द्वारा इन पदाधिकारियों को अपने पदों से हटा सकते हैं। परन्तु ऐसा संकल्प जब तक प्रस्तावित नहीं किया जायगा जब तक कि इसके अभिप्राय की कम से कम १४ दिन की सूचना इन पदाधिकारियों को न दे दी गई हो। अगर लोक-सभा का विघटन किया जाये तो नई लोक सभा

---

1 Article 83 Cl. (2) 2 Article 93

के पहिले अधिवेशन के ठीक पहिले तक अध्यक्ष अपने पद को ग्रहण किये रहेगा।[1]

जब अध्यक्ष का पद रिक्त हो तो उपाध्यक्ष और जब उपाध्यक्ष का भी पद किसी कारण से रिक्त हो तो राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया गया कोई अन्य सदस्य, उस पद के कर्त्तव्यों का पालन करेगा। लोक-सभा की बैठकों में अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष और यदि वह भी उपस्थित न हो तो कोई अन्य ऐसा व्यक्ति जो सभा की प्रक्रिया के नियमों से निर्धारित किया गया हो, और उसकी अनुपस्थिति में सभा द्वारा निर्धारित कोई अन्य व्यक्ति अध्यक्ष के रूप में कार्य करेगा।[2]

लोक-सभा की किसी बैठक में जब अध्यक्ष को अपने पद से हटाने का कोई संकल्प विचाराधीन होगा तो अध्यक्ष और जब उपाध्यक्ष को हटाने का संकल्प विचाराधीन होगा तो उपाध्यक्ष उपस्थित होते हुए भी अध्यासीन न होगा। ऐसी परिस्थिति में अध्यक्ष को लोक-सभा में बोलने तथा अन्य प्रकार से उसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार होगा। परन्तु अपने पद से हटाये जाने के संकल्प पर अथवा लोक सभा की कार्यवाहियों में किसी अन्य विषय पर वह प्रथमतः ही मत दे सकेगा, मतसाम्य होने की दशा में नहीं।[3]

लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि अध्यक्ष का पद लोक-सभा में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इङ्गलैंड के "स्पीकर" के समान लोक-सभा का अध्यक्ष भी सभा में अनुशासन कायम रखता है, बोलने की इच्छा रखने वाले सदस्यों की प्राथमिकता का निश्चय करता है, विधेयकों पर विवाद करता है तथा उसे सभा में मतदान के लिये प्रस्तुत कराता है। वह निश्चय करता है कि किसी प्रस्ताव पर वाद-विवाद बन्द करने का प्रस्ताव किया जाय या नहीं। वह पुनरुक्ति करने वाले या अप्रासंगिक बात करने वाले सदस्य का भाषण बन्द कर सकता है। यदि कोई सदस्य उसकी आज्ञा न माने तो वह उसे सभा से निकाल सकता है या कुछ समय के लिये उसका सभा में आना बन्द कर सकता है। यह वही निर्णय करता है कि अमुक विधेयक साधारण है अथवा धन सम्बन्धी। इन विषयों में उसका निर्णय अन्तिम होता है।

संसद के सदस्यों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार, उन्मुक्तियाँ एवं अनर्हताएँ

संविधान के अनुसार संसद के सदस्यों को भाषण की स्वतन्त्रता होगी।

---

1 Article 94 2 Article 95 Cl. (1) & (2)
3 Article 66 Cl (1) & (2)

परन्तु इस सम्बन्ध में उन्हे प्रक्रिया के विनियामक नियमों और स्थायी आदेशों के अधीन रहना होगा। ससद में अथवा उसकी किसी समिति में कही हुई किसी बात या दिये हुये किसी मत के विषय में सदस्य के विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई कार्यवाही नहीं की जायगी। यदि ससद के प्राधिकार द्वारा कोई व्यक्ति उसकी कार्यवाहियों का प्रकाशन करता है तो उस पर भी इसके लिये कोई कार्यवाही नहीं चल सकेगी।

अन्य बातों में संसद के प्रत्येक सदन की तथा दोनों सदनों के सदस्यों और समितियों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ ऐसी होंगी जैसी ससद समय-समय पर विधि द्वारा परिभाषित करे और जब तक इसका उपबन्ध न हो तब तक ये वही होंगी जो इङ्गलैंड की लोक-सभा के सदस्यों को मिली हुई हैं। ससद के सदस्यों के साथ-साथ अन्य ऐसे व्यक्तियों को भी, जिन्हे ससद सविधान के अन्तर्गत बोलने का अधिकार दे, ये सब शक्तियाँ, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ प्राप्त होंगी।[1] सदस्यों के वेतन और भत्ते इत्यादि उपलब्धियाँ ससद विधि द्वारा निर्धारित करेगी और जब तक यह निर्धारित न हो जाये तब तक सदस्यों को ऐसे भत्ते, ऐसी दरों से और ऐसी शर्तों पर पाने का हक होगा जैसे कि सविधान के प्रारम्भ से ठीक पहिले भारत डोमिनियन की सविधान-सभा के सदस्यों को दिये जाते थे।[2]

ससद के पदाधिकारियों अर्थात् राज्य-परिषद के सभापति और उपसभापति को तथा लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते भी ससद विधि द्वारा निर्धारित करेगी और जबतक उसके लिये उपबन्ध न बने तब तक उनको क्रमश. ऐसे वेतन और भत्ते को पाने का हक होगा जैसे कि भारत डोमिनियन की सविधान-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को दिये जाते थे।[3]

ससद के प्रत्येक सदन का अपना पृथक् सचिवालय होगा। परन्तु ससद ऐसे पदों का सृजन भी कर सकती है जिनका सम्बन्ध दोनों सदनों से हो। सचिवालय के कर्मचारियों को भर्ती तथा सेवा की शर्तों का विनियमन ससद विधि द्वारा करेगी जब तक ऐसे नियम न बनाये जायें तब तक राष्ट्रपति द्वारा इस सम्बन्ध में बनाये गए नियम लागू होंगे जिनके लिये वह लोकसभा के अध्यक्ष तथा राज्य-परिषद के सभापति से परामर्श लेगा। यदि इन नियमों के पश्चात् संसद कोई नियम बनाये तो उनका प्रभाव इनसे ऊपर होगा।[4]

---

1 Article 105 Cl (1) to (4)   2 Article 106
3 Article 97
4 Article 98 Cl. (1) to (3)

कोई व्यक्ति एक ही समय में ससद के दोनों सदनों का सदस्य न हो सकेगा। यदि कोई व्यक्ति दोनों सदनों का सदस्य निर्वाचित हुआ है तो उसके लिये एक सदन से अपना स्थान रिक्त कर देना आवश्यक होगा। ससद को यह अधिकार है कि वह इस सम्बन्ध में नियम बना सके। इसके अतिरिक्त सविधान मे यह भी उपबन्ध किया गया है कि कोई भी व्यक्ति 'क' तथा 'ख' वर्ग के राज्यों की व्यवस्थापिका-सभाओं के किसी सदन तथा ससद का सदस्य एक साथ न हो सकेगा। यदि कोई व्यक्ति ससद तथा किसी राज्य की व्यवस्थापिका-सभा के किसी सदन का सदस्य निर्वाचित हो जाये तो कुछ समय पश्चात् उसे ससद से अपना स्थान रिक्त कर देना होगा; बशर्ते कि उसने इससे पहले ही राज्य की व्यवस्थपिका-सभा से स्थान रिक्त न कर दिया हो। ऐसे निर्वाचन के कितने समय के पश्चात् ससद से स्थान त्याग देना अपेक्षित होगा इसका निर्णय राष्ट्रपति द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार किया जायगा।

इसके अतिरिक्त सविधान में कुछ अन्य अनर्हताओं (Disqualifications) का उल्लेख किया गया है जिनमें से किसी एक भी अनर्हता के होने पर न कोई व्यक्ति ससद की सदस्यता के लिये चुनाव लड़ सकता है और न उसका सदस्य हो सकता है। वे अनर्हताएँ निम्नलिखित है :—

(१) भारत शासन के अथवा किसी राज्य के शासन के अधीन कोई लाभ का पद धारण करना,

(२) विकृत-मस्तिष्क होना तथा न्यायालय द्वारा ऐसा घोषित कर दिया जाना;

(३) अनुमुक्त दिवालिया (Undischarged insolvent) होना,

(४) भारत का नागरिक न होना अथवा किसी विदेशी राज्य की नागरिकता को स्वेच्छा से अर्जित कर लेना, अथवा किसी राज्य के प्रति निष्ठा या अनुपक्ति (adherence) स्वीकार कर लेना, या

(५) ससद-निर्मित किसी विधि के द्वारा या अधीन इस प्रकार अनर्ह घोषित कर दिया जाना।

परन्तु यह स्मरणीय है कि कोई व्यक्ति भारत-शासन के अथवा किसी राज्य के शासन के अधीन लाभ का पद ग्रहण करने वाला केवल इसलिये नहीं समझा जायगा कि वह सघ का अथवा राज्य का मत्री है। यदि ससद ने विधि द्वारा यह घोषित कर दिया हो कि किसी पद विशेष को

ग्रहण करने वाला व्यक्ति संसद की सदस्यता के लिये अनर्ह न होगा तो उस व्यक्ति पर भी पद की अनर्हता का यह उपबन्ध लागू नहीं होगा।

यदि कोई प्रश्न उठता है कि किसी सदन का कोई सदस्य उपर्युक्त अनर्हताओं का भागी हो गया है तो वह प्रश्न राष्ट्रपति को विनिश्चय के लिये सौंपा जायगा और उसका विनिश्चय इस सम्बन्ध में अन्तिम होगा। परन्तु अपना विनिश्चय प्रकट करने से पूर्व वह निर्वाचन-आयोग (Election Commission) की राय अवश्य लेगा और उसी के परामर्श के अनुसार कार्य करेगा।[1] इस प्रकार राष्ट्रपति का विनिश्चय बहुत कुछ निर्वाचन-आयोग के परामर्श पर आधारित होगा।

इन अनर्हताओं के अतिरिक्त, संसद का कोई सदस्य अपने हस्ताक्षर सहित पत्र द्वारा अपना स्थान त्याग सकता है और यदि वह सदन की अनुज्ञा के बिना साठ दिन तक संसद के सभी अधिवेशनों में अनुपस्थित रहे तो भी उसका स्थान रिक्त घोषित कर दिया जायगा, परन्तु साठ दिन की कालावधि की गणना में किसी ऐसी कालावधि को सम्मिलित नहीं किया जायगा जिसमें सदन निरन्तर चार से अधिक दिनों के लिये स्थगित रहा है।

संविधान में यह भी उल्लिखित है कि यदि कोई व्यक्ति पद की तथा गोपनीयता की शपथ लिये बिना और या यह जानते हुए भी कि वह संसद की सदस्यता के लिये अर्ह नहीं है अथवा अनर्ह हो गया है, संसद के किसी सदन में उपस्थित रहेगा अथवा मतदान करेगा तो वह ५००) रु० प्रतिदिन के हिसाब से अर्थदण्ड का भागी होगा और ऐसी राशि उससे संघ के ऋण के रूप में वसूल की जायगी।[2]

कार्य-सञ्चालन :

अपना स्थान ग्रहण करने से पूर्व, संसद के सदनों का प्रत्येक सदस्य राष्ट्रपति अथवा उसके द्वारा इस कार्य के लिये नियुक्त किये गए किसी अन्य अधिकारी के सम्मुख, संविधान की तृतीय अनुसूची में दिये गए प्रपत्र के अनुसार पद की शपथ ग्रहण करेगा। संसद की समस्त संयुक्त अथवा पृथक् बैठकों में उपस्थित सदस्यों के बहुमत द्वारा प्रश्नों पर निर्णय किया जायेगा। परन्तु अध्यक्ष अथवा सभापति पद पर कार्य करने वाले अधिकारी का केवल निर्णायक मत देने का अधिकार होगा। प्रत्येक सदन में सदस्यों की आवश्यक उपस्थिति उस सदन की कुल सदस्य-संख्या का १/१० होगी और यदि किसी

---

1 Article 103   2 Article 104

बैठक में यह आवश्यक संख्या पूरी न हो तो अध्यक्ष या सभापति का कर्त्तव्य है कि वह सदन की बैठक को उस समय के लिये विलम्बित या स्थगित करदे जब तक कि यह संख्या पूरी न हो जाये। संविधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि यदि संसद् के किसी सदन की बैठक में कोई ऐसा व्यक्ति उपस्थित रहेगा या मतदान करेगा जो उसकी सदस्यता के लिये अनर्ह है तो भी उस सदन की कार्यवाही अवैध नहीं समझी जायगी।

संसद के दोनों सदनों को प्रतिवर्ष कम से कम दो बार अधिवेशन के लिये अवश्य बुलाया जायगा और उसके एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा आगामी सत्र की प्रथम बैठक की तिथि के बीच में ६ मास का अन्तर न होगा। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह समय पर संसद् के दोनों सदनों अथवा किसी एक सदन को ऐसे समय तथा स्थान पर, जैसा वह उचित समझे, अधिवेशन के लिये बुला सकेगा और दोनों सदनों का सत्रावसान तथा विघटन भी कर सकेगा।

विधि-प्रक्रिया (Legislative Procedure)

साधारण विधेयकों को पास करने की प्रक्रिया ·

धन विधेयकों तथा अन्य प्रकार के वित्त-विधेयकों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के विधेयक संसद् के किसी सदन में आरम्भ हो सकेंगे। इस प्रकार के साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में संसद् के दोनों सदनों को समान अधिकार दिये गये हैं। संविधान से यह स्पष्ट है कि कोई भी साधारण विधेयक (जो धन-विधेयक या वित्त-विधेयक नहीं है) संसद् के सदनों द्वारा तब तक पास किया नहीं समझा जायगा जब तक कि दोनों सदन उस पर अपनी स्वीकृति न दे दें। यदि कोई एक सदन किसी विधेयक में संशोधन करदे तो दूसरे सदन की उस संशोधन सहित विधेयक पर स्वीकृति प्राप्त होने पर ही वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास समझा जायगा।

सदनों के सत्रावसान से संसद् में लम्बित विधेयक व्यपगत (Lapse) नहीं होंगे। परन्तु यदि कोई विधेयक जो लोक-सभा में सम्मिलित है अथवा जो लोक-सभा में पास होकर राज्य-परिषद् में लम्बित है, लोक-सभा के विघटन पर व्यपगत हो जायगा। इसके विपरीत, यदि कोई विधेयक, जिसको लोक-सभा ने पास नहीं किया है, राज्य-परिषद् में लम्बित है तो वह लोक-सभा के विघटन पर व्यपगत नहीं होगा।[1]

---

1 Article 107

यदि कोई साधारण विधेयक एक सदन द्वारा पास होकर दूसरे सदन में पहुचाये जाने के पश्चात्, दूसरे सदन द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है अथवा किसी विधेयक के सम्बन्ध में किसी सशोधन के प्रश्न पर दोनों सदन अन्तिम रूप से असहमत हो जाते हैं अथवा एक सदन किसी विधेयक को प्राप्त करने के पश्चात् से छः मास की अवधि मे उसे पास नहीं करता है तो राष्ट्रपति दोनों सदनों को विधेयक पर विचार करने और मत देने के प्रयोजन के उद्देश्य से सयुक्त बैठक में अधिवेशित होने के लिये अधिसूचना देता है। दूसरे शब्दों में, दोनों सदनों में किसी विधेयक पर मतभेद होने की दशा में राष्ट्रपति को दोनों की सयुक्त बैठक बुलाने का अधिकार है। जब राष्ट्रपति इस आशय की सूचना देता है तो प्रत्येक सदन उस विधेयक पर आगे की कार्यवाही रोक देता है और तत्पश्चात् सयुक्त बैठक में सम्मिलित रूप से विचार किया जाता है। ऐसी बैठक में प्रश्नों का निर्णय उपस्थित एव मत दान करने वाले सदस्यों के बहुमत द्वारा होता है। जब कोई विधेयक इसमें स्वीकृत हो जाता है तब वह दोनों सदनों द्वारा पास हुआ समझा जाता है। परन्तु संयुक्त बैठक में यदि कोई विधेयक एक सदन से पास होकर दूसरे सदन द्वारा सशोधनों सहित पास नहीं किया गया है तथा उस सदन को जिसमें विधेयक आरम्भ हुआ था, लौटा नहीं दिया गया है तो ऐसे सशोधनों के अतिरिक्त जो कि विधेयक के पास होने में देरी के कारण आवश्यक हो गये हैं, विधेयक पर कोई और सशोधन प्रस्थापित न किया जायगा और यदि विधेयक इस प्रकार पास किया और लौटाया जा चुका है तो विधेयक पर केवल ऐसे सशोधन, जैसे कि ऊपर कथित हैं तथा अन्य ऐसे सशोधन जो उन विषयों से सुसगत हैं तथा जिन पर सदनों में सहमति नहीं हुई है, प्रस्थापित किये जायेंगे। ऐसे विधेयक मे किस प्रकार के सशोधन प्रस्थापित किये जा सकेंगे, इस सम्बन्ध में उस बैठक के अधिष्ठाता (Presiding Officer) का विनिश्चय अन्तिम होगा।

यह स्मरणीय है कि धन-विधेयकों के सम्बन्ध में इस प्रकार की सयुक्त बैठक नहीं कराई जा सकेगी और मतभेद में विधेयक को एक सदन से दूसरे सदन को लौटाने की 'छः मास' की कालावधि की गणना में किसी ऐसी कालावधि को सम्मिलित नहीं किया जायगा जिसमें निरन्तर चार से अधिक दिनों के लिये, सदन स्थगित अथवा सत्रावसित रहा है। यदि सदनों को सयुक्त बैठक में अधिवेशित होने के लिये सूचित करने की राष्ट्रपति की अधिसूचना के पश्चात्, बीच में ही लोक-सभा का विघटन हो चुका है तो भी दोनों सदनों की संयुक्त बैठक हो सकेगी और उसमें विधेयक पास हो सकेगा।[1]

---

1 Article 108

धन-विधेयकों को पास करने की प्रक्रिया :

धन-विधेयकों को पास करने के लिये एक विशेष प्रक्रिया रखी गई है। इनके सम्बन्ध में सविधान द्वारा ससद के दोनों सदनों को समान अधिकार नहीं दिये गए हैं। अत कोई भी धन-विधेयक राज्य-परिषद् में प्रस्तावित नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह केवल लोक-सभा का ही अधिकार है कि वह धन-विधेयक को अपने सदन में प्रारम्भ करे। यह उपबन्ध इस प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त पर आधारित है कि किसी कर को लगाने अथवा विनियोग करने का प्रत्येक प्रस्ताव लोक-राजस्व का जनता के प्रतिनिधित्व करने वाले सदन में आरम्भ होना चाहिये। वैसे भा, यदि दोनों सदनों को हर प्रकार के नियम दनाने में एकसा स्तर प्राप्त होता तो द्विसदनीय व्यवस्थापिका सभा का कोई विशेष महत्व नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त, दोनों सदनों को एक समान शक्तियाँ प्रदान करन से कभी-कभी दोनों के बीच ऐसा तनाव उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण राज्य-कार्य के सम्पादन में बाधा उपस्थित होने की सभावना रहती है। इसीलिये सविधान में धन-विधेयकों के सम्बन्ध में दोनों सदनों की शक्तियों में अन्तर रखा गया है।

प्रत्येक धन विधेयक लोक सभा से पास हो चुकने पर राज्य-परिषद् में उसकी सिफारिश के लिये भेजा जाता है और राज्य-परिषद् को विधेयक की प्राप्ति की तिथि से चौदह दिन की कालावधि के अन्दर, अपनी सिफारिशों सहित वह विधेयक लोक-सभा को वापिस कर देना होता है। लोक-सभा को उन सिफारिशों को मानने अथवा न मानने का पूरा अधिकार है। यदि वह उन सिफारिशों में से किसी एक को भी स्वीकार कर लेती है तो धन-विधेयक उस सिफारिश में विहित सशोधन सहित पास हुआ समझा जाता है और यदि वह सभी सिफारिशों को अस्वीकार कर देती है तो वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा उसी रूप में पास हुआ समझा जाता है जिसमें कि वह लोक-सभा द्वारा पास किया जाता है।

यदि किसी धन-विधेयक को जो लोक-सभा में पास हो चुकता है और राज्य-परिषद् की स्वीकृति के लिये भेज दिया जाता है, राज्य परिषद् उक्त चौदह दिन की अवधि के भीतर लोक-सभा को वापिस नहीं कर देती तो उक्त अवधि की समाप्ति पर वह विधेयक उसी रूप में स्वीकृत समझा जाता है जिसमें कि लोक-सभा ने उसे पास कर दिया है।[1]

---

1 Article 109

इन उपबन्धों के परिणाम स्वरूप राज्य-परिषद् को धन-विधेयकों को प्रस्तावित करने अथवा उन पर कोई निश्चित प्रभाव डालने का अवसर नहीं मिलता। उसे केवल सिफारिशें प्रस्तुत करने का अधिकार होता है जिन्हे लोक-सभा आंशिक या पूर्ण रूप में मानने या न मानने की अधिकारिणी होती है। यदि परिषद् चौदह दिनों की उक्त कालावधि में कुछ भी नहीं करती तो धन-विधेयक दोनों सदनों द्वारा उसी रूप में पास हुआ समझा जाता है जिसमें कि वह लोक-सभा में पास हो चुका है। इस प्रकार धन विधेयकों के सम्बन्ध में वास्तविक एव प्रभावपूर्ण शक्ति लोक-सभा में ही विहित है।

सविधान के अनुच्छेद ११० में धन विधेयकों की परिभाषा की गई है। इसके अनुसार कोई विधेयक, धन-विधेयक तभी समझा जायगा जबकि उसमें निम्नलिखित विषयों में से सब अथवा किसी एक से सम्बन्ध रखने वाले उपबन्ध सम्मिलित हों :—

(१) किसी कर का आरोपण (Imposition), उन्मूलन (Abolition) परिहार (Remission), बदलना या विनियमन (Regulation) ;

(२) भारत सरकार द्वारा धन उधार लेने का, अथवा किसी ऋण को चुकाने का अथवा भारत सरकार द्वारा लिये गए अथवा लिये जाने वाले किन्हीं वित्तीय आभारों से सम्बद्ध विधि के सशोधन करने का विनियमन ;

(३) भारत की सञ्चित निधि (Consolidated Fund) अथवा आकस्मिकता—निधि (Contingency Fund) की अभिरक्षा तथा ऐसी किसी विधि में धन डालना या उसमें से निकालना ;

(४) भारत की संचित निधि में से धन का विनियोग (Appropriation)

(५) किसी व्यय को भारत की सञ्चित-निधि पर भारित व्यय घोषित करना या ऐसे किसी व्यय की राशि को बढ़ाना ,

(६) भारत की सञ्चित-निधि के या भारत के लोक-लेखे (Public Accounts) के लिये धन प्राप्त करना या ऐसे धन की अभिरक्षा या निकासी करना या सघ अथवा राज्य के लेखाओं (Accounts) का परीक्षण (Audit) करना ; अथवा

(७) उक्त '१' से '६' तक में उल्लिखित विषयों में से किसी का आनुषंगिक कोई विषय।

अनुच्छेद ११० में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि कोई विधेयक केवल इस कारण से धन-विधेयक न समझा जायगा कि वह जुर्मानों या अन्य अर्थदण्डों के आरोपण का अथवा अनुज्ञप्तियों (Licences) के लिये

फीसों का अथवा की हुई सेवाओं के लिये फीसों को माँगने या देने का उपबन्ध करता है, अथवा इस कारण से कि वह किसी स्थानीय प्राधिकारी या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किसी कर को लगाने, बढ़ाने, कम करने, बदलने या विनियमन करने का उपबन्ध करता है।[1]

यदि यह प्रश्न उठता है कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं तो उस पर लोक-सभा के अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम होगा।

जब कोई धन-विधेयक लोक-सभा से पास होकर राज्य-परिषद् को भेजा जाता है और या जब दोनों सदनों से पास होने के पश्चात् राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित किया जाता है, तब प्रत्येक धन-विधेयक पर, लोक-सभा के अध्यक्ष के हस्ताक्षर सहित यह प्रमाण अङ्कित रहेगा कि वह धन-विधेयक है।

विधेयकों पर अनुमति :

जब धन-विधेयक तथा साधारण विधेयक उपर्युक्त विधि से दोनों सदनों में पास हो जाते हैं तब राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित किये जाते हैं और राष्ट्रपति यह घोषित करता है कि वह विधेयक पर अनुमति देता है या रोक लेता है। साधारण-विधेयकों को राष्ट्रपति अपनी सिफारिशों के साथ अथवा इस सन्देश के साथ दोनों सदनों को लौटा सकता है कि वे समस्त विधेयक पर अथवा उसके किसी विशेष उपबन्धों पर फिर से विचार करें और जब विधेयक इस प्रकार लौटा दिया गया हो तो संसद उस पर फिर से विचार करेगी। यदि संसद विधेयक पर पुनर्विचार करके उसे संशोधन-सहित या रहित पास कर देती है तो वह विधेयक फिर से राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित किया जायगा और इस बार राष्ट्रपति उस पर अपनी अनुमति नहीं रोक सकेगा।[2] यह उपबन्ध इसलिये किया गया है कि राष्ट्रपति जब आवश्यक समझे तब विधेयकों पर अनुमति रोककर संसद की नीति पर यथोचित नियन्त्रण कर सके।

यह स्पष्ट है कि धन-सम्बन्धी विषयों पर न तो राज्य-परिषद् को और न राष्ट्रपति को ही पूर्ण अधिकार दिया गया है। अन्य प्रजातान्त्रिक देशों की भाँति, भारत में भी जनता के प्रतिनिधि प्रथम सदन को धन-विधेयकों पर प्रभाव पूर्ण अधिकार मिला है। प्रथम सदन के सदस्य साधारण जनता में से चुने जाते हैं। अतः उनको ही लोक-राजस्व के विनियमन का अधिकार दे देना उचित है।

---

1 Article 110 2 Article 111

वित्तीय विषयों में प्रक्रिया

वार्षिक वित्त-विवरण :

वित्तीय-प्रक्रिया के प्रसग में यह उल्लेखनीय है कि हमारी प्रणाली इस सम्बन्ध में बहुत कुछ इङ्गलेण्ड की प्रणाली से मिलती-जुलती है। यह इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर आधारित है कि किसी कर के आरोपण अथवा लोक-राजस्व के विनियोग के प्रस्तावों के लिये कार्यकारिणी का उत्तरदायित्व होना आवश्यक है। अत: यह उपबन्ध किया गया है कि प्रत्येक वित्तीय वर्ष के बारे में संसद के दोनों सदनों के समक्ष राष्ट्रपति भारत सरकार की उस वर्ष की प्राक्कलित प्राप्तियों (Estimated Receipts) और व्यय का विवरण रखवायेगा, जिसे संविधान में 'वार्षिक वित्त-विवरण' के नाम से पुकारा गया है। इस वार्षिक-वित्त-विवरण के व्यय के प्राक्कलनों में (१) जो व्यय सविधान में भारत की संचित निधि (Consolidated Fund) पर भारित व्यय के रूप में वर्णित हों उनकी पूर्ति के लिये निर्धारित राशियाँ तथा (२) संचित निधि से किये जाने वाले अन्य प्रस्थापित व्यय की पूर्ति के लिये आपेक्षित राशियाँ अलग-अलग दिखलाई जायेंगी और राजस्व-लेखे (Revenue Account) पर होने वाले व्यय का अन्य व्यय से भेद किया जायगा।

निम्नलिखित व्यय, भारत की संचित-निधि पर भारित व्यय होगा :—

(१) राष्ट्रपति की उपलब्धियाँ (Emoluments) तथा भत्ते और उसके पद से सम्बन्धित अन्य व्यय।

(२) राज्य-परिषद् के सभापति और उप-सभापति तथा लोक-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते।

(३) ऐसे ऋण जिनका दायित्व भारत- सरकार पर है, जिनके अन्तर्गत ब्याज, निक्षेप-निधि-भार (Sinking Fund Charges) और मोचन-भार (Redemption Charges) तक उधार लेने और ऋण सेवा और ऋण-मोचन सम्बन्धी अन्य व्यय भी हैं।

(४) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को या उनके बारे में दिये जाने वाले वेतन, भत्ते और निवृत्ति वेतन; संघ न्यायालय के न्यायाधीशों को या उनके बारे में दिये जाने वाले निवृत्ति वेतन और जो उच्च न्यायालय भारत के किसी क्षेत्र के सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार का प्रयोग करता है उसके न्यायाधीशों को या उनके बारे में दिये जाने वाले निवृत्ति वेतन।

(५) भारत के नियन्त्रक-महालेखा-परीक्षक (Comptroller and Auditor General) के या उसके बारे में दिये जाने वाले वेतन, भत्ते और निवृति वेतन।

(६) किसी न्यायालय या मध्यस्थ-न्यायाधिकरण (Arbitral Tribunal) के निर्णय, आज्ञप्ति (Decree) या पचाट (Award) के भुगतान के लिये अपेक्षित कोई राशियाँ।

(७) भारतीय संविधान द्वारा अथवा संसद से विधि द्वारा इस प्रकार भारित घोषित किया गया अन्य व्यय, उदाहरणार्थ रियासतों के नरेशों की पेंशन तथा लोक-सेवा-आयोगों का व्यय इत्यादि इस मद में सम्मिलित है।[1]

सचित-निधि के व्यय पर मतदान

भारत की सचित-निधि पर जो व्यय भारित है उससे सम्बन्धित प्राक्कलन संसद में मतदान के लिये नहीं रक्खे जायेंगे परन्तु उसके किसी भी सदन में उन प्राक्कलनों पर वाद-विवाद हो सकता है। यह उपबन्ध उचित ही किया गया है क्योंकि राज्य के अत्यन्तावश्यक कार्यों के सम्पादन के लिये कुछ खर्चों को संसदीय मतदान से स्वतन्त्र रखना ही आवश्यक है।

उक्त प्राक्कलनों में से जितने अन्य व्यय से सम्बद्ध हैं वे लोक-सभा के समक्ष मॉगों के रूप में रखे जायेंगे और लोक-सभा को यह शक्ति होगी कि वह किसी मॉग को स्वीकार या अस्वीकार करे अथवा किसी माँग को, उसमें उल्लिखित राशि को कम करके, स्वीकार करे।

अनुदान की माँगा के लिये राष्ट्रपति की सिफारिश अपेक्षित है। उसकी सिफारिश के साथ ही कोई मॉग लोक-सभा में पेश की जा सकेगी।[2]

विनियोग-विधेयक (Appropriation Bills)

साधारणतः विनियोग नियम के अधीन धन निकालने के अतिरिक्त भारत की सचित-निधि में से कोई व्यय नहीं किया जा सकता है।[1] उपर्युक्त विधि के अनुसार जब अनुदान किये जा चुकेंगे तो यथा सभव शीघ्र लोक-सभा में एक विधेयक प्रस्तावित किया जायगा जिसमें (१) भारत की सञ्चित-निधि में से लोक-सभा द्वारा अनुदानों के व्यय तथा (२) सञ्चित-निधि पर भारित, किन्तु संसद के समक्ष पहले रखे गये विवरण में दी हुई राशि से अनधिक, अन्य व्यय की पूर्ति के लिये अपेक्षित सब धनों के विनियोग का प्रस्ताव होगा।

---

1 Article 112 2 Article 113

3 Article 114

इस विधेयक पर संसद के दोनों सदनों में ऐसा कोई सशोधन प्रस्थापित नहीं किया जा सकेगा जिसका प्रभाव अनुदान की राशि में फेर-फार करना, अथवा अनुदान के लक्ष्य को बदलना, अथवा सञ्चित-निधि पर भारित व्यय की राशि में फेर-फार करना हो। कोई सशोधन ऐसे विधेयक के लिये प्रवेश्य (Admissible) है या नहीं इस सम्बन्ध में पीठा सीन (Person Presiding) का विनिश्चय अन्तिम होगा।

अनुपूरक, अपर या अधिकाई अनुदान
(Supplementary Additional or Excess Grant)

सविधान के निर्माताओं को इस संभावना का ज्ञान था कि किसी वर्ष में विनियोग-नियम में पास किये अनुदान उनसे सम्बन्धित व्यय पूर्ति के लिये अपर्याप्त हो सकते हैं। अत: उन्होंने ऐसी आकस्मिकताओं के लिये भी उपबन्ध किये हैं। उदाहरणार्थ यदि —

(१) उक्त उपबन्धों के अनुसार निर्मित किसी विधि द्वारा अनुदान की गई राशि किसी विशेष सेवा पर चालू वित्तीय वर्ष के लिये व्यय किये जाने के लिये अपर्याप्त पाई जाती है और या उस वर्ष के वित्त-विवरण में अपेक्षित न की गई किसी नई सेवा पर अनुपूरक (Supplementary) या अपर (Additional) व्यय की चालू वित्तीय वर्ष में आवश्यकता पैदा हो गई है ; या

(२) किसी वित्तीय-वर्ष में किसी सेवा पर, उस सेवा और उस वर्ष के लिये अनुदान की गई राशि से अधिक कोई धन व्यय हो गया है तो राष्ट्रपति ससद के दोनों सदनों के समक्ष उस व्यय की प्राक्कलित की गई राशि को दिखाने वाला दूसरा विवरण रखवायेगा अथवा लोक-सभा मे ऐसी अधिकाई के लिये माँग उपस्थित करायेगा। ऐसे विवरण अथवा माँग के लिये भी वही प्रक्रिया लागू होगी जैसी कि साधारण वार्षिक वित्त विवरण के लिये अपेक्षित है।[1]

लेखा अनुदान, प्रत्ययानुदान, और अपवादानुदान
(Votes on Account, Votes of Credit & Exceptional Grants)

यह भी सभव है कि किसी समय सरकार को विनियोग-नियम पास होने पहिले ही कोई आवश्यक व्यय करना पड़े। अतः ससद को यह शक्ति दी गई है कि वह—

---

1 Article 115

(१) किसी वित्तीय-वर्ष के भाग के लिये अनुमानित व्यय के बारे में किसी अनुदान को पेशगी दे सकेगी।

(२) जब किसी सेवा की महत्ता या अनिश्चित रूप के कारण माँग वर्णित नहीं की जा सकती तब भारत के सम्पत्ति स्रोतों पर अप्रत्याशित माँग की पूर्ति के लिये अनुदान दे सकेगी, और

(३) किसी वित्तीय वर्ष की चालू-सेवा का जो अनुदान भाग न हो ऐसा कोई अपवाद-अनुदान कर सकेगी।

और ये अनुदान जिन प्रयोजनों के लिये किये जायेंगे उनके लिये भारत की सचित-निधि में से धन निकालने की शक्ति ससद को होगी।

इन अनुदानों के सम्बन्ध में भी वही प्रक्रिया लागू होगी जो साधारण वार्षिक अनुदानों के लिये होना आवश्यक है।[1]

साधारण प्रक्रिया

प्रक्रिया के नियम :

सविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, ससद का प्रत्येक सदन अपनी प्रक्रिया के तथा अपने कार्य-सचालन के विनियमन के लिये नियम बना सकेगा। परन्तु जब तक इस प्रकार नियम नहीं बनाये जाते तब तक नये सविधान से ठीक पहिले भारत-डोमिनयन के विधान-मण्डल के बारे में जो प्रक्रिया के नियम और स्थायी आदेश प्रवृत्त थे, वे ही ऐसे रूपभेदों और अनुकूलनों के साथ जिन्हें राज्य-परिषद का सभापति या लोक-सभा का अध्यक्ष करे, ससद के सम्बन्ध में लागू होंगे।

राष्ट्रपति भी, राज्य-परिषद् के सभापति और लोक सभा के अध्यक्ष से परामर्श करने के पश्चात् दोनों सदनों की सयुक्त बैठक सम्बन्धी तथा उनमें परस्पर सचार सम्बन्धी, प्रक्रिया के नियम बना सकेगा।

साधारणतः नियम उच्च की अवज्ञा नहीं कर सकेगा। वित्त सम्बन्धी विषयों को छोड़ कर शेष अन्य सभी मामलों में दोनों सदनों को समान अधिकार होंगे। परन्तु दोनों सदनों की सयुक्त बैठकों में लोक सभा का अध्यक्ष पीठासीन होगा और यदि वह अनुपस्थित हो तो जिसका राष्ट्रपति द्वारा बनाये गये प्रक्रिया के नियमानुसार निर्धारण किया गया हो वह व्यक्ति पीठासीन होगा।[1]

1 Article 116 2 Article 118

वित्तीय कार्य को समय के अन्दर समाप्त करने के लिये संसद, विधि द्वारा, किसी वित्तीय विषय के अथवा संचित-निधि में से धन का विनियोग करने वाले विधेयक से, सम्बन्धित संसद के प्रत्येक सदन की प्रक्रिया और कार्य-संचालन विनियमित कर सकेगी और यदि इस प्रकार बनाई गई किसी विधि का उपबन्ध किसी सदन द्वारा बनाये गए नियमों से असंगत होगा तो ऐसा उपबन्ध अप्रभावी नहीं हो जायगा।[1]

संसद की प्रक्रिया की भाषा :

संविधान के अनुसार संसद का कार्य हिन्दी या अंग्रेजी भाषा में किया जायगा। परन्तु इस सम्बन्ध में पन्द्रह वर्ष की कालावधि के लिये अंग्रेजी भाषा के प्रयोग से सम्बन्धित उपबन्ध का कोई प्रभाव न पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, यदि संसद विधि द्वारा कोई अन्य प्रकार का उपबन्ध न करदे तो संविधान के आरम्भ से पन्द्रह वर्ष की कालावधि की समाप्ति के पश्चात् "या अंग्रेजी में" के शब्द लुप्त समझे जायेंगे।[2]

लेकिन हिन्दी अथवा अंग्रेजी भाषा के प्रयोग के उपबन्ध के होते हुए भी यथास्थित राज्य-परिषद् का सभापति या लोक-सभा का अध्यक्ष अथवा ऐसे रूप में कार्य करने वाला व्यक्ति किसी सदस्य को जो हिन्दी या अंग्रेजी में अपने विचार पर्याप्त रूप से प्रकट नहीं कर सकता, अपनी मातृ-भाषा में सदन को सम्बोधित करने की आज्ञा दे सकेगा।

संसद के अधिकार

संसद के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने के पश्चात् उसके अधिकारों पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। प्रजातान्त्रिक राज्यों में तो व्यवस्थापिका-सभाओं को ही अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया जाता है। अतः हमारे संविधान के रचयिताओं ने भी इस परम्परा की उपेक्षा नहीं की है। भारतीय संसद के अधिकारों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

(१) नियम बनाने का अधिकार :

संसद का मुख्य अधिकार नियम बनाना है। संविधान की संघीय विधायिनी सूची में समाविष्ट सभी विषयों पर संसद नियम बना सकती है। इसके अतिरिक्त, समवर्ती विधायिनी सूची में उल्लिखित विषयों पर नियम बनाने का

---

1 Article 119 2 Article 120

सर्वप्रथम अधिकार संसद् को ही है। अवशिष्ट विषयों पर भी नियम बनाने का इसे पूर्ण अधिकार है।

यही नहीं, संसद की विधायिनी शक्ति उन राज्यों तक भी विस्तृत है जो केन्द्र द्वारा शासित हैं। संकट-कालीन परिस्थितियों में उसकी शक्तियाँ उन राज्यों तक विस्तृत हो सकती हैं जिनके सम्बन्ध में राष्ट्रपति आपात् की उद्घोषणा कर देगा। यह हम 'कार्यपालिका' के अध्याय में बतला चुके हैं कि राष्ट्रपति विशेष परिस्थिति उत्पन्न होने पर समस्त देश के लिये आपात् की उद्घोषणा कर सकता है और ऐसी दशा में संसद राज्यों की विधायिनी सूची में दिये गए सभी विषयों पर नियम बना सकती है। परन्तु ऐसी परिस्थिति में बनाये गये नियम अधिक से अधिक आपात् काल की समाप्ति के छः महीने पश्चात् तक प्रभावी रह सकेंगे।

(२) प्रशासन सम्बन्धी अधिकार :

संसद का निर्माण जनता के प्रतिनिधियों द्वारा होता है। अतः यह स्वाभाविक है कि राज्य की नीति के संचालन का कार्य भार इसके ऊपर रहे। देश की प्रत्येक समस्या के सम्बन्ध में संसद विशेष नीति निर्धारित करती है और कार्यपालिका को उस नीति को कार्यान्वित करने का आदेश देती है परन्तु केवल इसी से संसद का उत्तरदायित्व समाप्त नहीं हो जाता। उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह कार्यपालिका के कार्यों पर नियन्त्रण रक्खे जिससे कार्यपालिका को अपनी मनमानी करने का अवसर न मिले। यह नियन्त्रण कई प्रकार से किया जाता है—प्रश्नों द्वारा, प्रस्तावों द्वारा, 'एड जार्नमैन्ट मोशन' द्वारा अविश्वास के प्रस्ताव तथा नीति की आलोचना द्वारा।

सर्व प्रथम स्थान नियन्त्रण के शास्त्रों में प्रश्न पूछने का है। प्रत्येक सदन की बैठक का कार्य साधारणतः प्रश्न पूछने के साथ आरम्भ होता है। मन्त्रियों से संसद के सदस्य प्रशासन-सम्बन्धी प्रश्न पूछते हैं और इस कार्य के लिये थोड़ा-बहुत समय अवश्य निश्चित रक्खा जाता है। इन प्रश्नों को पूछने के कई अभिप्राय होते हैं। कभी सदस्य अपनी या जनता की राज्य के प्रति जानकारी के लिये प्रश्न पूछते हैं। कभी जनता के कष्टों को दूर करने के प्रयोजन से प्रश्न पूछे जाते हैं। प्रश्नों द्वारा राज्य का ध्यान इन कष्टों की ओर आकर्षित किया जाता है परन्तु यह स्मरण रहे कि कोई नया प्रश्न एकाएक संसद के किसी सदन में नहीं पूछा जा सकता है। प्रश्न पूछने वाले सदस्य को पहले से इसकी सूचना देनी होती है। कारण यह है कि मन्त्रियों को प्रश्नों का उत्तर तैयार करने के लिये कुछ समय की आवश्यकता होती है।

ायः प्रश्न ऐसे होते हैं जिनका उत्तर कुछ आँकड़ों से सम्बन्धित होता है और न्त्री से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह प्रत्येक घटना को ब्यौरेवार याद रख सके क्योंकि ऐसा करना एक साधारण मनुष्य के लिये भी असंभव है। इसके अतिरिक्त, कुछ प्रश्नों का उत्तर देने के लिये मंत्री को दूसरे राज-विभागों से सूचना मँगानी पड़ती है और उसके लिये भी समय की आवश्यकता होती है। अतः यह नियम है कि प्रश्न पूछने वाला सदस्य कुछ समय पूर्व अपने प्रश्न की सूचना दे देता है। परन्तु उत्तर का स्पष्टीकरण करने के लिये संसद के सदस्य अनुपूरक-प्रश्न (Supplementary Questions) बिना पहले से सूचना दिये ही पूछ सकते हैं।

प्रश्न पूछने की क्रिया से मन्त्रि-मंडल पर बहुत कुछ नियन्त्रण रहता है। मन्त्रियों को सदा यह सतर्कता बनी रहती है कि सदन में प्रश्नों द्वारा हर समय में उनकी अनुचित नीति अथवा असावधानी की आलोचना हो सकती है। अतः वे ऐसे कार्य करने से अलग रहने का प्रयत्न करते हैं जिनके लिये उन्हें सदन में असन्तोषजनक प्रश्नोत्तर न देने पड़े। प्रश्नों द्वारा संसद को कार्यपालिका की नीति पर नियंत्रण रखने का एक प्रभावपूर्ण साधन मिल जाता है।

प्रश्नों के अतिरिक्त, प्रस्ताव भी कार्यपालिका पर नियन्त्रण के साधनों में एक विशेष महत्व रखते हैं। प्रस्तावों का प्रयोजन कार्यपालिका से किसी कार्य को करने के लिये कहना होता है जबकि प्रश्न बहुधा राज्य-कार्यों की जानकारी के लिये किये जाते हैं। प्रश्नों की भाँति प्रस्तावों को भी प्रस्तुत करने से पूर्व सूचना देने की आवश्यकता होती है। इन प्रस्तावों पर संसद में वाद-विवाद हो सकता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि कार्यपालिका इन प्रस्तावों को पास होने पर भी मानने के लिये बाध्य हो। उसे अधिकार है कि वह आंशिक या पूर्ण रूप में इन प्रस्तावों का पालन करे लेकिन साधारणतः वह इन्हें ठुकराती नहीं है।

कभी-कभी संसद में ऐसी माँग का प्रस्ताव लाया जाता है कि साधारण प्रक्रिया को छोड़कर किसी महत्वपूर्ण घटना या विषय पर वाद-विवाद किया जाय। इस प्रकार साधारण कार्यवाही को स्थगित कर देने के प्रस्ताव को अंग्रेजी में "एड जार्नमैण्ट मोशन" कहते हैं। परन्तु यह प्रस्ताव किसी महत्व-पूर्ण घटना या विषय के प्रसंग में ही पेश किया जाता है। अतः पहले यह देखा जाता है कि घटना या विषय महत्वपूर्ण है या नहीं और इसका निर्णय राज्य-परिषद् का सभापति अथवा लोकसभा का अध्यक्ष करता है। यदि उसकी सम्मति में ऐसा कोई प्रस्ताव आवश्यक अथवा अनुचित होता है तो वह उसे

पेश होने से रोक देता है। व्यवहार में, मन्त्रिगण प्राय ऐसे प्रस्तावों में अड़चन नहीं डालते क्यों कि किसी विषय पर वाद-विवाद को रोकने से ससद के सदस्यों पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि वाद-विवाद हो जाने पर वे उसे बढाने का प्रयत्न करते हैं ताकि जो समय उस वाद-विवाद के लिये निर्धारित किया गया है वह सुगमतापूर्वक व्यतीत हो जाय और कोई प्रस्ताव पास न होने पावे, क्योंकि यह मन्त्रिमण्डल की निन्दा समझी जाती है।

अविश्वास क प्रस्ताव द्वारा भी ससद प्रशासन पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखने में सफल होती है। जब कभी ससद का यह समाधान हो जाये कि जनमत मन्त्रि-मण्डल की नीति के विरुद्ध हो गया है और ससद न कि मन्त्रिमण्डल जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व कर रही है, तो वह मन्त्रि-मण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर सकती है जिसके परिणामस्वरूप मन्त्रियों को त्याग-पत्र दे देने पड़ते है। परन्तु यह स्मरण रहे कि ऐसे प्रस्ताव को पास करन के लिये ससद को एक निश्चित सख्या में मतदान करना पड़ता है और यह कभी-कभी ही ससद के समक्ष लाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त, समद मे राज्य की नीति पर वाद-विवाद करके भी मन्त्रि-मण्डल पर नियन्त्रण रखा जाता है। विरोधी दल मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति की आलोचना करता है परन्तु जिस दल के हाथ मे राज्य सत्ता होती है उसके सदस्य ससद मे अपनी नीति की विस्तार पूर्वक व्याख्या करते हैं।

राजस्व तथा वित्त सम्बन्धी अधिकार ·

प्राय सभी प्रजातान्त्रिक राज्यों में राजस्व तथा वित्त के विनियमन का अधिकार जनता के प्रतिनिधियों को होता है। हमारे सविधान में भी ससद के इस अधिकार को सुरक्षित रखा गया है। अतः जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है देश में किसी कर के आरोपण के लिये ससद की अनुमति आवश्यक होती है और लोक-राजस्व में से व्यय भी बहुधा उसकी स्वीकृति से ही होता है। वास्तव मे धन सम्बन्धी-शक्ति रखने वाला हो वास्तविक शक्ति का अधिकारी होता है और इस दृष्टि स ससद के हाथ में ही वास्तविक राज्य शक्ति होती है। परन्तु क्योंकि मन्त्रि-मण्डल ससद मे से बहुमत पर आधारित होता है, वही राष्ट्र की समस्त धन-राशि के व्यय का अधिकारी होता है और बहुमत के बल पर जिस प्रकार आय-व्यय करना चाहता है, कर लेता है। धन-विधेयक मन्त्रि-मण्डल द्वारा ही ससद मे प्रस्तुत किये जाते हैं। लेकिन मन्त्रि-मण्डल की यह शक्ति प्रजातान्त्रिक राज्यों की परम्पराओं पर आधारित है और इस कारण इससे ससद के वित्त सम्बन्धी अधिकारों में बाधा नहीं पड़ती है।

संविधान में संशोधन करने का अधिकार :

सविधान को स्थायी तथा राष्ट्र की वृद्धि के अनुकूल बनाये रखने के लिये ससद को उसमें सशोधन करने का अधिकार दिया गया है। ससार का प्रत्येक राष्ट्र उन्नति की ओर अग्रसर होता है। इसलिये यह आवश्यक है कि उसके साथ-साथ ही सविधान में परिवर्तन होते रहें और यह भी आवश्यक है कि जनता के प्रतिनिधियों को इसका अधिकार दिया जाय। अत. हमारे सविधान में यह उपबन्ध किया गया है कि ससद के किसी भी सदन में सशोधन का प्रस्ताव प्रस्तुत किया जा सकेगा। परन्तु सविधान के सभी अंगों पर ससद को सशोधन प्रस्थापित करने का अधिकार नहीं है। राष्ट्रपति, राज्यों की विधायिनी सूची, तथा न्यायपालिकाओं के अधिकार के सम्बन्ध में ससद स्वय सशोधन नहीं कर सकेगी। यह प्रतिबन्ध वास्तव में उचित ही है क्योंकि इन में से किसी पर सशोधन करके ससद राज्य के सघात्मक स्वरूप को बदल सकती थी। इनके अतिरिक्त, अन्य विषयों में ससद सरलतापूर्वक सशोधन कर सकती है।

ससद में वाद-विवाद पर निर्बन्धन

वैसे तो ससद के सदस्यों को प्रक्रिया के नियमों के अधीन सदन में बोलने की पूरी स्वतन्त्रता है और उन्हें यह विशेषाधिकार प्राप्त है कि ससद में अथवा उसकी किसी समिति में कही हुई किसी बात अथवा दिये हुए किसी मत के विषय में उनके विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई कार्यवाही न चल सकेगी तथापि यह उपबन्धित है कि वे किसी न्यायाधीश के अपने कर्त्तव्य-पालन में किये गए आचरण के विषय में चर्चा नहीं करेंगी। इस सम्बन्ध में उन्हे केवल यह अधिकार है कि वे उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को सविधान में उपबन्धित रीति से हटाने की प्रार्थना करने वाले समनिवेदन को राष्ट्रपति के समक्ष रखने के प्रस्ताव पर चर्चा कर सकेंगे। न्यायाधीशों को ससद के नियन्त्रण से मुक्त रखने के लिये यह उपबन्ध उचित ही है।

अध्याय १२

न्यायपालिका

न्यायपालिका का स्वरूप :

संघ शासन की तीसरी शाखा न्याय-विभाग है जो न्यायालयों से बनी हुई है। इसका काम संघ के कानूनों की व्यवस्था करना और अर्थ लगाना, संघ तथा विविध राज्यों के बीच विवादों में निर्णय करना, नागरिकों के विवादों में अपीलों का निर्णय करना और आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रपति को परामर्श देना है।

जैसाकि हम इस संविधान की विशेषताओं के प्रसंग में बतला चुके हैं, भारत में अमेरिका की भाँति दोहरी नागरिकता की व्यवस्था नहीं की गई है। यहाँ के नागरिकों को केवल संघ की इकहरी नागरिकता प्राप्त है। अत. यह आवश्यक नहीं समझा गया है कि संघीय न्यायालयों के अतिरिक्त अन्य न्यायालयों की स्थापना की जाये। इसके विपरीत, उच्चतम न्यायालय को ही भारत-राज्य क्षेत्र के सभी न्यायालयों पर देख-रेख का अधिकार दिया गया है। दूसरे शब्दों में, अमेरिका की भाँति भारत में राज्यों तथा संघ के नियमों की व्यवस्था के लिए पृथक्-पृथक् न्यायालय स्थापित नहीं किये गये हैं। वहाँ पर संघीय न्यायालय राज्यों के न्यायालयों के बीच पञ्च का कार्य करते हैं। परन्तु भारत में समस्त राज्यों के न्यायालय उच्चतम न्यायालय के अधीन हैं और उसके आदेशों का ही पालन करते हैं। अमेरिका में संघीय नियमों की व्यवस्था करने वाले न्यायालय पृथक् हैं परन्तु भारत में सभी न्यायालय अपने क्षेत्राधिकार के अधीन संघीय तथा राज्य के नियमों की व्यवस्था एक साथ करते हैं। सम्भवतः नये संविधान में न्याय विभाग की ऐसी रचना इससे ठीक पहिले की परम्परा से प्रभावित हुई है। भारत-शासन-अधिनियम सन् १९३५ के अन्तर्गत भी संघीय न्यायालय देश के अन्य न्यायालयों से ऊपर था और संघ की इकाइयों के लिए पृथक् न्यायालयों की स्थापना नहीं की गई थी।

न्यायपालिका की आवश्यकता :

संघीय राज्य में एक स्वतन्त्र न्याय-विभाग की अत्यन्त आवश्यकता होती है। ऐसी शासन-प्रणाली संघ तथा राज्यों के बीच सन्धि तथा विधायिनी विषयों के वितरण पर आधारित होती है। अतः हर समय यह सम्भावना रहती है कि संघ तथा राज्यों के बीच अथवा राज्यों में परस्पर कोई भेद-भाव पैदा हो जाये। इन भेद-भावों को निबटाने के लिये एक संघीय न्यायपालिका की स्थापना आवश्यक होती है। संघीय न्यायपालिका संविधान के उपबन्धों तथा अन्य संघीय नियमों का अर्थ लगाती है और राज्यों के बीच पारस्परिक कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में झगड़ों का निबटारा करती है। इसके अतिरिक्त, संविधान द्वारा प्रदत्त जनता के मूल-अधिकारों की रक्षा करने तथा संविधान का संरक्षण करने का भार भी इसी के ऊपर होता है। जिन संविधानों में जनता के मूल-अधिकारों का उल्लेख किया जाता है और उनको वास्तविक रूप में प्रजा को देने की इच्छा होती है। वहाँ व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के प्रभाव से मुक्त एक न्यायपालिका की स्थापना अवश्य की जाती है। हमारे संविधान में भी न्यायपालिका को जनता के मूल-अधिकारों की रक्षा करने का कर्त्तव्य सौंपा गया है। विभिन्न आदेशों तथा लेखों को निकालने की शक्ति से यह भारतीय नागरिकों की स्वतन्त्रता का संरक्षण करती है।

उच्चतम न्यायालय की स्थापना और गठन

न्यायाधीशों की संख्या :

संविधान में उल्लिखित है कि भारत का एक उच्चतम न्यायालय होगा। यह एक न्यायाधिपति (Chief Justice) तथा सात से अधिक न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा। किन्तु संसद को यह अधिकार है कि वह विधि द्वारा उनकी अधिक संख्या निर्धारित कर सकेगी।

न्यायाधीशों की नियुक्ति :

न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र (warrant) द्वारा करेगा। इस कार्य में वह उच्चतम न्यायालय के तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों से परामर्श करेगा परन्तु केवल ऐसे न्यायालयों के न्यायाधीशों से ही राय लेगा जिन्हें वह इस प्रयोजन के लिये उचित समझे। इस प्रकार नियुक्त हुआ न्यायाधीश पैंसठ वर्ष की आयु प्राप्त करने तक अपने पद पर रहेगा। इस विषय में यह स्मरणीय है कि मुख्य न्यायाधिपति के अतिरिक्त

अन्य किसी न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में भारत के मुख्य न्यायाधिपति से सदा परामर्श किया जायेगा।[1]

नियुक्ति के लिये योग्यताएँ :

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए कोई व्यक्ति तब तक अर्ह न होगा जब तक कि वह भारत का नागरिक न हो तथा (१) किसी उच्च न्यायालय का अथवा ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम से कम पाँच वर्ष तक न्यायाधीश न रह चुका हो, अथवा (२) किसी उच्च न्यायालय का, अथवा ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम से कम दस वर्ष तक अधिवक्ता (Advocate) न रह चुका हो, अथवा (३) राष्ट्रपति की राय में पारगत विधिवेत्ता न हो।[2] खण्ड (२) के प्रयोजन के लिये अधिवक्ता रहने की कालावधि में वह कालावधि भी सम्मिलित होगी जिसमें कि उस व्यक्ति ने अधिवक्ता होने के पश्चात् जिला न्यायाधीश के पद से ऊपर का कोई न्यायिक पद धारण किया होगा।

शपथग्रहण

न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति हो जाने पर, प्रत्येक व्यक्ति अपने पद ग्रहण करने से पहिले राष्ट्रपति के समक्ष शपथ लेगा कि वह विधि द्वारा स्थापित भारत के सविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखेगा और श्रद्धापूर्वक अपनी सही योग्यता, ज्ञान और विवेक से अपने पद के कर्त्तव्यों को भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना पालन करेगा तथा संविधान और विधियों की मर्यादा बनाये रक्खेगा। राष्ट्रपति यदि चाहे तो किसी अन्य व्यक्ति को न्यायाधीश से यह शपथ या प्रतिज्ञा लेने के लिए नियुक्त कर सकता है।[3]

वेतन इत्यादि :

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को ऐसे वेनत दिये जायेंगे जैसे कि सविधान की द्वितीय अनुसूची में उल्लिखित हैं अर्थात् उन्हें वास्तविक सेवा में बिताये गए समय के लिये प्रति मास निम्नलिखित दर से वेतन दिया जायेगा।

(क) मुख्य न्यायाधिपति ... ५,०००) रुपया

(ख) कोई अन्य न्यायाधीश ४,०००) रुपया

परन्तु यदि न्यायाधीश को नियुक्ति के समय भारत सरकार की अथवा उसस पूर्ववर्ती सरकारों में से किसी को अथवा राज्य सरकार की या उसकी पूर्ववर्ती

---

1 Article 124 (I) & (2) 2 Article 124 (3),
3 Article 124 (6) & Third Schedule

किसी सरकारों में से किसी की पहले की गई सेवा के बारे में (नियोग्यता या क्षत-पेन्शन के अतिरिक्त) कोई निवृत्त-वेतन मिलता हो तो उच्चतम न्यायालय के बारे में सेवा के लिये उसके वेतन में से निवृत्ति-वेतन की वह राशि घटादी जायगी।

वेतन के अतिरिक्त, उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को, बिना किराया दिये, पदावास के उपयोग का अधिकार होगा। उसे भारत राज्य-क्षेत्र में अपने कर्त्तव्य पालन में की गई यात्रा में किये गए व्ययों की पूर्ति के लिये ऐसे भत्ते दिये जायेंगे तथा यात्रा-सम्बन्धी ऐसी सुविधायें दी जाएँगी जैसी कि समय-समय पर राष्ट्रपति निर्धारित करेगा।

प्रत्येक न्यायाधीश को ऐसे विशेषाधिकारों का और अनुपस्थिति, छुट्टी तथा निवृत्ति-वेतन के सम्बन्ध में ऐसे अधिकारों का हक होगा जैसे कि संसद विधि द्वारा समय-समय पर निर्धारित करे परन्तु नियुक्ति के पश्चात् इन विषयों में न्यायाधीशों के लिये अलाभकारी कोई परिवर्तन नहीं किया जायगा।[1]

प्रतिबन्ध :

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों पर अपने पद के सम्बन्ध में एक प्रतिबन्ध भी लगाया गया है। वह यह है कि जो व्यक्ति इस पद को धारण कर चुका है वह भारत राज्य क्षेत्र के भीतर किसी न्यायालय में या किसी प्राधिकारी के समक्ष वकालत का कार्य नहीं कर सकेगा[2]

पद-त्याग :

कोई न्यायाधीश राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपने पद को त्याग सकेगा। परन्तु यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि न्यायाधीशों को स्वतः पद त्याग करने की स्वतन्त्रता दी गई है, उन्हें आसानी से पदच्युत नहीं किया जा सकेगा। उच्चतम न्यायालय का कोई न्यायाधीश अपने पद से तब तक न हटाया जायेगा, जब तक कि सिद्ध कदाचार अथवा असमर्थता के कारण राष्ट्रपति ने इसके लिये आदेश न दे दिया हो और राष्ट्रपति ऐसा आदेश तभी देगा जब कि संसद के दोनों सदन एक ही सत्र में कम से कम दो तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित समावेदन उसके समक्ष रखें। इस उपबन्ध द्वारा उच्चतम न्यायालय को बड़ी हद तक कार्यपालिका से स्वतन्त्र रखने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु संसद को यह अधिकार है कि वह इस प्रकार किसी समावेदन के राष्ट्रपति के समक्ष रखे जाने की तथा न्यायाधीश के कदाचार या असमर्थता

1. Article 125. 2 Article 124. (6)

के अनुसधान तथा सिद्ध करने की प्रक्रिया का विधि द्वारा विनियमन कर सकेगी ।[1]

स्थान एवं अभिलेख-न्यायालय सम्बन्धी-अधिकार :

उच्चतम न्यायालय दिल्ली में अथवा ऐसे अन्य स्थान या स्थानों में, जिन्हें भारत का न्यायाधिपति राष्ट्रपति के अनुमोदन से समय-समय पर नियुक्त करे, बैठेगा ।[2] वह अभिलेख न्यायालय (Court of Record) होगा अर्थात् उसमें की हुई सब कार्यवाहियाँ प्रमाणित मानी जायेंगी और उसे अपमान के लिये दण्ड देने की शक्ति के सहित ऐसे न्यायालय की सब शक्तियाँ होंगी ।[3]

कार्यकारी मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति :

जब भारत के न्यायाधिपति का पद रिक्त हो अथवा जब मुख्य न्यायाधिपति अनुपस्थिति या अन्य कारण से अपने पद के कर्त्तव्यों का पालन करने में असमर्थ हो तब न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों में से ऐसा एक, जिसे राष्ट्रपति उस प्रयोजन के लिये नियुक्त करे, उस पद के कर्त्तव्यों का पालन करेगा ।[4]

तदर्थ (Ad Hoc) न्यायाधीशों की नियुक्ति :

यदि किसी समय उच्चतम न्यायालय के सत्र को चालू रखने के लिये आवश्यक संख्या में न्यायाधीश उपस्थित न हों तो मुख्य न्यायाधिपति किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को न्यायालय की बैठकों में इतनी कालावधि के लिये जितनी आवश्यक हो, तदर्थ न्यायाधीश के रूप में उपस्थित रहने के लिये प्रार्थना कर सकेगा । परन्तु यह स्मरण रहे कि न्यायाधिपति इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति तथा सम्बद्ध उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श से कार्य करेगा और ऐसे न्यायाधीश को तदर्थ न्यायाधीश के रूप में उपस्थित रहने के लिये नामोदिष्ट (Designate) करेगा जो उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिये यथारीति योग्य हो ।

इस प्रकार नामोदिष्ट न्यायाधीश का यह कर्त्तव्य होगा कि वह अपने पद के अन्य कर्त्तव्यों पर पूर्ववर्तिता (Priority) देकर उच्चतम न्यायालय की बैठकों में उस समय तक जिसके लिये उसकी आवश्यकता है, उपस्थित हो और इस पद पर कार्य करते हुए उसे उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के सब अधिकार, शक्तियाँ और विशेषाधिकार प्राप्त होंगे ।[5]

---

1 Article 124 (2) (4) 2 (6)
2 Article 130
3 Article 129
4 Article 126
5 Article 127

सेवा-निवृत्त (Pensioned) न्यायाधीशों की नियुक्ति :

भारत का मुख्य न्यायाधिपति किसी समय भी राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से किसी व्यक्ति से, जो उच्चतम न्यायालय या फैडरल न्यायालय के न्यायाधीश का पद धारण कर चुका है, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में बैठने और कार्य करने की प्रार्थना कर सकेगा। इस प्रकार प्रार्थित व्यक्ति को, यदि वह उच्चतम न्यायालय में बैठता और कार्य करता है, ऐसे भत्ते दिये जायेंगे जैसे कि राष्ट्रपति आदेश द्वारा निर्धारित करे और उसे उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के सब क्षेत्राधिकारों, शक्तियों तथा विशेषाधिकारों का हक होगा परन्तु वह अन्यथा उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश न समझा जायेगा।[1]

पदाधिकारी और सेवक तथा व्यय :

उच्चतम न्यायालय के पदाधिकारियों और सेवकों की नियुक्तियाँ मुख्य न्यायाधिपति या उसके द्वारा निर्देशित उस न्यायालय का अन्य न्यायाधीश या पदाधिकारी करेगा। परन्तु राष्ट्रपति नियम द्वारा यह अपेक्षा कर सकेगा कि ऐसे व्यक्ति को जो पहिले ही न्यायालय में लगा हुआ नहीं है न्यायालय से सम्बन्धित किसी पद पर, संघ-लोक-सेवा आयोग (Union Public Service Commission) से परामर्श किये बिना नियुक्त न किया जायेगा।

इन पदाधिकारियों और सेवकों की सेवा की शर्तें ऐसी होंगी जैसी कि मुख्य न्यायाधिपति या उसके द्वारा इस प्रयोजन के लिये अधिकृत उस न्यायालय का कोई न्यायाधीश या पदाधिकारी नियमों द्वारा विहित करे। परन्तु ऐसे नियमों के लिये, यदि वह वेतनों, भत्तों, छुट्टी या निवृत्ति वेतन से सम्बन्धित हैं राष्ट्रपति के अनुमोदन की आवश्यकता होगी।

उच्चतम न्यायालय के प्रशासन व्यय, जिसमें न्यायालयों के पदाधिकारियों और सेवकों को या उनके बारे में दिये जाने वाले सब वेतन, भत्ते और निवृत्त-वेतन भी होंगे, भारत की सञ्चित निधि में से लिये जावेंगे और न्यायालय द्वारा ली गई फीसें तथा अन्य धन उस निधि का भाग होंगी।[2]

कार्य, शक्तियाँ और अधिकार

उच्चतम न्यायालय के कार्यों का क्षेत्र उसकी शक्तियों और अधिकारों का क्षेत्र है। दूसरे शब्दों में, हम उसके क्षेत्राधिकार पर दृष्टिपात करके उसके कार्यक्षेत्र को मान सकते हैं। उच्चतम न्यायालय को प्रारम्भिक और अपीलीय दोनों तरह का क्षेत्राधिकार प्राप्त है। प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत यह संविधान के उपबन्धों के निर्वाचन द्वारा संघ तथा राज्यों और राज्यों के

---

1 Article 128 2 Article 146

बीच परस्पर विवादों का निर्णय करता है और अपीलीय क्षेत्राधिकार द्वारा यह राज्यों के उच्च न्यायालयों एव अन्य न्यायालयों से अपीलें सुनता है। अपने प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत ही यह मूल अधिकारों के संरक्षण के लिये आदेश एव लेख इत्यादि जारी करता है।

आरम्भिक क्षेत्राधिकार :

उच्चतम न्यायालय का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार उन विवादों में होगा जिनमें कि विरोधी पक्ष निम्नलिखित हों :—

(१) भारत सरकार और एक या अधिक राज्य ;

(२) एक ओर भारत-सरकार तथा कई एक राज्य या अधिक राज्य और दूसरी ओर एक या अधिक राज्य ; या

(३) दो या अधिक राज्य।

ऐसे विवाद विधि अथवा तथ्य के प्रश्नों (question of law or fact) दोनों से सम्बन्धित हो सकते हैं, परन्तु यह आवश्यक है कि उनके निर्णय पर किसी वैध अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर हो। यह भी ज्ञातव्य है कि इस प्रकार का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार भारत में उच्चतम न्यायालय के अतिरिक्त किसी अन्य न्यायालय को नहीं होगा।

परन्तु उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का विस्तार उन विवादों पर नहीं होगा—

(१) जिनका सम्बन्ध 'ख' वर्ग के राज्य से हो और जो ऐसी सधि, करार प्रसविदा (Covenant), वचन-बध, सनद या लिखित के उपबन्धों से पैदा हुए हों जो सविधान के प्रारम्भ से पहिले की गई या निष्पादित थीं और या संविधान के प्रारम्भ के पश्चात् प्रवर्त्तन में हैं या रख ली गई हैं। और

(२) जिनमें एक पक्ष राज्य है और विवाद ऐसी सधि, करार, प्रसविदा, वचन-बध, सनद या लिखित के उपबन्धों से उत्पन्न हुआ है जिसमें यह उल्लिखित है कि ऐसे विवाद पर उच्चतम न्यायालय का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार विस्तृत न होगा।[1]

सक्षेप में, यह प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार उन विवादों पर नहीं होगा जो 'ख' वर्ग के राज्यों से सम्बन्धित किसी ऐसी सनद इत्यादि से उत्पन्न हुए हैं जो सविधान प्रारम्भ से पहिले या पश्चात् मान्य हैं और जो विवाद ऐसी सनद इत्यादि के उपबन्धों से उत्पन्न हुए हैं जिनमें यह उपबन्धित है कि ऐसा विवाद उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत नहीं आयगा।

---

1 Article 131

अपीलीय क्षेत्राधिकार :

प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अतिरिक्त, उच्चतम न्यायालय को राज्यों के उच्च न्यायालयों एव अन्य न्यायाधिकारियों (Tribunals) से अपीलें सुनने का अधिकार है। इस क्षेत्राधिकार के तीन स्वरूप हैं—संविधान के निर्वाचन से सम्बन्धित विषयों में अपीलें सुनने का अधिकार, व्यवहार-विषयों (Civil) के बारे में अपीलीय क्षेत्राधिकार और दण्ड-विषयों (Criminal) में क्षेत्राधिकार। इनमें से प्रथम शीर्षक के अन्तर्गत व्यवहारिक तथा दाण्डिक आदि सभी ऐसे विषय सम्मिलित हैं जिनमें संविधान के उपबन्धों का निर्वचन अपेक्षित है।

(१) संविधान के निर्वचन के विषयों में अपीलीय क्षेत्राधिकार :

उच्चतम न्यायालय में भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भी ऐसे निर्णय, आज्ञप्ति या अन्तिम आदेश की अपील हो सकेगी जिसमें संविधान के निर्वचन का कोई सारवान विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त हो, चाहे वह निर्णय इत्यादि व्यवहार-विषयक हो या दाडिक अथवा अन्य कार्यवाही में दिया गया हो। परन्तु ऐसी अपील के लिये उच्च न्यायालय का यह प्रमाण आवश्यक है कि उस मामले में संविधान के निर्वचन का कोई सारवान विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है।

यदि किसी मामले में उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाण देने को मना करदे परन्तु उच्चतम न्यायालय को यह समाधान हो जाये कि उसमें संविधान के निर्वचन का सारवान प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है तो भी वह उसके निर्णय, आज्ञप्ति या अन्तिम आदेश की अपील के लिये विशेष इजाजत दे सकता है।

जहाँ उच्च न्यायालय द्वारा ऐसा प्रमाण-पत्र या उच्चतम न्यायालय द्वारा ऐसी विशेष इजाजत दे दीगई हो वहाँ मामले में कोई पक्ष ऐसे किसी पूर्वोक्त प्रश्न के अशुद्ध निर्णय हो जाने के आधार पर, तथा उच्चतम न्यायालय की इजाजत से अन्य किसी आधार पर, उच्चतम न्यायालय में अपील कर सकेगा।[1]

(२) व्यवहार विषयो में अपीलीय क्षेत्राधिकार :

भारत-राज्य-क्षेत्र के उच्च-न्यायालय की व्यवहार-कार्यवाही में के किसी निर्णय, आज्ञप्ति या अन्तिम आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय में होगी यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करे :—

(१) कि विवाद-विषय की राशि या मूल्य प्रथम बार के न्यायालय में बीस हजार रुपये से कम न थी और अपीलगत विवाद में भी उससे कम नहीं है,

---

1 Article 132

(२) कि निर्णय, आज्ञप्ति या अन्तिम आदेश में उतनी राशि या मूल्य की सम्पत्ति से सम्बन्धित कोई दावा या प्रश्न प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अन्तर्ग्रस्त है, या

(३) कि मामला उच्चतम-न्यायालय मे अपील के लायक है।

इसके अतिरिक्त, उच्चतम न्यायालय में व्यवहार-विषयक उस मामले की भी अपील हो सकती है जिसमें कि अपीलकृत निर्णय, आज्ञप्ति या अन्तिम आदेश नीचे के न्यायालय के विनिश्चय की पुष्टि करता है और उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर देता है कि उसमें कोई सारवान विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। परन्तु ऐसा मामला उक्त खण्ड (३) में वर्णित मामले से भिन्न होगा।[1]

(३) दण्ड-विषयों में क्षेत्राधिकार :

उच्च-न्यायालय द्वारा किसी दंड-कार्यवाही में दिये हुए किसी भी निर्णय, अन्तिम आदेश या दण्डादेश की अपील उच्चतम न्यायालय में हो सकेगी, यदि

(१) उस उच्च-न्यायालय ने अपील में किसी अभियुक्त व्यक्ति की विमुक्ति (Acquittal) के आदेश को उलट दिया है और उसे मृत्यु-दण्डादेश दिया है, या

(२) उस उच्च-न्यायालय ने अपने अधीन न्यायालय से किसी मामले को जाँच के लिये अपने पास मगा लिया है और ऐसी जाँच में अभियुक्त व्यक्ति को सिद्ध-दोष ठहराया है और मृत्यु-दण्डादेश दिया है, या

(३) उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करता है कि मामला उच्चतम न्यायालय में अपील किये जाने योग्य है।

सविधान में दाण्डिक-विषयों में उच्चतम-न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को विस्तृत करने का उपबन्ध भी किया गया है। इसके अनुसार ससद ऐसे नियम बना सकती है जिनके अनुसार उच्चतम न्यायालय को किसी उच्च-न्यायालय के निर्णय, अन्तिम आदेश या दण्डादेश की अपील लेने और सुनने की और भी अधिक शक्ति मिल जाय। परन्तु यह शक्ति ऐसी शर्तों और परिसीमाओं के अधीन रहेगी जैसी कि ससद द्वारा निर्मित नियम में उल्लिखित होंगी।[2]

अपील के लिये विशेप इजाजत

उच्चतम न्यायालय को अपील के लिये विशेष इजाजत देने का भी अधिकार है अर्थात् उन मामलों मे जिनमें अपील करने के लिये कोई विशेष न्यायालय या न्यायाधिकरण की व्यवस्था नहीं होगी उनमें उच्चतम-न्यायालय

---

1 Article 133 2 Article 134

स्वविवेक से भारत के किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण द्वारा दिए गए निर्णय आज्ञप्ति, निर्धारण, दण्डादेश या आदेश की अपील के लिये विशेष इजाजत दे सकेगा। परन्तु ऐसी इजाजत वह साधारणतः नहीं देगा। केवल उन्हीं मामलों जिनमें यह प्रतीत होगा कि अभियुक्त के साथ घोर अन्याय किया गया है और विवाद की परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि जिनके कारण निम्न न्यायालय के विनिश्चय का पुनर्विलोकन आवश्यक है, ऐसी इजाजत दी जायगी। इसके अतिरिक्त, सशस्त्र-बलों से सम्बन्धित किसी न्यायालय द्वारा दिये गए निर्णय इत्यादि पर यह उपबन्ध लागू नहीं होगा और उनके बारे में उच्चतम न्यायालय अपील के लिये विशेष इजाजत नहीं देगा।[1]

निर्णयों या आदेशों पर पुनर्विलोकन का अधिकार

उच्चतम-न्यायालय भारत में न्याय का अन्तिम स्थान है। इसके विनिश्चयों की किसी अन्य न्यायालय में अपील नहीं हो सकती है। परन्तु मनुष्य पूर्ण नहीं है। कभी-कभी बुद्धिमान पुरुष भी ऐसा कार्य कर सकता है जो कालान्तर में उसे अनुचित प्रतीत हो। अतः उच्चतम न्यायालय के विनिश्चयों को अशुद्ध होने की सम्भावना से बचाने के लिये संविधान में यह उपबन्ध किया गया है कि इसे अपने द्वारा सुनाये गए निर्णय या दिये गए आदेश पर पुनर्विलोकन का अधिकार होगा। लेकिन उच्चतम न्यायालय की यह शक्ति संसद द्वारा बनाई हुई विधि के उपबन्धों तथा स्वतः बनाये हुए प्रक्रिया के नियमों के अधीन रहेगी।[2]

संसद द्वारा प्रदत्त लेख इत्यादि निकालने की शक्तियाँ

संसद से विधि द्वारा शक्ति प्राप्त कर उच्चतम न्यायालय विभिन्न प्रयोजनों के लिये ऐसे निर्देश, आदेश, या लेख जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण प्रकार के लेख भी हैं अथवा इनमें से किसी को निकाल सकेगा। मूल-अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिये भी उच्चतम न्यायालय के इस अधिकार को प्रत्याभूत किया गया है। सांविधानिक उपचारों के अधिकार द्वारा ही अन्य मूल अधिकारों की रक्षा हो सकती है। अतः उच्चतम न्यायालय को मूल-अधिकारों के प्रवर्तन तथा अन्य प्रयोजनों के लिये लेखादि निकाल कर जनता के हितों की रक्षा करने का कार्यभार दिया गया है।

लेख निकालने की शक्ति के अतिरिक्त, संसद विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय को संघ-सूची के विषयों में से किसी के बारे में क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ

---

1 Article 136 2 Article 137

प्रदान कर सकेगी। भारत सरकार और राज्य की कोई सरकार विशेष करार द्वारा इस न्यायालय के क्षेत्राधिकार और शक्तियों में वृद्धि कर सकेगी। इसके अतिरिक्त, संसद उच्चतम न्यायालय को विधि द्वारा ऐसी अनुपूरक शक्तियाँ भी प्रदान कर सकेगी जो उसके क्षेत्राधिकार को अधिक कार्यसाधक (effective) रूप से प्रयोग करने के योग्य बनाये। परन्तु इस प्रकार दी गई शक्तियाँ संविधान के उपबन्धों में से किसी से असंगत नहीं होंगी।[1]

आदेशों को प्रवृत्त कराने की शक्ति :

अपने क्षेत्राधिकार के प्रयोग में उच्चतम न्यायालय ऐसी आज्ञप्ति या आदेश दे सकेगा जैसा कि उसके समक्ष प्रस्तुत किसी मामले में पूर्ण न्याय करने के लिये आवश्यक हो और ऐसी आज्ञप्ति या आदेश भारत में सर्वत्र संसद अथवा राष्ट्रपति द्वारा विहित विधि के अनुसार प्रभावी होंगे। इसके अतिरिक्त, उच्चतम न्यायालय को समस्त भारत के बारे में किसी व्यक्ति को हाजिर कराने के, किन्हीं दस्तावेजों को प्रकट या पेश कराने के, अथवा किसी दण्ड देने के प्रयोजन के लिये आदेश देने की शक्ति होगी। संविधान की भाषा से यह भी स्पष्ट है कि इस न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत के सभी न्यायालयों को बन्धनकारी होगी।[2]

प्रक्रिया के नियम बनाने की शक्ति

संसद द्वारा बनाई गई विधि के उपबन्धों के अधीन रहते हुए उच्चतम न्यायालय समय-समय पर राष्ट्रपति के अनुमोदन से न्यायालय की कार्यप्रणाली और प्रक्रिया के साधारण विनियम के लिये नियम बना सकेगा और इन नियमों में न्यायालय में वृत्ति करने वाले व्यक्तियों के बारे में नियम, अपीलें सुनने की प्रक्रिया के नियम, निर्णयों के पुनर्विलोकन की प्रक्रिया के नियम, फीसों के बारे में नियम, आदि सम्मिलित होंगे। इसके द्वारा बनाये हुए नियम यह भी उपबन्ध कर सकेंगे कि किसी प्रयोजन के लिये बैठने वाले न्यायाधीशों की न्यूनतम संख्या क्या होगी और अकेले न्यायाधीश तथा खंड-न्यायालयों की शक्तियाँ क्या होंगी।

राष्ट्रपति को राय देने की शक्ति

यदि किसी समय राष्ट्रपति को यह प्रतीत हो कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है या होने की संभावना है, जो ऐसे सार्वजनिक महत्व

---

1 Articles 138, 139, & 140
2 Articles 141, & 142

का है कि उस पर उच्चतम न्यायालय की राय प्राप्त करना इष्टवर है तो वह उस प्रश्न को उस न्यायालय के विचारार्थ सौंप सकेगा और उच्चतम न्यायालय ऐसी सुनवाई के पश्चात् जैसी वह उचित समझे राष्ट्रपति को उस पर अपनी राय प्रतिवेदित कर सकेगा। अपने सविधान का यह उपबन्ध अमेरिका के सविधान से भिन्न है क्योंकि वहाँ का प्रेसीडेण्ट उच्चतम न्यायालय के विचारार्थ कोई प्रश्न नहीं सौंपता है और न उच्चतम न्यायालय ही उस पर अपनी राय प्रतिवेदित कर सकता है।

साधारण या विशेष आदेश द्वारा निर्धारित करे। उसके पद की अवधि में इस प्रकार निर्धारित भत्ते इत्यादि हटाए नहीं जायेंगे।[1]

शपथ ग्रहण :

प्रत्येक राज्यपाल तथा उसके कृत्यों का निर्वहन करने वाला व्यक्ति अपने पद ग्रहण करने से पूर्व उस राज्य के सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार रखने वाले उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के अथवा उसकी अनुपस्थिति में उस न्यायालय के प्राप्य अग्रतम न्यायाधीश के समक्ष शपथ या प्रतिज्ञान करेगा और उस पर अपने हस्ताक्षर करेगा। राजप्रमुख यह शपथ या प्रतिज्ञान उस राज्य के उच्च न्यायालय के प्रमुख न्यायाधिपति की अनुपस्थिति में ऐसी अन्य रीति से करेगा जैसी कि राष्ट्रपति द्वारा उस सम्बन्ध में निर्धारित की जाये।[2]

शक्तियाँ और कृत्य

राज्यों के राज्यपाल तथा राजप्रमुख की स्थिति एक वैधानिक प्रधान की सी रखी गई है। सविधान में यह उपबन्ध है कि जिन कार्यों में राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को स्वविवेक से कार्य करने की अपेक्षा है उनको छोड़कर अन्य कृत्यों के निर्वहन में वे एक मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा तथा सहायता से कार्य करेंगे। यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से राज्य की विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी होगी। अत. यह सुनिश्चित प्रतीत होता है कि राज्यों के प्रशासन का स्वरूप बहुत कुछ इङ्गलैण्ड की परम्परा के अनुसार रहेगा। फिर भी, सविधान में राज्यपाल तथा राजप्रमुख की शक्तियाँ निर्दिष्ट की गई हैं जिनको चार भागों में विभाजित किया जा सकता है, कार्यकारिणी, विधायिनी, वित्तीय एव न्यायिक।

(१) कार्यकारिणी शक्तियाँ :

राज्यपाल तथा राजप्रमुख अपने राज्यों में शासन के प्रधान होंगे। उनकी कार्यकारिणी शक्ति का विस्तार उन विषयों तक होगा जिनके बारे में उन राज्यों के विधान-मडल को विधि बनाने की शक्ति होगी। परन्तु समवर्ती विधायिनी सूची के बारे में, जिसके लिये राज्य के विधान-मण्डल तथा ससद् दोनों को ही विधि बनाने की शक्ति है, राज्य की कार्यपालिका शक्ति, सविधान द्वारा या ससद् द्वारा बनाई हुई किसी विधि के द्वारा सघ या उसके अधिकारियों को दी हुई शक्ति के अधीन रह कर ही प्रयुक्त होगी। मुख्य,

1 Articles 158 (3) & (4) & 238 (4)
2 Articles 159 & 238 (5)

मन्त्री की नियुक्ति अपने-अपने राज्य में राज्यपाल अथवा राजप्रमुख करेंगे और अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति भी मुख्य मन्त्रियों की मन्त्रणा से वे ही करेंगे। राज्य की सरकार की समस्त कार्यपालिका कार्यवाही राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के नाम से की हुई कही जायगी। वे ही राज्य की सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किये जाने के लिये तथा उक्त कार्य के मन्त्रियों के बीच बँटवारे के लिये नियम बनायेंगे। उनके नाम से दिये गये आदेशों या अन्य लिखतों का प्रमाणीकरण (authentication) उस रीति से किया जायगा जो उनके द्वारा बनाये गए नियमों में उल्लिखित हो और इस प्रकार प्रमाणीकृत किसी आदेश या लिखत की मान्यता पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जायगी कि वह राज्यपाल अथवा राजप्रमुख द्वारा दिया हुआ या निष्पादित आदेश नहीं है। इस प्रकार राज्य की कार्यपालिका कार्यवाही में राज्यपाल और राजप्रमुख का विशेष महत्व रहेगा।[1]

(२) विधायिनी शक्तियाँ :

राज्यपाल तथा राजप्रमुख को राज्य के विधान-मण्डल तथा विधि निर्माण से सम्बन्धित विस्तृत शक्तियाँ प्राप्त हैं। संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए वे सदनों को अथवा किसी सदन को ऐसे समय तथा स्थान पर जिसे वे उचित समझें अधिवेशन के लिये आहूत कर सकेंगे; सदन या सदनों का सत्रावसान कर सकेंगे तथा विधान-सभा का विघटन कर सकेंगे। जब राज्य की विधान-सभा द्वारा, अथवा विधान-परिषद् वाले राज्य में विधान-मण्डल के दोनों सदनों द्वारा, कोई विधेयक पास कर दिया गया हो तो वह यथास्थित राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के समक्ष उनकी अनुमति के लिये उपस्थित किया जायेगा। वे यह घोषित करेंगे कि वह विधेयक पर या तो अनुमति देते हैं या अनुमति को रोक लेते हैं और या विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर लेते हैं। यदि वह धन-विधेयक नहीं है तो राज्यपाल अथवा राजप्रमुख अनुमति के लिये अपने समक्ष रखे गये विधेयक को, सदन अथवा सदनों को इस सदेश के साथ लौटा सकेंगे कि सदन या दोनों सदन विधेयक पर अथवा उसके किन्हीं उल्लिखित उपबन्धों पर पुनर्विचार करें तथा विशेषतः किन्हीं ऐसे संशोधनों की वाञ्छनीयता पर विचार करें जिनकी उन्होंने अपने संदेश में सिफारिश की हो। परन्तु यदि इस प्रकार लौटाया गया विधेयक सदन या दोनों सदनों द्वारा संशोधन रहित या सहित पुनः पास हो जाता है तो फिर यथास्थित राज्यपाल अथवा राजप्रमुख उस पर अनुमति न रोकेंगे। उनको

1 Articles 162, 163, 164 & 166

यह भी शक्ति होगी कि वे कुछ विधेयकों को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर लें।

राज्यपाल अथवा राजप्रमुख राज्य के विधान-मण्डल में उस समय लम्बित किसी विधेयक विषयक अथवा अन्य विषयक सन्देश उस राज्य के विधान-मण्डल के सदन अथवा सदनों को भेज सकेंगे और जिस सदन को ऐसा सन्देश भेजा गया हो वह उसके विषय पर यथासम्भव शीघ्र विचार करेगा।

राज्य की विधान-सभा तथा विधान-परिषद् वाले राज्य में विधान-मण्डल के दोनों सदनों के सत्रावसान के समय यदि किसी समय यथास्थित राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को यह समाधान हो जाये कि तुरन्त कार्यवाही करने के लिये उसे बाधित करने वाली परिस्थितियाँ विद्यमान हैं, तो वह ऐसे अध्यादेश जारी कर सकेगा जो उसे परिस्थितियों के लिये आवश्यक प्रतीत हों। ऐसे अध्यादेश का वही बल और प्रभाव होगा जो उनके द्वारा अनुमत राज्य के विधान-मण्डल या विधान-सभा के अधिनियम का होता है। परन्तु सविधान के अनुसार राज्य-पाल अथवा राजप्रमुख राष्ट्रपति के आदेशों के बिना ऐसा कोई अध्यादेश जारी नहीं करेंगे (१) जिसके विषय से सम्बन्धित विधेयक को विधान-सभा या विधान-मण्डल में पुन:स्थापित किये जाने के लिये राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृत आवश्यक हो, या (२) जिसके विषय से सम्बन्धित विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित करना आवश्यक हो, या (३) जिसके विषय से सम्बन्धित कोई अधिनियम तब तक अमान्य हों जब तक राष्ट्रपति के विचारार्थ रखे जाने पर उसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त न हो चुकी हो।

सविधान में यह भी उपबन्ध है कि ऐसा अध्यादेश राज्य की विधान-सभा के समक्ष और जहाँ राज्य में विधान-परिषद् है वहाँ दोनों सदनों के समक्ष रखा जायेगा और विधान-मण्डल के पुन. सम्मेलन होने से छः सप्ताह की समाप्ति पर प्रवर्तन मे नहीं रहेगा बशर्ते कि इससे पहिले ही उसके निरनुमोदन (dispproval) का प्रस्ताव विधान सभा या विधान-मण्डल द्वारा पास न कर दिया जाय। इस विधि के अतिरिक्त यथास्थित राज्यपाल या राजप्रमुख द्वारा किसी भी समय ऐसा अध्यादेश लौटा लिया जा सकेगा।

राज्यपाल अथवा राजप्रमुख विधान सभा को या विधान मण्डल के किसी सदन को, अथवा एक साथ समवेत दोनों सदनों को सम्बोधित कर सकेंगे और इस प्रयोजन के लिये सदस्यों की उपस्थिति की अपेक्षा कर सकेंगे। प्रत्येक सत्र के आरम्भ में वे, विधान सभा को अथवा विधान-परिषद् होने की अवस्था में साथ समवेत सदनों को सम्बोधन करेंगे तथा आह्वान का कारण बतलायेंगे।

वित्तीय शक्तियाँ :

प्रत्येक वित्तीय वर्ष के बारे में, राज्य के विधान मण्डल अथवा सदनों के समक्ष, राज्यपाल अथवा राजप्रमुख उस राज्य की उस वर्ष के लिये अनुमानित प्राप्तियां और व्ययों का विवरण रखवायेंगे जिसे 'वार्षिक-वित्त-विवरण' कहा जायेगा। उनकी सिफारिश के बिना विधान-मण्डल में किसी भी अनुदान की मॉंग न की जायगी और न उनकी सिफारिश के बिना कोई धन-विधेयक या उसका संशोधन विधान-सभा में पुनःस्थापित या प्रस्तावित किया जायेगा। परन्तु किसी कर के घटाने या उत्पादन के लिये उपबन्ध बनाने वाले किसी संशोधन के प्रस्ताव के लिये उनकी सिफारिश की आवश्यकता नहीं होगी। राज्यपाल तथा राजप्रमुख को किसी वर्ष में आवश्यकता पड़ने पर विधान-मण्डल में अतिरिक्त धन की मॉंग उपस्थित कराने की भी शक्ति दी गई है।

न्यायिक शक्तियाँ :

संविधान के अनुच्छेद १६१ में राज्यपाल तथा राजप्रमुख की यह शक्ति निर्दिष्ट है कि जिस विषय पर किसी राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है उस विषय सम्बन्धी किसी विधि के विरुद्ध किसी अपराध के लिये सिद्धदोष किसी व्यक्ति के दण्ड की वे क्षमा, प्रविलम्बन (Reprieve), विराम (Respite) या परिहार (Remission) कर सकेंगे तथा दण्डादेशों का विलम्बन (Suspension) परिहार या लघुकरण भी कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त, राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति में भी यथास्थित राज्यपाल अथवा राज्यप्रमुख के परामर्श का प्रभाव रहेगा। इस प्रकार राज्यों में उच्च न्यायालय के भी गठन तथा कार्यवाही के सम्बन्ध में उन्हें महत्वपूर्ण शक्तियों दी गई हैं।

मन्त्रि-परिषद्

परन्तु जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है संविधान द्वारा राज्यपाल तथा राजप्रमुख को एक वैधानिक प्रधान की स्थिति प्रदान की गई है। यद्यपि उनको विविध प्रकार की शक्तियों प्राप्त हैं तथापि वे उनका प्रयोग मन्त्रि-परिषद् की सहायता एवं मंत्रणा से करेंगे। कुछ ही कार्य ऐसे हैं जिनको वे स्वविवेक से कर सकेंगे और यदि कोई ऐसा प्रश्न उठे कि अमुक कार्य में संविधान के अनुसार उनको स्वविवेक से कार्य करने की आवश्यकता है या नहीं तो इस सम्बन्ध में उनका विनिश्चय अन्तिम होगा। वे ही मुख्य मंत्री तथा उसकी मंत्रणा से

अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करेंगे। परन्तु 'क' वर्ग के उड़ीसा, बिहार और मध्यप्रदेश राज्यों में और 'ख' वर्ग के मध्यभारत राज्य में आदिम-जातियों के कल्याण के लिये भार-साधक एक अतिरिक्त मन्त्री होगा जो साथ-साथ अनुसूचित जातियों और पिछड़े हुए वर्गों के कल्याण का अथवा किसी अन्य कार्य का भी, भार-साधक हो सकेगा। किसी मन्त्री के अपने पद ग्रहण करने में पहिले यथास्थित राज्यपाल अथवा राजप्रमुख उससे पद की और गोपनीयता की शपथें करायेगा। मन्त्रियों के वेतन और भत्ते ऐसे होंगे जैसे समय-समय पर उस राज्य का विधान-मण्डल विधि द्वारा निर्धारित करे और जब तक इसका उपबन्ध न हो पाये उन्हें ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायेंगे जैसे कि संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहिले उस प्रान्त या देशी राज्य के मन्त्रियों को दिये जाते थे।

यह संविधान में स्पष्टतः निर्दिष्ट है कि मन्त्रियों ने राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को कोई मन्त्रणा दी और यदि दी तो क्या दी, इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जाँच नहीं की जायगी और यह कि उनका विधान-सभा के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व होगा। इस अपेक्षा के साथ संविधान का यह उपबन्ध कि मंत्री राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त अपने पद धारण करेंगे, विचित्र प्रतीत होता है। वास्तव में मंत्रियों का पद-ग्रहण विधान-सभा के उसके प्रति विश्वास पर आधारित रहेगा और मन्त्रियों के उसके प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व के कारण यथास्थित राज्यपाल अथवा राजप्रमुख किसी मन्त्री विशेष को उसके पद से हटाने का दुःसाहस कदाचित् ही कर पायेंगे। परन्तु वैसे, कोई मन्त्री जो निरन्तर छः मासों की किसी कालावधि तक राज्य के विधान-मण्डल का सदस्य न रहे वह उस कालावधि की समाप्ति पर मन्त्री न रहेगा।

अध्याय १४

भाग 'क' तथा 'ख' के राज्यों के विधान

संविधान के अनुच्छेद १६८ के अनुसार प्रत्येक राज्य में एक विधान-मण्डल होगा जो भाग 'क' के राज्यों में राज्यपाल, तथा

(१) पंजाब, पश्चिमी बंगाल, बिहार, बम्बई, और उत्तर प्रदेश के प्रान्तों में दो सदनों से और

(२) अन्य राज्यों में एक सदन से, मिलकर बनेगा। और भाग 'ख' के राज्यों में राजप्रमुख तथा :—

(१) मैसूर राज्य में दो सदनों से, और

(२) अन्य राज्यों में एक सदन से मिलकर बनेगा[1]।

जिन राज्यों में विधान-मण्डल के दो सदन हों वहाँ एक विधान-परिषद् और दूसरा विधान-सभा के नाम से ज्ञात होगा और जहाँ केवल एक सदन हो वहाँ वह विधान-सभा के नाम से ज्ञात होगा। परन्तु संसद विधान-परिषद् वाले राज्य में उसकी समाप्ति तथा परिषद् से रहित राज्य में उसके आरम्भ के लिये उपबन्ध कर सकेगी, यदि राज्य की विधान-सभा ने समस्त सदस्य-संख्या के बहुमत से और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों की संख्या के दो तिहाई बहुमत से इस उद्देश्य का संकल्प पास कर दिया हो।

विधान-परिषदों की रचना

संविधान द्वारा परिषद् वाले विभिन्न राज्यों की विधान-परिषद् के सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं की गई है। केवल यही उपबन्ध किया गया है कि किसी राज्य में विधान-परिषद् के सदस्यों की समस्त संख्या चालीस से कम न होगी और न उस राज्य की विधान-सभा के सदस्यों की समस्त संख्या की एक चौथाई से अधिक ही होगी। परन्तु सन् १९५० में पास किये गए "रिप्रेज़ेन्टेशन आफ प्यूपिल्स एक्ट" में यह निर्दिष्ट कर दिया गया है कि विभिन्न राज्यों में

1 Articles 168 & 238

विधान-परिषद् के सदस्यों की सख्या क्या होगी। स्थानाभाव के कारण इसका वर्णन करना अपेक्षित नहीं है।

जब तक ससद विधि द्वारा अन्यथा उपबन्ध न करे तब तक इसकी रचना के प्रयोजन के लिये इसकी समस्त सख्या का :—

(१) तृतीयांश उस राज्य की नगरपालिकाओं तथा जिला मडलियों के सदस्यों और ससद द्वारा उल्लिखित अन्य स्थानीय प्राधिकारियों से मिल कर बने निर्वाचक-मण्डलों से निर्वाचित होगा।

(२) द्वादशांश ($\frac{1}{12}$) उस राज्य में निवास करने वाले ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बने हुए निर्वाचक-मण्डलों से निर्वाचित होगा जो कम से कम तीन वर्ष से किसी भारतीय विश्वविद्यालय के स्नातक हैं अथवा ऐसी योग्यता रखते हैं जो ससद द्वारा स्नातक की योग्यता के तुल्य विहित की गई हैं ;

(३) द्वादशांश ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बने निर्वाचक-मण्डलों द्वारा निर्वाचित होगा जो कम से कम तीन वर्ष से राज्य के भीतर माध्यमिक पाठ शालाओं से अनिम्न स्तर की ऐसी शिक्षा सस्थाओं में पढाने का कार्य कर रहे हैं जैसी कि ससद विधि द्वारा विहित करे ;

(४) तृतीयांश राज्य की विधान-सभा के सदस्यों द्वारा ऐसे व्यक्तियों में से निर्वाचित होगा जो सभा के सदस्य नहीं हैं ; और

(५) शेष सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्देशित किये जायेंगे और ये सदस्य ऐसे होंगे जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन तथा सामाजिक सेवा के बारे में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव होगा।[1]

सदस्यता के लिये अर्हता

विधान-परिषद् में किसी स्थान की पूर्ति के लिये चुने जाने के लिये कोई व्यक्ति अर्ह न होगा जब तक कि वह (१) भारत का नागरिक न हो; (२) कम से कम तीस वर्ष की आयु का न हो और (३) ऐसी अन्य अर्हताएँ न रखता हो जो संसद द्वारा किसी विधि के अधीन विहित की जायें।[2]

कालावधि एव पदाधिकारी :

विधान-परिषद् का विघटन न होगा, परन्तु उसके सदस्यों में से एक तिहाई सदस्य प्रत्येक द्वितीय वर्ष की समाप्ति पर, ससद द्वारा बनाये गए नियमों के अनुसार, यथासम्भव शीघ्र निवृत हो जायेंगे। इस प्रकार यह एक स्थायी सदन होगा और इसके सदस्यों की कार्यावधि साधारणत ६ वर्ष होगी।[3]

---

1 Article 171 2 Article 173
3 Article 172

प्रत्येक विधान-परिषद् समवेत होने पर यथासम्भव शीघ्र अपने दो सदस्यों को क्रमशः अपना सभापति और उपसभापति चुनेगी और जब-जब इनमें से किसी का पद रिक्त हो तो वह किसी अन्य सदस्य को यथास्थित सभापति या उपसभापति चुनेगी।[1] इन पदों को धारण करने वाला प्रत्येक सदस्य (१) परिषद् का सदस्य न रहने पर अपना पद रिक्त कर देगा ; (२) किसी भी समय एक-दूसरे को सम्बोधित हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा पद त्याग सकेगा और (३) परिषद् के समस्त सदस्यों के बहुमत से पास किये गए संकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकेगा। लेकिन खण्ड (३) में वर्णित संकल्प परिषद् में तब तक प्रस्तावित न किया जावेगा जब तक कि उसके प्रस्तावित करने के अभिप्राय की कम से कम चौदह दिन की सूचना न दे दी गई हो।[2]

जब सभापति का पद रिक्त हो तो उपसभापति और यदि उपसभापति का पद रिक्त हो तो विधान-परिषद् का सदस्य जिसे राज्यपाल या राज्यप्रमुख उस प्रयोजन के लिये नियुक्त करे, उस पद के कर्त्तव्यों का पालन करेगा। विधान-परिषद् की किसी बैठक में जब सभापति अथवा उपसभापति को अपने पद से हटाने का संकल्प विचाराधीन होगा तो उस संकल्प से प्रभावित पदाधिकारी उपस्थित होने पर भी पीठासीन नहीं होगा, यद्यपि ऐसी स्थिति में उसको परिषद् में बोलने तथा उसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार होगा। ऐसे संकल्प पर तथा परिषद् की कार्यवाहियों में किसी अन्य विषय पर उसे प्रथमतः मत देने का हक होगा किन्तु मत साम्य की दशा में वे मतदान नहीं करेंगे।[3]

विधान-परिषद् के सभापति तथा उपसभापति को दिये जाने वाले वेतन और भत्ते राज्य का विधान-मण्डल विधि द्वारा नियत करेगा।[3]

विधान-सभा की रचना

विधान-सभा प्रत्येक राज्य में प्रत्यक्ष निर्वाचन से चुने हुए सदस्यों से मिलकर बनेगी। इसके सदस्यों की संख्या किसी भी राज्य में पांच सौ से अधिक या साठ से कम न होगी। यह ज्ञातव्य है कि इसमें प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र (Territorial Constituency) का प्रतिनिधित्व उस निर्वाचन क्षेत्र की जन-संख्या के आधार पर होगा और आसाम, शिलॉंग तथा कटक के स्थान को छोड़कर जनता का प्रतिनिधित्व जनसंख्या के प्रत्येक पचहत्तर हजार के लिये

1 Article 182
2 Article 183
3 Articles 184 & 186

एक से अनधिक प्रतिनिधि के अनुपात से होगा। यद्यपि संविधान में राज्यों की विधान-सभाओं की सदस्य-संख्या निश्चित नहीं की गई है, रिप्रेजेन्टेशन आफ प्यूपिल्स एक्ट (१९५०) में ये संख्या निर्धारित करदी गई हैं।[1]

अनुच्छेद ३३२ में राज्यों की विधान-सभाओं में अनुसूचित जातियों और और अनुसूचित आदिम-जातियों के लिये स्थानों के रक्षण का उपबन्ध किया गया है। इसके अनुसार विधान सभाओं में इन जातियों के लिये रक्षित स्थानों की संख्या का अनुपात स्थानों की समस्त संख्या से वही होगा जो उस राज्य में उन जातियों का सदस्य जन-संख्या से होगा।

ऐसा ही उपबन्ध आंग्ल-भारतीय समुदाय के प्रतिनिधित्व के लिये भी किया गया है। यदि किसी राज्य के राज्यपाल अथवा राजप्रमुख की राय हो कि उस राज्य की विधान-सभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व आवश्यक है और पर्याप्त नहीं है तो उस विधान-सभा में उस समुदाय के जितने सदस्य वह उचित समझे नाम-निर्देशित कर सकेगा।[2]

परन्तु संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष के अन्त में ऐसे सब रक्षणों का अन्त हो जायगा।

सदस्यता के लिये अर्हता :

कोई व्यक्ति किसी राज्य की विधान-सभा में के किसी स्थान की पूर्ति के लिये चुने जाने के लिये अर्ह न होगा जब तक कि —

(१) वह भारत का नागरिक न हो ;

(२) कम से कम पच्चीस वर्ष की आयु का न हो, और

(३) ऐसी अन्य अर्हताएँ न रखता हो जो कि इस बारे में निर्मित किसी विधि के द्वारा या आधीन विहित की जायें।[3]

कालावधि एवं पदाधिकारी :

प्रत्येक राज्य की विधान-सभा यदि पहिले ही विघटित न करदी जाये तो अपने पहिले अधिवेशन की तारीख से पाँच वर्ष तक चालू रहेगी और इससे अधिक नहीं और पाच वर्ष की कालावधि की समाप्ति का परिणाम विधान-सभा का विघटन होगा। परन्तु यदि आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में हो तो संसद विधि द्वारा इस कालावधि को यथेच्छापूर्वक बढ़ा सकेगी, जो एक बार एक वर्ष से अधिक न होगी और किसी अवस्था में भी उद्घोषणा के

1 Article 170 2 Article 333
3 Article 173

प्रवर्तन का अन्त हो जाने के पश्चात् ६ मास की कालावधि से अधिक विस्तृत न होगी।[1]

समवेत होने पर प्रत्येक राज्य की विधान-सभा यथासम्भव शीघ्र अपने दो सदस्यों को अपने अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनेगी और जब-जब इनमें से किसी का पद रिक्त हो तब-तब किसी अन्य सदस्य को यथास्थित अध्यक्ष या उपाध्यक्ष चुनेगी। इन दोनों में से किसी पद को धारण करने वाला सदस्य (१) विधान-सभा का सदस्य न रहने पर अपना पद रिक्त कर देगा (२) किसी भी समय एक दूसरे को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा; और (३) विधान-सभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पास किये गए संकल्प द्वारा असने पद से हटाया जा सकेगा। परन्तु इन पदाधिकारियों में से किसी को पद से हटाने का सकल्प तब तक प्रस्तावित न किया जायेगा जब तक कि उसके प्रस्तावित करने के अभिप्राय की कम से कम चौदह दिन की सूचना न देदी गई हो। यह भी ज्ञातव्य है कि जब कभी विधान सभा का विघटन किया जाये तो विघटन के पश्चात् होने वाले विधान-सभा के प्रथम अधिवेशन के ठीक पहिले तक अध्यक्ष पद को धारण किये रहेगा।[2]

जब अध्यक्ष का पद रिक्त हो तो उपाध्यक्ष और यदि वह भी उपस्थित न हो तो विधान-सभा का ऐसा सदस्य जिसे राज्य-पाल या राजप्रमुख इस प्रयोजन के लिये नियुक्त करे, उस पद के कर्तव्यों का पालन करेगा। विधान-सभा की बैठकों में इन दोनों में किसी के अनुपस्थित होने पर प्रक्रिया के नियमों अथवा सभा द्वारा निर्धारित कोई अन्य व्यक्ति उनके पद का कार्य करेगा।

विधान-सभा की किसी बैठक में यदि अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को अपने पद से हटाने का कोई सकल्प विचाराधीन है तो उससे प्रभावित पदाधिकारी उपस्थित होने पर भी पीठासीन नहीं होगा यद्यपि उसे सभा में बोलने तथा उसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार होगा। ऐसे संकल्प पर अथवा कर्यवाहियों के किसी अन्य विषय पर यथास्थित अध्यक्ष या उपाध्यक्ष प्रथमतः मत दे सकेगा परन्तु मत साम्य होने की दशा में वह मतदान नहीं करेगा। विधान-सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को ऐसे वेतन और भत्ते प्राप्य होंगे जैसे राज्य का विधान-मण्डल विधि द्वारा नियत करे।[3]

---

1 Article 172 2 Article 179
3 Articles 180, 181, 186

विधान-परिषद् और विधान-सभा के सदस्यों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार, उन्मुक्तियाँ और अनर्हताएं

संविधान के उपबन्धों और विधान-मण्डल की प्रक्रिया के विनियामक नियमों और स्थायी आदेशों के अधीन रहते हुए प्रत्येक राज्य के विधान-मण्डल में सदस्यों को वाक्-स्वातन्त्र्य होगा। विधान-मण्डल या उसकी किसी समिति में कही हुई किसी बात अथवा दिये हुए किसी मत के विषय में किसी सदस्य के विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई कार्यवाही न चल सकेगी और न किसी व्यक्ति के विरुद्ध विधान-मण्डल के किसी सदन के अधिकार के द्वारा या अधीन किसी प्रतिवेदन, पत्र, मतों या कार्यवाहियों के प्रकाशन के विषय में इस प्रकार की कोई कार्यवाही चल सकेगी।

अन्य बातों में विधान-मण्डल के सदनों की, उसके सदस्यों और समितियों की शक्तियों, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ ऐसी होंगी जैसी वह विधान-मण्डल समय-समय पर विधि द्वारा परिभाषित करे और जब तक वे इस प्रकार परिभाषित नहीं हो पातीं वे ऐसी होंगी जैसी इङ्गलैण्ड की कामन सभा के सदस्यों को प्राप्त हैं। जिन व्यक्तियों को संविधान के आधार पर विधान-मण्डल के किसी सदन या समिति में बोलने का या उसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार है उन्हें भी उक्त शक्तियों, विशेषाधिकारों और उन्मुक्तियोंका हक होगा।

विधान-परिषद् और विधान-सभा के सदस्यों को देय वेतन और भत्ते राज्य के विधान-मण्डल द्वारा समय-समय पर निर्धारित किये जायेंगे और जब तक इस विषय पर उपबन्ध नहीं बनाया जाता तब तक उन्हें ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायेंगे जैसे कि उस राज्य की विधान सभा के सदस्यों को संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहिले दिये जाते थे। भाग 'ख' में के राज्यों में जब तक इसका उपबन्ध न बने विधान-मण्डल के सदस्यों को ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायेंगे जैसे कि राज्यप्रमुख निर्धारित करे।

राज्य के विधान-मण्डल के प्रत्येक सदन का पृथक साचिविक कर्मचारी वृन्द होगा। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि विधान परिषद् वाले राज्यों में विधान-मण्डल के दोनों सदनों के सम्मिलित पदों का सृजन न हो सकेगा। पृथक सचिवालय होते हुए भी दोनों सदनों के लिये कुछ सम्मिलित पदों की व्यवस्था हो सकती है।[1]

---

1 Articles 194, 195 & 187

अनर्हताएँ :

कोई व्यक्ति एक साथ राज्य के विधान-मण्डल के दोनों सदनों का सदस्य न होगा और जो व्यक्ति दोनों सदनों का सदस्य निर्वाचित हुआ है उसे विधान-मण्डल द्वारा निर्मित विधि के अनुसार एक या दूसरे सदन के स्थान को रिक्त कर देना पड़ेगा।

कोई व्यक्ति एक साथ दो या अधिक राज्यों के विधान-मण्डलों का सदस्य न होगा और यदि कोई व्यक्ति दो या अधिक राज्यों के विधान-मण्डलों का सदस्य चुन लिया जाये तो राष्ट्रपति द्वारा बनाये गए नियमों में उल्लिखित कालावधि की समाप्ति के पश्चात् उसका उन सब राज्यों के विधान-मण्डलों से स्थान रिक्त हो जायेगा, बशर्ते उसने इससे पहिले ही एक राज्य के अतिरिक्त अन्य राज्यों के विधान-मण्डलों से अपना स्थान न त्याग दिया हो।

यदि किसी राज्य के विधान-मण्डल के किसी सदन का कोई सदस्य साठ दिन की कालावधि तक सदन की अनुज्ञा के बिना उसके सब अधिवेशनों से अनुपस्थित रहे तो सदन उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकेगा। परन्तु, ऐसे साठ दिनों की गिनती में ऐसी कालावधि सम्मिलित नहीं की जायगी जिसमें सदन सत्रावसित या निरन्तर चार से अधिक दिनों के लिये स्थागत रहा है।

कोई व्यक्ति किसी राज्य के विधान-मण्डल का सदस्य चुने जाने और सदस्य होने के लिये अनर्ह होगा—

(१) यदि वह भारत सरकार अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन, ऐसे पद को छोड़कर जिसे धारण करने वाले का राज्य के विधान-मण्डल की किसी विधि के अनुसार अनर्ह न घोषित कर दिया गया हो, कोई लाभ का पद धारण किये हुए है ;

(२) यदि वह विकृतचित्त है और सक्षम न्यायालय की ऐसी घोषणा विद्यमान है ;

(३) यदि वह अनुन्मुक्त दिवालिया है ;

(४) यदि वह भारत का नागरिक नहीं है अथवा किसी विदेशी राज्य की नागरिकता को स्वेच्छा से अर्जित कर चुका है और या किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा या अनुषक्ति को स्वीकार किये हुए है ; या

(५) यदि वह संसद निर्मित किसी विधि के द्वारा इस प्रयोजन के लिये अनर्ह कर दिया गया है।

यह स्मरणीय है कि यदि कोई व्यक्ति भारत सरकार का अथवा किस

राज्य का मन्त्री है तो वह लाभ का पद धारण करने वाला नहीं समझा जायगा।

उपर्युक्त अनर्हताओं में से किसी का भागी हो जाने पर विधान-मण्डल के सदस्य का स्थान रिक्त हो जायगा। यदि कोई प्रश्न उठता है कि ऐसा कोई सदस्य इन अनर्हताओं में से किसी का भागी है या नहीं तो वह प्रश्न यथास्थित राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को विनिश्चय के लिये सौंपा जायगा और उसका विनिश्चय अन्तिम होगा, यद्यपि इस सम्बन्ध में उसे निर्वाचन आयोग की राय लेना आवश्यक होगा।

विधान मण्डल के किसी सदन का सदस्य यथास्थित अध्यक्ष या सभापति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना स्थान त्याग सकता है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति सदस्य के रूप में, शपथ-ग्रहण करने से पहिले या यह जानते हुए कि वह किसी अनर्हता का भागी हो गया है, विधान-मण्डल के किसी सदन में बैठता या मतदान करता है तो वह प्रत्येक ऐसे दिन के लिये पाँच सौ रुपये के दण्ड का भागी होगा और यह धन उससे संघ को देय ऋण के रूप में वसूल किया जायगा।[1]

कार्य संचालन एवं साधारण प्रक्रिया[2]

राज्य के विधान-मण्डल के सदनों को प्रति वर्ष कम से कम दो बार अधिवेशन के लिये आहूत किया जायेगा और उनके एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा आगामी सत्र की प्रथम बैठक के बीच ६ मास का अन्तर न होगा।

विधान-मण्डल का प्रत्येक सदस्य अपना स्थान ग्रहण करने से पूर्व यथास्थित राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के या उसके द्वारा इस कार्य के लिये नियुक्त व्यक्ति के समक्ष शपथ लेगा या प्रतिज्ञा करेगा और उस पर हस्ताक्षर करेगा। शपथ इस प्रकार होगी "मैं (अमुक) जो विधान-सभा (या विधान-परिषद्) के लिये सदस्य निर्वाचित (या नाम निर्देशित) हुआ हूँ, ईश्वर की शपथ लेता हूँ (या सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ) कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूँगा तथा जिस पद को मैं ग्रहण करने वाला हूँ, उसके कर्त्तव्यों का श्रद्धापूर्वक निर्वहन करूँगा।"

विधान-मण्डल के सदनों की प्रत्येक बैठक में प्रश्नों का निर्धारण अध्यक्ष या सभापति को छोड़कर उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से किया

---

1 Articles 190 to 193

2 Articles 188, 189, 208 & 210

जायेगा। अध्यक्ष या सभापति प्रथमतः मत नहीं देंगे परन्तु मत साम्य की दशा में उनका निर्णायक मत होगा और वे उसका प्रयोग करेंगे।

सदनों की सदस्यता में कोई रिक्तता होने पर भी किसी सदन को कार्य करने की शक्ति होगी और यदि बाद में यह पता चले कि कोई अनधिकारी व्यक्ति सदन की कार्यवाहियों में उपस्थित था तो इस आधार पर उसकी कार्यवाही अमान्य नहीं होगी।

प्रत्येक सदन के अधिवेशन में सदस्यों की आवश्यक उपस्थिति दस अथवा सदस्यों की समस्त संख्या का दशांश, इनमें जो भी अधिक हो, होगी। यदि किसी अधिवेशन में यह गणपूर्ति न रहे तो अध्यक्ष या सभापति का यह कर्त्तव्य होगा कि वह सदन को स्थगित करदे या अधिवेशन को तब तक विलम्बित करदे जब तक कि गणपूर्ति न हो जाये।

अपनी प्रक्रिया के तथा कार्य सञ्चालन के लिये विधान-मण्डल का कोई सदन नियम बना सकेगा। यथास्थित राज्यपाल अथवा राजप्रमुख भी विधान-सभा के अध्यक्ष तथा विधान-परिषद् के सभापति से परामर्श कर, सदनों में परस्पर सञ्चार सम्बन्धी प्रक्रिया के नियम बना सकेंगे। यह ज्ञातव्य है कि इन विधान-मण्डलों में कार्य राज्य की भाषा या भाषाओं में या हिन्दी और या अंग्रेजी में किया जायेगा। परन्तु सदन का अध्यक्ष या सभापति इन भाषाओं में किसी से भी अपरिचित व्यक्ति को अपनी मातृभाषा में सदन को सम्बोधित करने की अनुज्ञा दे सकेगा। यह उपबन्ध स्मरणीय है कि संविधान के आरम्भ से पन्द्रह वर्ष की कालावधि के पश्चात् "या अंग्रेजी में" शब्द लुप्त समझे जायेंगे बशर्ते कि राज्य का विधान-मण्डल विधि द्वारा अन्यथा उपबन्ध न कर दे।

विधान-प्रक्रिया

साधारण विधेयकों के लिये प्रक्रिया [1]

धन विधेयकों तथा अन्य वित्त विधेयकों के अतिरिक्त, कोई भी विधेयक विधान-मण्डल के किसी सदन में आरम्भ हो सकेगा और विधान-परिषद् वाले राज्य में दोनों सदनों द्वारा तब तक पास किया हुआ नहीं समझा जायगा जब तक कि या तो बिना संशोधन के और या केवल ऐसे संशोधनों के सहित, जो दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत कर लिये गए हैं, दोनों सदनों द्वारा वह स्वीकृत न कर लिया गया हो।

1 Articles 196, 197, 200 & 201

उस विधेयक पर सम्मति देगा, या रोक लेगा और या उसे पुनर्विचार के सन्देश सहित सदन या सदनों को लौटा सकेगा।

धन-विधेयकों के लिये विशेष प्रक्रिया[1] :

धन-विधेयकों के सम्बन्ध में विधान-परिषद् वाले राज्यों में विधान-मण्डल के दोनों सदनों को समान अधिकार नहीं दिये गये हैं। अनुच्छेद १९८ में यह उपबन्ध है कि धन-विधेयक विधान-परिषद् में आरम्भ नहीं किया जायगा किन्तु विधान-सभा से पास हो जाने के पश्चात् उसे परिषद् को उसकी सिफारिशों के लिये पहुँचा दिया जायगा जिसकी प्राप्ति से चौदह दिन की कालावधि में वह उसे लौटा देगी और यह विधान-सभा की इच्छा पर निर्भर है कि वह परिषद् की शिफारिशों में से सब को या किसी को स्वीकार करले।

यदि विधान-सभा परिषद् की शिफारिशों में से किसी को मान लेती है तो वह धन-विधेयक उन शिफारिशों के संशोधन सहित दोनों सदनों से पास हुआ समझा जायगा और यदि वह किसी भी सिफारिश को स्वीकार नहीं करती तो वह उसी रूप में दोनों सदनों द्वारा पास हुआ समझा जायगा जिसमें कि उसे विधान-सभा ने पास किया था।

यदि कोई धन-विधेयक जिसे विधान-सभा ने पास कर परिषद् को उसकी सिफारिशों के लिये पहुँचा दिया है, चौदह दिन की कालावधि में लौटाकर सभा को नहीं भेज दिया जाता तो वह दोनों सदनों द्वारा उसी रूप में पास हुआ समझा जायगा जिसमें कि वह विधान-सभा में पास हुआ था।

धन विधेयक के शीर्षक के लिये किसी विधेयक में निम्नांकित विषयों में किसी से सम्बन्धित कोई उपबन्ध होना चाहिये :

(१) किसी कर का लगाना, समाप्त करना, बदलना या विनियमन ;

(२) राज्य के ऋण या प्रत्याभूति का, या उसके वित्तीय आभारों से सम्बन्धित किसी नियम में संशोधन करने का विनियमन ;

(३) राज्य की संचित निधि अथवा आकस्मिकता-निधि की अभिरक्षा, इनमें धन डालना या निकालना ;

(४) राज्य की सचित-निधि में से धन का विनियोग करना ;

(५) किसी व्यय को राज्य की सचित निधि पर भारित करना या उसकी राशि को बढाना।

(६) राज्य की सचित निधि या लोक-लेखे के लिये धन प्राप्त करना या ऐसे धन की अभिरक्षा या निकासी करना ; या

---

1 Articles 198, 199 & 200

(७) इनमें से किसी का आनुषंगिक कोई विषय।

यदि यह प्रश्न उठता है कि कोई विधेयक धन-विधेयक है या नहीं तो उस पर विधान-सभा के अध्यक्ष का विनिश्चय अन्तिम होगा और जब कोई धन-विधेयक विधान-परिषद् को भेजा जाता है या राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के समक्ष उपस्थित किया जाता है तो उस पर अध्यक्ष के हस्ताक्षर-सहित यह प्रमाण अंकित रहेगा कि वह धन-विधेयक है।

साधारण विधेयक की भांति धन-विधेयक भी दोनों सदनों द्वारा पास हो जाने पर यथास्थित राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के समक्ष रखा जायेगा और वह यह घोषणा करेगा कि वह या तो अनुमति देता है या रोक लेता है और या उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर लेता है। परन्तु धन विधेयक को राष्ट्रपति संशोधन की सिफारिशों सहित पुनर्विचार के लिये नहीं लौटायेगा। यद्यपि यदि उस विधेयक के पास हो जाने पर उच्च न्यायालय की शक्तियों के अल्पीकरण की संभावना है तो वह उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर सकेगा।

वित्तीय विषयों में प्रक्रिया[1]

संघीय-शासन की भाँति, राज्यों की वित्तीय प्रक्रिया भी इस व्यवस्था पर आधारित है। जिस विधेयक के अधिनियमित किये जाने और प्रवर्तन में लाये जाने पर राज्य की संचित निधि से व्यय करना पड़ेगा वह विधेयक राज्य के विधान-मण्डल के किसी सदन द्वारा तब तक पास न किया जायगा जब तक कि उस पर राज्यपाल अथवा राज्यप्रमुख ने सिफारिश न की हो। अत यह उपबन्ध किया गया है कि प्रत्येक वित्तीय वर्ष के बारे में विधान-मण्डल के सदन अथवा सदनों के समक्ष, यथास्थित राज्यपाल अथवा राजप्रमुख उस राज्य की उस वर्ष के लिये अनुमानित प्राप्तियों और व्ययों का विवरण रखवायेगा जिसे संविधान में "वार्षिक-वित्त-विवरण" के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। इस विवरण के व्यय के अनुमानों में (१) राज्य की संचित निधि पर भारित व्यय की पूर्ति के लिये आवश्यक राशियाँ और (२) संचित-निधि में से किये जाने वाले अन्य व्यय की पूर्ति के लिये आवश्यक राशियाँ अलग-अलग दिखाई जायेंगी और उसमें राजस्व-लेखे पर होने वाले व्यय का अन्य व्यय से भेद किया जायगा।

निम्नवर्ती व्यय संविधान के अनुसार प्रत्येक राज्य की संचित निधि पर भारित व्यय होगा :—

1 Article 202, 203, 204 & 3?8

(१) भाग 'क' के राज्यों में राज्यपाल की उपलब्धियाँ और भत्ते तथा उसके पद से सम्बन्धित अन्य व्यय और भाग 'ख' के राज्यों में राज्यप्रमुख के भत्ते तथा उसके पद सम्बन्धी अन्य व्यय जो राष्ट्रपति आदेश द्वारा निर्धारित करे;

(२) विधान-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के तथा विधान-परिषद् होने पर उसके सभापति और उप-सभापति के वेतन और भत्ते;

(३) ऐसे ऋण जिनका दायित्व राज्य पर है;

(४) उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतनों और भत्तों विषयक व्यय;

(५) किसी न्यायालय या मध्यस्थ न्यायाधिकरण के निर्णय, आज्ञप्ति या पचाट के भुगतान के लिये राशियाँ;

(६) संविधान या राज्य के विधान-मण्डल द्वारा इस प्रकार भारित घोषित किया गया कोई अन्य व्यय; उदाहरणार्थ, भाग 'ख' राज्यों में तिरुवाकुर-कोचीन राज्य में ५१ लाख की राशि "देवस्वम् निधि के लिये";

राज्य की संचित निधि पर भारित उपर्युक्त व्यय से सम्बन्धित प्राक्कलन (Estimates) विधान-सभा में मतदान के लिये नहीं रखी जायेंगी, केवल उन पर चर्चा हो सकेगी। परन्तु अन्य व्ययों से सम्बन्धित प्राकलन विधान सभा के समक्ष अनुदान माग के रूप में रखीं जायेंगी और विधान-सभा को अधिकार होगा कि वह किसी माग को स्वीकार या अस्वीकार करे या किसी माग को उसकी राशि कम करके, स्वीकार करे। किन्तु राज्यपाल अथवा राजप्रमुख की सिफारिश के विना किसी अनुदान की माग भी न की जायगी।

विधान-सभा द्वारा अनुदान किये जाने के पश्चात् राज्य की सञ्चित निधि में से उन अनुदानों की तथा सञ्चित विधि पर भारित व्यय की पूर्ति के लिये आवश्यक सब धनों के विनियोग के लिये विधेयक प्रस्तावित किया जायगा जिसमें किसी अनुदान की राशि या सञ्चित निधि की राशि में फेर-फार करने के लिये कोई संशोधन किसी सदन में प्रस्थापित नहीं किया जा सकेगा और साधारणत. विनियोग विधेयक के अधीन धन निकालने के अतिरिक्त और कोई धन न निकाला जायगा।

परन्तु जिस प्रकार राष्ट्रपति को आवश्यकता प्रतीत होने पर विनियोग विधेयक के अतिरिक्त अन्य अनुदानों की माग लोक-सभा के समक्ष रखवाने का अधिकार है उसी प्रकार राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को भी यह अधिकार प्राप्त है कि वे किसी वर्ष में किसी व्यय के लिये निर्धारित राशि को

अपर्याप्त देख कर अनुपूरक या अतिरिक्त अनुदान की मांग विधान-सभा में उपस्थित कर सकेंगे।

शक्तियाँ और अधिकार

संसद की भाँति भाग 'क' तथा 'ख' में के राज्यों के विधान मण्डलों को भी विधि-निर्माण, प्रशासन और राजस्व तथा वित्त सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं। राज्यों की विधायिनी सूची में जो विषय वर्णित हैं उनके सम्बन्ध में नियम बनाने का ये एकाधिकार रखते हैं और समवर्ती विधायिनी सूची के सम्बन्ध में उन्हें संसदीय नियमों के अधीन नियम बनाने का अधिकार है। केवल धन-विधेयकों के सम्बन्ध में विधान-सभा को विशेष अधिकार दिये गए हैं वरन् दोनों सदनों के सदस्यों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार, अन्युक्तियाँ आदि प्राय: एक सी ही हैं।

प्रशासन सम्बन्धी अधिकारों में, वे क्रियाएँ समाविष्ट हैं जिनके द्वारा विधान मण्डल राज्यों की कार्यकारिणी पर नियन्त्रण रख सकते हैं। जिस प्रकार संसद प्रश्नों द्वारा, प्रस्तावकों द्वारा, ऐडजार्नमेन्ट मोशन तथा अविश्वास के प्रस्तावों द्वारा संघीय कार्यकारिणी के कार्यों पर नियन्त्रण रखती है उसी प्रकार विधान मण्डल भी इन अस्त्रों द्वारा राज्यों की कार्यकारिणी पर यथोचित रोक रख सकते हैं।

संसद तथा राज्यों के विधान-मण्डलों की रचना एवं संगठन पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि इन दोनों प्रकार की संस्थाओं की शक्तियाँ और अधिकार अपने-अपने क्षेत्र में प्राय एक सी हैं। अन्तर केवल यह है कि संसद को संविधान में संशोधन की शक्ति है, राज्यों के विधान-मण्डल संविधान में संशोधन नहीं कर सकते हैं।

अध्याय १५

भाग 'क' तथा 'ख' के राज्यों के उच्च-न्यायालय

उच्च न्यायालयो का गठन[1]

भारतीय संघ के प्रत्येक राज्य के लिये एक उच्च न्यायालय होगा। व्यवहार में, नए संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहिले प्रान्तों अथवा देशी राज्यों में जो उच्च न्यायालय क्षेत्राधिकार का प्रयोग कर रहे थे वही अब उस राज्य के लिये नए उच्च न्यायालय समझे जायेंगे।

प्रत्येक उच्च न्यायालय मुख्य न्यायाधिपति और ऐसे अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा जिन्हें राष्ट्रपति समय-समय पर नियुक्त करना आवश्यक समझे। राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति से, उस राज्य के राज्यपाल अथवा राजप्रमुख से तथा उच्च-न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श करके अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करेगा और वह न्यायाधीश साठ वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने तक पद धारण करेगा। उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति करने के लिये वह केवल भारत के मुख्य न्यायाधिपति और उस राज्य के यथास्थित राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के परामर्श से ही कार्य करेगा।

न्यायधीश पद के लिये अर्हताएँ, एव अन्य शर्तें[2]

उच्च-न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिये कोई व्यक्ति तब तक अर्ह न होगा जब तक कि वह (१) भारत का नागरिक न हो; तथा (२) भारत में कम से कम दस वर्ष तक न्यायिक पद धारण न कर चुका हो; या (३) किसी राज्य में के उच्च न्यायालय का अथवा ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम से कम दस वर्ष तक अधिवक्ता न रह

---

1 Articles 214, 216, 217
2 Articles 217, 219, 222 & 238

चुका हो। अधिवक्ता रहने की कालावधि की सगणना में वह समय भी सम्मिलित होगा जिसमें किसी व्यक्ति ने अधिवक्ता (Advocate) होने के पश्चात् न्यायिक पद धारण किया हो। सविधान के प्रारम्भ के बाद यदि कोई व्यक्ति उच्च-न्यायालय के न्यायाधीश का पद धारण कर चुका है तो भारत के किसी न्यायालय में या किसी प्राधिकारी के समक्ष वकालत न कर सकेगा।

इस प्रकार न्यायाधीश होने के लिये प्रत्येक व्यक्ति अपने पद ग्रहण करने से पूर्व उस राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख के अथवा उसके द्वारा इस प्रयोजन के लिये नियुक्त कमीशन के समक्ष शपथ लेगा या प्रतिज्ञा करेगा और उस पर हस्ताक्षर करेगा।

भाग 'क' के राज्यों में प्रत्येक न्यायाधीश को ऐसे भत्तों का तथा अनुपस्थिति छुट्टी के और निवृत्ति वेतन के बारे में ऐसे अधिकारों का हक होगा जैसे कि ससद् विधि द्वारा समय-समय पर निर्धारित करे और जब तक ये निर्धारित न हों तब तक ऐसे भत्ते और अधिकारों का हक होगा जैसे कि सविधान से ठीक पहिले तत्स्थानी प्रान्त के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को देय थे। वास्तविक सेवा में बिताये गए समय के लिये उन्हें निम्नलिखित दर से वेतन दिया जायेगा।

मुख्य न्यायाधिपति	४,००० रुपये
अन्य न्यायाधीश	३,५०० रुपये।

परन्तु यदि किसी मुख्य न्यायाधिपति अथवा न्यायाधीश को सविधान के प्रारम्भ से पहिले इससे अधिक वेतन मिल रहा था तो उसे वेतन के साथ इन दोनों वेतनों के अन्तर का अतिरिक्त धन और दिया जायगा। यदि उसे भारत राज्य क्षेत्र में अपने कर्त्तव्य पालन के लिये कोई यात्रा करनी पड़े तो उसमें किये गए व्यय की पूर्ति के लिये उसे ऐसे भत्ते और यात्रा सम्बन्धी सुविधायें दी जायेंगी जैसी कि राष्ट्रपति समय-समय पर विहित करे। यह भी ज्ञातव्य है कि नियुक्ति के पश्चात् किसी न्यायाधीश के भत्ते और अनुपस्थिति छुट्टी विषयक या निवृत्ति-वेतन विषयक अधिकारों में उसका अलाभकारी कोई परिवर्तन नहीं किया जायगा।

भाग 'ख' के राज्यों में प्रत्येक उच्च-न्यायालय के न्यायाधीश को ऐसे वेतन दिये जायेंगे जैसे कि राष्ट्रपति राजप्रमुख से परामर्श के पश्चात् निर्धारित करे। भत्तों, अनुपस्थिति-छुट्टी के तथा निवृत्ति वेतनों के सम्बन्ध में ऐसे अधिकारों का हक होगा जैसे कि ससद समय-समय पर विधि द्वारा निर्धारित करे और जब तक इसका उपबन्ध न हो तब तक ऐसे भत्तों और अधिकारों का हक

होगा जैसे कि राजप्रमुख के परामर्श के पश्चात् राष्ट्रपति निर्धारित करे। नियुक्ति के पश्चात् उनके इन अधिकारों में भी कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जायगा।

राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श से एक उच्च न्यायालय से दूसरे को किसी न्यायाधीश का स्थानान्तरण कर सकेगा। ऐसे स्थानान्तरित किये गए न्यायाधीश को उस कालावधि में जिसमें कि वह दूसरे न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में कार्य करता है, अपने वेतन के अतिरिक्त अन्य प्रतिकरात्मक भत्तों को पाने का अधिकार होगा जिसकी दर संसद की विधि द्वारा या राष्ट्रपति के आदेश द्वारा नियत की जायगी।

न्यायाधीशों का पद त्याग[1] :

कोई न्यायाधीश राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपने पद को त्याग सकेगा। अन्यथा स्वयं राष्ट्रपति सिद्ध कदाचार अथवा असमर्थता के कारण किसी न्यायाधीश को अपने पद से हटा सकेगा और इस बारे में वही प्रक्रिया लागू होगी जो उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश को पद से हटाने के लिये प्रयुक्त होती है। राष्ट्रपति द्वारा उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त कर दिये जाने अथवा अन्य उच्च न्यायालय को स्थानान्तरित किये जाने पर भी किसी न्यायाधीश का पद रिक्त कर दिया जायेगा।

अन्य उपबन्ध :

जब किसी उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति का पद रिक्त हो अथवा जब मुख्य न्यायाधिपति अनुपस्थित या किसी अन्य कारण से अपने पद के कर्त्तव्यों का पालन करने में असमर्थ हो तो न्यायालयों के न्यायाधीशों में ऐसा एक जिसे राष्ट्रपति इस कार्य के लिये नियुक्त करे, उस पद के कर्त्तव्यों का पालन करेगा।

मुख्य न्यायाधिपति को यह शक्ति होगी कि राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से वह किसी समय भी किसी ऐसे व्यक्ति से, जो उस न्यायालय का या किसी अन्य उच्च न्यायालय में न्यायाधीश रह चुका है, उस राज्य के न्यायाधीश के रूप में बैठने और कार्य करने की प्रार्थना कर सके और इस प्रकार कार्य करने वाले व्यक्ति को उस समय के बारे में उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के समान शक्तियाँ और अधिकारों का हक होगा, यद्यपि वह अन्यथा उस न्यायालय का न्यायाधीश नहीं समझा जायगा।

---

1 Article 217 218 & 224

वर्तमान उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार[1]

संविधान में वर्तमान उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार का पृथक रूप में वर्णन नहीं किया गया है। उनके पिछले क्षेत्राधिकार का निर्धारण किया गया है। तथा, उनको वैसा ही क्षेत्राधिकार प्राप्त है जैसा कि संविधान के प्रारम्भ से पहिले उनके लिये व्यवस्थित था। अनुच्छेद २२५ में निर्दिष्ट है कि किसी वर्तमान उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार, उसमें प्रशासित नियम, उसके न्यायाधीशों की शक्तियाँ तथा उस न्यायालय की नियम बनाने की शक्ति, सदस्यों के अकेले या खंड-न्यायालयों में बैठने के विनियमन करने की शक्ति, वैसी ही रहेगी जैसी कि इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहिले थीं।

परन्तु संविधान के प्रारम्भ से पूर्व उच्च-न्यायालयों का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार न था। अतः अब यह उपबन्ध कर दिया गया है कि राजस्व सम्बन्धी या उसके इकट्ठे करने में आदेशित या किये हुए किसी कार्य सम्बन्धी विषय में उनके प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के प्रयोग पर आगे कोई निर्बन्ध लागू न होगा।

जिस प्रकार उच्चतम न्यायालय नागरिकों के मूल अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए आदेश एवं लेख जारी कर सकता है उसी प्रकार प्रत्येक उच्च-न्यायालय को अपने क्षेत्र में उन अधिकारों में से किसी को प्रवर्तित कराने के लिये या किसी अन्य प्रयोजन के लिये किसी व्यक्ति या अधिकारी के प्रति या समुचित मामलों में सरकार के प्रति परमादेश, बन्दी-प्रत्यक्षीकरण, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा आदि लेख निकालने की शक्ति है। उच्च-न्यायालय की इस शक्ति से उच्चतम न्यायालय की तत्स्थानी शक्ति में कोई कमी नहीं आयेगी। साथ ही यह स्मरणीय है कि उच्च न्यायालय ऐसे लेख और आदेश मूल अधिकारों को प्रवर्तित कराने के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोजन के लिये भी निकाल सकेगा।

प्रत्येक उच्च न्यायालय अपने क्षेत्र में सब न्यायालयों और न्यायाधिकरणों का अधीक्षण करेगा। वह उन न्यायालयों से विवरण मंगा सकेगा, उनकी कार्य-प्रणाली और कार्यवाहियों के लिये साधारण नियम बना सकेगा, प्रपत्रों को विहित कर सकेगा, पदाधिकारियों द्वारा रखी जाने वाली पुस्तकों, प्रविष्टियों और लेखाओं के प्रपत्रों को विहित कर सकेगा और उन फीसों की सारिणियाँ भी स्थिर कर सकेगा जो ऐसे न्यायालयों के शेरीफ (Sheriff) को, लिपिकों को, पदाधिकारियों, न्यायवादियों, अधिवक्ताओं और वकीलों को मिल सकेंगी। परन्तु ऐसे नियम बनाने से पूर्व उच्च-न्यायालय यथास्थित राज्यपाल अथवा

---

1 Articles 225 to 228

राजप्रमुख का अनुमोदन अवश्य ले लेगा और यह भी कि शसस्त्र बलों के किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण पर उच्च-न्यायालय को अधीक्षण की शक्ति न होगी।

यदि किसी समय उच्च न्यायालय को यह समाधान हो जाये कि उसके अधीन न्यायालय में लम्बित किसी मामले में संविधान के निर्वचन का कोई सारवान विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है जिसका निर्धारित होना मामले को निबटाने के लिये आवश्यक है तो वह उस मामले को अपने पास मगा लेगा और या तो उसे स्वयं निबटा सकेगा या उस विधि-प्रश्न का निर्धारण कर मामले को वापिस भेज सकेगा जिसके पश्चात् अधीन-न्यायालय इस निर्णय के अनुसार मामले को निबटाने के लिये आगे की कार्यवाही करेगा।

उच्च-न्यायालय का प्रशासनीय व्यय

न्यायपालिका पर ही मूल अधिकारों की अभिरक्षा करने, कार्यकारिणी द्वारा शक्ति के दुरुपयोग को रोकने तथा स्वतन्त्रता एवं व्यवस्था के बीच संतुलन रखने का कार्यभार है। अतः न्यायाधीशों के वेतन एवं कालावधि इत्यादि संविधान द्वारा निर्धारित करके उच्च-न्यायालयों को स्वच्छन्द बनाने का प्रबन्ध किया गया है। अनुच्छेद २२६ (३) में यह उपबन्ध है कि उच्च-न्यायालय के प्रशासनीय व्यय, जिनमें उसके पदाधिकारियों और सेवकों को या उनके बारे में दिये जाने वाले सब वेतन, भत्ते और निवृत्ति-वेतन सम्मिलित हैं, राज्य की संचित निधि पर भारित होंगे और उस न्यायालय द्वारा ली गई फीसें उस निधि का भाग होंगी।

पदाधिकारी और सेवक[1]

उच्च-न्यायालय के पदाधिकारियों और सेवकों की नियुक्तियाँ न्यायालय का मुख्य न्यायाधिपति या उसके द्वारा निर्दिष्ट उस न्यायालय का अन्य न्यायाधीश या पदाधिकारी करेगा। परन्तु यथास्थित राज्यपाल या राजप्रमुख नियम द्वारा यह अपेक्षा कर सकेगा कि कुछ अवस्थाओं में न्यायालय में पहिले से काम न करने वाले व्यक्तियों की नियुक्ति राज्य-लोक-सेवा आयोग के परामर्श से की जाये। ऐसे पदाधिकारियों और सेवकों की सेवा की शर्तें, विधान-मण्डल के नियमों के अधीन, उस न्यायालय का मुख्य न्यायाधिपति या उसके द्वारा अधिकृत अन्य न्यायाधीश या पदाधिकारी, नियमों द्वारा विहित करेगा और जो नियम वेतन, भत्तों, छुट्टी या निवृत्ति-वेतन से सम्बन्धित होंगे उनके लिये यथास्थित राज्यपाल अथवा राजप्रमुख का अनुमोदन आवश्यक होगा।

---

1 Article 229

अधीन-न्यायालय[1]

न्यायपालिका के महत्वपूर्ण कर्तव्यों के कारण जिलों में अधीन-न्यायालयों को भी प्रशासनीय अधिकारियों के प्रभाव से मुक्त रखा गया है। अनुच्छेद २३३ के अनुसार प्रत्येक राज्य में जिला-न्यायाधीश नियुक्त होने वाले व्यक्तियों की नियुक्ति, उनकी पद स्थापना (Posting) और पदोन्नति उस राज्य के उच्च-न्यायालय के परामर्श से यथास्थित राज्यपाल या राजप्रमुख करेगा।

कोई व्यक्ति जो संघ की या राज्य की सेवा में पहिले से नहीं लगा हुआ है, जिला न्यायाधीश होने के लिये केवल तभी पात्र होगा जब कि वह कम से कम सात वर्षों तक अधिवक्ता या वकील रह चुका हो और उच्च-न्यायालय ने उसकी सिफारिश की हो।

जिला-न्यायाधीशों के अतिरिक्त न्यायिक सेवा में अन्य व्यक्तियों की भर्ती यथास्थित राज्यपाल या राज्यप्रमुख द्वारा, राज्य-लोक-सेवा-आयोग और उस राज्य के उच्च-न्यायालय के परामर्श से उसके द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार की जायगी। उनकी पद-स्थापना और पदोन्नति आदि, जिला-न्यायालयों और अधीन-न्यायालयों का नियन्त्रण उच्च-न्यायालय में विहित होगा। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐसे व्यक्तियों को अपील का वह अधिकार नहीं रहेगा जो उन्हें सेवा की शर्तों का विनियमन करने वाली विधि के अधीन प्राप्त हो और न उच्च-न्यायालय को यह अधिकार होगा कि वह उन व्यक्तियों की सेवा के लिए विधि में निर्धारित शर्तों का अनुसरण न करके उनसे किसी और प्रकार का व्यवहार करे।

संविधान के अनुसार "जिला न्यायाधीश" पदावलि के अन्तर्गत नगर-व्यवहार-न्यायालय (City Civil Court) का न्यायाधीश, अपर जिला-न्यायाधीश (Additional District Judge) संयुक्त, जिला न्यायाधीश, सहायक जिला न्यायाधीश, लघुवाद-न्यायालय (Small Cause Court) का मुख्य न्यायाधीश, मुख्य प्रेसीडेन्सी दण्डाधिकारी, अपर मुख्य-प्रेसीडेन्सी दण्डाधिकारी, सत्र-न्यायाधीश, अपर सत्र-न्यायाधीश और सहायक सत्र-न्यायाधीश भी होंगे। 'न्यायिक सेवा' का अर्थ ऐसी सेवा से होगा जो ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बनेगी जो जिला-न्यायाधीश के पद और उससे निचले अन्य व्यवहार न्यायिक पदों को भरने वाली होगी।

---

1 Articles 233 to 236

अध्याय १६

भाग 'ग' तथा 'घ' राज्यों का प्रशासन

प्रथम अनुसूची के भाग 'ग' में के राज्य निम्नलिखित हैं—अजमेर, कच्छ, कूच-विहार, कुर्ग, त्रिपुरा, दिल्ली, विलासपुर, भोपाल, मनीपुर और हिमाचल प्रदेश। संविधान के अनुच्छेद २३६ के अनुसार इनका प्रशासन राष्ट्रपति द्वारा किया जायगा और वह इस बारे में उस मात्रा तक जितना उचित समझे, अपने द्वारा नियुक्त किये जाने वाले मुख्य आयुक्त (Chief Commissioner) या उप-राज्यपाल के अथवा पड़ौसी राज्य की सरकार के द्वारा कार्य करेगा। परन्तु पड़ौसी राज्य की सरकार के द्वारा कार्य करते समय राष्ट्रपति सम्बन्धित सरकार से परामर्श करेगा और इस प्रकार प्रशासित किये जाने वाले राज्य की जनता के विचारों को निश्चयपूर्वक जान लेगा।

संसद को यह शक्ति प्राप्त है कि मुख्य आयुक्त या राज्यपाल द्वारा प्रशासित भाग 'ग' में के राज्यों में से किसी के लिए वह विधान-मण्डल के रूप में कार्य करने के लिए कोई संस्था बना सकेगी। ऐसी संस्था के सदस्य संसद की इच्छानुसार या तो पूर्णतः नाम-निर्देशित या निर्वाचित और या अंशतः नाम-निर्देशित और अंशत. निर्वाचित होंगे। इसके अतिरिक्त, संसद इन राज्यों के लिए मन्त्रणा-दाताओं को या मन्त्रियों की परिषद् का सृजन और उनके गठन, शक्तियों और कृत्यों को विधि द्वारा निर्धारित कर सकेगी।

भाग 'ग' के राज्यों में उच्च-न्यायालयों के लिए संविधान में यह उपबन्ध किया गया है कि संसद इनमें से किसी राज्य के न्यायालय को उच्च-न्यायालय घोषित कर सकेगी और यदि आवश्यक समझे तो स्वयं ही किसी राज्य में उच्च न्यायालय गठित कर सकेगी। इस प्रकार गठित उच्च-न्यायालयों के सम्बन्ध में वही उपबन्ध लागू होंगे जैसे कि अन्य राज्यों के उच्च न्यायालयों के लिए संविधान में विहित हैं। परन्तु अन्यथा इन राज्यों में किसी न्यायालय का

क्षेत्राधिकार, विधान-मण्डल द्वारा निर्मित नियमों के अधीन, वही रहेगा, जैसा कि वह संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहिले प्रयोग करता था और संसद को उस क्षेत्राधिकार को विस्तृत करने या उसमें कमी करने की शक्ति होगी।

संविधान के आरम्भ के समय कुर्ग राज्य में एक विधान-परिषद् कार्यशील थी। संविधान में इसको बनाये रखने का उपबन्ध किया गया है। अनुच्छेद २४२ के अनुसार जब तक संसद विधि द्वारा कोई अन्यथा उपबन्ध नहीं करती तब तक कुर्ग की विधान परिषद् का गठन, शक्तियाँ और कृत्य वैसे ही होंगे जैसे कि संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहिले थे। उस राज्य में संग्रहीत राजस्व के तथा करों के विषय में प्रबन्ध तब तक अपरिवर्तित रहेंगे जब तक कि राष्ट्रपति आदेश द्वारा इस बारे में अन्यथा उपबन्ध नहीं करता।

परन्तु संविधान के आरम्भ के पश्चात् सन् १९५१ में संसद द्वारा इन राज्यों के प्रशासन से सम्बन्धित एक नया अधिनियम पास कर दिया गया है। इसके अनुसार इन राज्यों में से अधिकांश में उत्तरदायी शासन की स्थापना करदी गई है। संविधान के आरम्भ के समय इन राज्यों के प्रशासन की संस्थायें पूर्णरूप से विकसित नहीं थीं, उनका शासन प्रजातान्त्रिक नहीं था। परन्तु अब कुछ राज्यों में विधान-परिषदों एवं मन्त्रि-मण्डलों की व्यवस्था कर दी गई है और उन पर राष्ट्रपति के विनिश्चय अन्तिम हैं। शेष राज्यों में, जिनमें उत्तरदायी शासन की स्थापना असामयिक थी, केवल मन्त्रणा-परिषद् ही का आयोजन किया गया है।

भाग 'घ' के राज्य और प्रपत्र अनुसूची में अनुल्लिखित अन्य राज्य-क्षेत्र

भाग 'ग' में अन्डमान तथा निकोबार द्वीप समूह सम्मिलित हैं। इनके तथा प्रथम अनुसूची में अनुल्लिखित परन्तु भारत राज्य-क्षेत्र में समाविष्ट राज्य-क्षेत्रों के लिए विशेष उपबन्ध किया गया है। वह यह है कि इनका प्रशासन राष्ट्रपति करेगा और इस सम्बन्ध में उस मात्रा तक जितनी कि वह उचित समझे, अपने द्वारा नियुक्त किये गये मुख्य आयुक्त (Chief Commissioner) या अन्य अधिकारी के द्वारा कार्य करेगा। राष्ट्रपति द्वारा इन क्षेत्रों के लिए बनाये गये नियम का वैसा ही बल और प्रभाव होगा जैसा कि संसद के अधिनियम का होगा और उससे संसद द्वारा निर्मित तथा उस राज्य-क्षेत्र में लागू किसी नियम का निरसन या संशोधन भी हो सकेगा।

अनुसूचित और आदिम क्षेत्रों का प्रशासन

भारत राज्य क्षेत्र के अनुसूचित और आदम जाति क्षेत्र अभी पूर्ण रूप से विकसित नहीं है। अत. आसाम के अतिरिक्त अन्य ऐसे क्षेत्रों के प्रशासन और नियन्त्रण के लिए सविधान की पचम अनुसूची में विशेप उपबन्ध किये गये हैं। जब तक कि वे भाग 'क' तथा 'ख' राज्यों के स्तर पर नहीं आ पाते उनके प्रशासन के सम्बन्ध में उक्त उपबन्ध ही लागू होंगे। आसाम राज्य में के आदिम जाति क्षेत्रों के प्रशासन के लिए षष्ठ अनुसूची के उपबन्ध लागू होंगे। इनके सविस्तार अध्ययन के लिए संविधान की पचम तथा षष्ठ अनुसूची देखना आवश्यक है।